श्रीहरिः

महर्षि-कृष्णद्वैपायनवेदव्यासरचित

महाभारत

सभापर्व

मुरादाबादनिवासि-सनातनधर्मपताका-सम्पादक
(ऋषिकुमार) रामस्वरूपशर्माकृत

हिन्दी भाषानुवाद सहित

THE MAHABHARAT

SABHA PARV

With Hindi Translation
by
(Rishikumar)
Ramswarup Sharma

सनातनधर्म यन्त्रालय
मुरादाबादमें छपा
प्रिंटर और पब्लिशर पण्डित रामस्वरूप शर्मा
द्वितीयावृत्ति
१९१६

श्रीहरि

संक्षिप्त–भूमिका



ह जो महाभारत का सभापर्व अनुवाद सहित प्रकाशित कियाजाता है, इसमें-लोकपालोंकी सभाका वर्णन, राजसूय-यज्ञ, द्यूतक्रीड़ा, सभामें द्रौपदी का केशाकर्षण और वस्त्रहरण आदि, पाण्डवोंका निर्वासन तथा कुन्तीका विलाप आदि सब विषयों का मूल सहित अविकल सरल हिंदीभाषा में अनुवाद है।

प्रियपाठक महाशय! जिस कारणसे अतिविशाल कौरवकुलमें भाई भाइयोंमें परस्पर विरोधकी नींव पड़ी, जिस कारणसे धर्मात्मा युधिष्ठिरने चक्रवर्त्ती राज्यसे भ्रष्ट होकर भार्या और भ्राताओं सहित साधारण मनुष्यकी समान तेरह वर्ष पर्यन्त वनवासमें जीवनयात्राका निर्वाह किया, जिस कारणसे अठारह अक्षौहिणी सेना सङ्ग्रामाग्निमें पतगोंकी समान भस्म होगई, और जिस कारणसे दुर्जय दुर्योधनादि धृतराष्ट्रकुमार जड़मूलसे विनष्ट होगए उसी सकल इतिहासको लेकर महर्षि वेदव्यासजीने कवित्वशक्तिकी पराकाष्ठा दिखाई है, उस सकल अनर्थोंकी मूल करुणारसपूर्ण द्यूतक्रीड़ाका इसमें महर्षि वेदव्यासजी ने रौद्र करुण आदि अनेकों प्रकारकी रसमाधुरीके साथ वर्णन करके अपूर्व कवित्व शक्तिका परिचय दिया है।

यद्यपि सभापर्व और २ पर्वोंकी अपेक्षा बहुत छोटा है, परन्तु इस का अनुवाद करनेमें बहुत ही परिश्रम करना पड़ा है, क्योंकि-इस पर्वमें कूट श्लोक बहुत ही हैं। जो महाशय विशेष मन लगाकर इस पर्वको आदि से अन्तपर्यन्त पढेंगे वह नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्रके पढ़नेका फल पावेंगे तथा मनुष्यदशा समय २ पर बदलती रहती है, एकसी कभी नहीं रहती इस बातको, युधिष्ठिर के विपुल साम्राज्य और जुएके कारण वनवासकी दशाको देखकर भलेप्रकार समझ सकेंगे।

(ऋ० कु०) रामस्वरूपशर्मा
मुरादाबाद

महाभारत सभापर्वकी विषयसूची



सूचना

इस पर्वमें २८० पृष्ठके बाद २८९ पृष्ठ छपे हैं बीचके ८ पृष्ठके अङ्क छूटगये हैं. परन्तु ग्रन्थ कुछ नहीं छूटा है, सिलसिला ठीक है केवल पृष्ठाङ्क लगानेमें भूल होगई है।

॥ श्रीहरिः ॥

महाभारत

सभापर्व्व

नारायणं नमस्कृत्य नरश्चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ वैशम्पायन उवाच । ततोऽब्रवीन्मयः पार्थं वासुदेवस्य सन्निधौ । प्रांजलिः श्लक्ष्णया वाचा पूजयित्वा पुनः पुनः ॥१॥ मय उवाच । अस्मात् कृष्णात् सुसंरब्धात् पावकाच्च दिधक्षतः । त्वया त्रातोऽस्मि कौन्तेय ब्रूहि किं करवाणि ते ॥२॥ अर्जुन उवाच । कृतमेव त्वया सर्वं स्वस्ति गच्छ महासुर । प्रीतिमान् भव मे नित्यं प्रीतिमन्तो वयञ्च ते ॥ ३ ॥ मय उवाच । युक्तमेतत्त्वयि विभो यथात्थ पुरुषर्षभ । प्रीतिपूर्वमहं किंचित्कर्त्तुमि-

---

नारायण, नरोत्तम नर, सरस्वती देवी और व्यासभगवान् को प्रणाम करके जयकीर्त्तन करै। वैशम्पायन बोले, कि-तदनंतर मय दानवहाथ जोड़कर वासुदेवभगवान्के समीप अर्जुनसे बार बार सत्कार और पूजा करके मधुर वाणीमें कहने लगा ॥ १ ॥ मयने कहा, कि- आपने क्रोधमें भरे श्रीकृष्णसे और भस्म करनेको उद्यतहुए अग्निसे मेरी रक्षा की है,इसकारण हे कुन्तीनन्दन ! आज्ञा करो, कि-मैं तुम्हारा क्या उपकार करूं ॥२ ॥ अर्जुनने कहा, कि- हे महासुर ! तुम्हारा सब प्रत्युपकार किया ही हुआ है, तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम अपने स्थानको प्रस्थान करो, तुम हमारे ऊपर सदा प्रसन्न रहना, हम भी तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं ॥ ३ ॥ मयने कहा-हे विभो ! यह बात आपने अपने गौरवके अनुकूल ही कही है परन्तु हे भरतकुलोत्पन्न ! मेरी बहुत ही इच्छा है कि-प्रीतिके

च्छामि भारत ॥ ४ ॥ अहं हि विश्वकर्मा वै दानवानां महाकविः सोऽहं वै त्वत्कृते कर्तुं किञ्चिदिच्छामि पाण्डव ॥ ५ ॥ अर्जुन उवाच । प्राणकृच्छ्राद्विमुक्तं त्वमात्मानं मन्यसे मया । एवं गते न शक्ष्यामि किंचित्कारयितुं त्वया ॥ ६ ॥ नचापि तव सङ्कल्पं मोघमिच्छामि दानव । कृष्णस्य क्रियतां किंचित्तथा प्रतिकृतं मयि ॥ ७ ॥ चोदितो वासुदेवस्तु मयेन भरतर्षभ । मुहूर्तमिव सन्दध्यौ किमयं चोद्यतामिति ॥ ८ ॥ ततो विचिन्त्य मनसा लोकनाथः प्रजापतिः । चोदयामास तं कृष्णः सभा वै क्रियतामिति ॥ ९ ॥ यदि त्वं कर्तुकामोऽसि प्रियं शिल्पवताम्वर । धर्मराजस्य दैतेय यादृशीमिह मन्यसे ॥१०॥ यां कृतां नानुकुर्वन्ति मानवाः प्रेक्ष्य-दत्तकाः । मनुष्यलोके सकले तादृशीं कुरु वै सभाम् ॥ ११ ॥

साथ आपका कुछ उपकार करूँ ॥ ४ ॥ मैं शिल्पकारीमें प्रवीण दानवोंका विश्वकर्मा हूँ केवल आपके गुणोंके अत्यन्त वशीभूत हो कर कुछ कारीगरी करना चाहता हूं ॥५॥ अर्जुन बोले, कि-तुम मेरे द्वारा अपनेको प्राणान्त सङ्कटसे छूटा समझते हो, इसीसे मेरा प्रत्युपकार करना चाहते हो, यह समझकर ही मैं तुमसे कोई भी अपने उपकारका काम नहीं करासकूंगा ॥ ६ ॥ और हे दानव! मैं यह भी नहीं चाहता, कि—तुम्हारी अभिलाषा व्यर्थ हो, अतः तुम श्रीकृष्णजीका कोई काम करदो, उसीसे मानों मेरा प्रत्युपकार होजायगा ॥ ७॥ तब मयने आज्ञा पानेकी इच्छासे श्रीकृष्णजीसे कहा, उन्होंने उसका अधिक आग्रह देखकर आज्ञा देनेके विषयमें क्षणभर चित्तमें विचार किया॥ ८ ॥ तदनन्तर मनमें विचार कर के त्रिलोकीके स्वामी महाराज श्रीकृष्णजीने उससे कहा, कि-तुम एक सभाभवन बनाओ ॥९॥ हे शिल्पकार्यमें प्रवीण दानव! यदि तुमने मेरा परम प्रिय काय करनेका विचार किया है तो तुम महाराज युधिष्ठिरके लिये एक ऐसा सभाभवन बनाओ, कि ॥ १० ॥ मनुष्य उसमें बैठकर भलेप्रकार देखकर भी सकल मनुष्यलोकमें

यत्र दिव्यानभिप्रायान् पश्येमहि कृतांस्त्वया । आसुरान्मानुषाश्चैव सभां तां कुरु वै मय ॥ १२ ॥ वैशम्पायन उवाच । प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं सम्प्रहृष्टो मयस्तदा । विमानप्रतिमाञ्चक्रे पाण्डवस्य शुभां सभाम् ॥ १३ ॥ ततः कृष्णश्च पार्थश्च धर्मराजे युधिष्ठिरे । सर्वमेतत् समावेद्य दर्शयामासतुर्मयम् ॥ १४ ॥ तस्मै युधिष्ठिरः पूजां यथार्हमकरोत्तदा । स तु तां प्रतिजग्राह मयः सत्कृत्य भारत ॥ १५ ॥ स पूर्वदेवचरितं तदा तत्र विशाम्पते । कथयामास दैतेयः पाण्डुपुत्रेषु भारत ॥ १६ ॥ स कालं कञ्चदाश्वस्य विश्वकर्मा विचिन्त्य तु । सभां प्रचक्रमे कर्तुं पाण्डवानां महात्मनाम् ॥१७॥ अभिप्रायेण पार्थानां कृष्णस्य च महात्मनः । पुण्येऽहनि महातेजाः कृतकौतुकमंगलः ॥ १८ ॥ तर्पयित्वा द्विजश्रेष्ठान् पायसेन सह-

उसकी समान दूसरा भवन न बनासकें ॥११॥ हे मय ! जिससभा में हम तुम्हारी बनाईहुई दिव्य, मानुष और आसुर सकल चतुराइयां देखें ॥ १२ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–उससमय मय दानव श्रीकृष्णजीकी आज्ञाको शिरोधार्य करके बड़ी प्रसन्नताके साथ महाराज युधिष्ठिरके लिये विमानकी समान सुन्दर सभा बनाने लगा ॥ १३ ॥ तदनन्तर श्रीकृष्ण और अर्जुनने महाराज युधिष्ठिरके पास जाकर उनसे सब वृत्तान्त कहा और मय दानवको लेजाकर उनको दिखाया ॥ १४ ॥ हे भारत ! तब महाराज युधिष्ठिरने उसका यथोचित सन्मान किया, मयने उस पूजाको सत्कारके साथ ग्रहण किया ॥ १५ ॥ हे भरतकुलोत्पन्न राजन् ! उस शिल्पी मयने पाण्डवोंको दानवोंके विचित्र चरित्र सुनाए ॥ १६ ॥ फिर क्षणभर विश्रामके अनन्तर कुछ विचार करके महात्मा पांडवोंके लिये सभाभवन रचनेका ढंग डाला ॥१७॥ तदनंतर महात्मा कृष्ण और पांडवोंके अभिप्रायके अनुसार उस महातेजस्वी मयने शुभदिनमें माङ्गलिक उत्सव किया ॥१८॥ और सहस्रों ब्राह्मणोंको खीरपाकसे तृप्त करके तथा उनको अनेकों

सशः । धनं बहुविधं दत्त्वा तेभ्य एव च वीर्य्यवान् ॥ १६ ॥ सर्वर्तुगुणसम्पन्नां दिव्यरूपां मनोरमाम् । दशकिष्कुसहस्रां तां मापयामास सर्वतः ॥ २० ॥ छ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभास्थाननिर्णये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच । उषित्वा खाण्डवप्रस्थे सुखवासं जनार्दनः पार्थैः प्रीतिसमायुक्तैः पूजनार्होऽभिपूजितः ॥ १ ॥ गमनाय मतिं चक्रे पितुर्दर्शनलालसः । धर्मराजमथामन्त्र्य पृथां च पृथुलोचनः ॥ २ ॥ ववन्दे चरणौ मूर्ध्ना जगद्वन्द्यः पितृष्वसुः । स तया मूर्ध्न्युपाघ्रातः परिष्वक्तश्च केशवः ॥ ३ ॥ ददर्शानन्तरं कृष्णो भगिनीं स्वां महायशाः । तामुपेत्य हृषीकेशः प्रीत्या वाष्पसमन्वितः ॥ ४ ॥ अर्थ्यं तथ्यं हितं वाक्यं लघुयुक्तमनुत्तरम् । उवाच भगवान् भद्रां सुभद्रां भद्रभाषिणीम् ॥ ५ ॥ तया स्वजनगामीनि

प्रकारका धन देकर वीर्यवान् मयने ॥१९॥ सकल ऋतुओंके गुणोंवाली दिव्यरूप मनोहर सभा बनानेके निमित्त सब ओरसे पाँच सहस्र हाथ चौड़ी भूमि नापली ॥२०॥ प्रथमअध्याय समाप्त ॥

वैशम्पाय कहते हैं, कि, पूजनीय भगवान् कृष्णने प्रीति करने वाले पाण्डवों से पूजित हो कुछदिनों खांडवप्रस्थमें सुखके साथ रहकर ॥१॥ विशालनेत्र कृष्णने पिताके दर्शनके लिये परम उत्सुक होकर जानेका विचार किया और पहिले युधिष्ठिरसे आज्ञा लेकर जगत्के वन्दनीय कृष्णने अपनी फूफी कुन्तीके चरणोंमें शिर नमाकर प्रणाम किया, कुन्तीने उनके मस्तकको सूँघकर छातीसे लगालिया ॥२-३॥ तदनंतर महायशस्वी कृष्ण मिलनेकी इच्छासे अपनी बहिन सुभद्राके पास पहुँचे उसके पास पहुँचकर भगवान्के नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भरआये ॥४॥ उससमय अपनी बहिन सुभद्राको अर्थयुक्त, यथार्थ, हितकारी, संक्षिप्त अखण्डनीय वचनोंमें बहुत कुछ उपदेश दिया, भद्रभाषिणी सुभद्राने भी उनसे माता आदि स्वजनों

भावितो वचनानि सः । संपजितश्चाप्यसकृच्छिरसा चाभिवादितः ॥ ६ ॥ तामनुज्ञाप्य वार्ष्णेयः प्रतिनन्द्य च भामिनीम् । ददर्शानन्तरं कृष्णां धौम्यञ्चापि जनार्दनः ॥ ७ ॥ ववन्दे च यथान्यायं धौम्यं पुरुषसत्तमः । द्रौपदीं सान्त्वयित्वा च आमन्त्र्य च जनार्दनः ॥ ८ ॥ भ्रातॄनभ्यगमद्विद्वान् पार्थेन सहितो बली । भ्रातृभिः पञ्चभिः कृष्णो वृतः शक्र इवामरैः ॥ ९ ॥ यात्राकालस्य योग्यानि कर्माणि गरुडध्वजः । कर्तुकामः शुचिर्भूत्वा स्नातवान् समलंकृतः ॥ १० ॥ अर्चयामास देवांश्च द्विजांश्च यदुपुङ्गवः । माल्यजाप्यनमस्कारैर्गन्धैरुच्चावचैरपि ॥ ११ ॥ स कृत्वा सर्वकार्याणि प्रतस्थे तस्थुपाम्वरः । उपेत्य स यदुश्रेष्ठो बाह्यकक्षां विनिर्गतः ॥ १२ ॥ स्वस्ति वाच्यार्हतो विप्रान्दधिपात्रफलाक्षतैः । वसु प्रदाय च ततः प्रदक्षि-

से कहनेके लिये बहुतसी बातें कहकर बारंबार पूजा करके उनको शिर नमाकर प्रणाम किया ॥ ५-६ ॥ वृष्णिवंशी कृष्णने सराहनाके साथ सुभद्रासे विदा होकर द्रौपदी और धौम्य ऋषिके साथ साक्षात्कार किया ॥ ७ ॥ पुरुषोत्तम कृष्णने यथाविधि धौम्य को प्रणाम किया और द्रौपदीको समझाकर जानेकी आज्ञा ली ८ फिर बली कृष्ण अर्जुनको साथ लियेहुए तहांसे युधिष्ठिर आदि चारों भ्राताओंके पास पहुंचे, तहां भगवान् वासुदेव पांचों भाइयों के बीचमें देवगणोंसे घिरेहुए इंद्रदेवकी समान शोभित हुए ॥ ९ ॥ फिर श्रीकृष्णजीने यात्राके योग्य कार्योंको करनेकी इच्छासे स्नान के अनन्तर शुद्धतापूर्वक आभूषण पहिरकर ॥ १० ॥ पुष्पमाला, जप, नमस्कार और नानाप्रकारके सुगन्धित पदार्थोंसे देवता और ब्राह्मणोंका पूजन किया ॥ ११ ॥ वह यादवश्रेष्ठ कृष्ण क्रमर से उस समयके योग्य सब कार्य करके अपने नगरको जानेके निमित्त बाहरकी ड्योढ़ीमें निकल आये ॥ १२ ॥ स्वस्तिवाचन करनेवाले योग्य ब्राह्मण तहां दहीके पात्र, फल, फूल और अक्षत आदि माङ्गलिक पदार्थ हाथोंमें लिये खड़े थे, वासुदेवने उनको धन देकर प्रदक्षिणा

णमथाकरोत् ॥ १३ ॥ काचनं रथमास्थाय तार्क्ष्यकेतनमाशुगम् । गदाचक्रासिशार्ङ्गाद्यैरायुधैरावृतं शुभम् ॥ १४ ॥ तिथावथ च नक्षत्रे मुहूर्ते च गुणान्विते । प्रययौ पुण्डरीकाक्षः शैब्यसुग्रीववाहनः ॥ १५ ॥ अन्वारुरोह चाप्येनं प्रेम्णा राजा युधिष्ठिरः । अपास्य चास्य यन्तारं दारुकं यन्तृसत्तमम् ॥ १६ ॥ अभीषून् संप्रजग्राह स्वयं कुरुपतिस्तदा । उपारुह्यार्जुनश्चापि चामरव्यजनं सितम् ॥ १७ ॥ रुक्मदण्डं बृहद्बाहुर्विदुधाव प्रदक्षिणम् । तथैव भीमसेनोऽपि यमाभ्यां सहितो बली ॥ १८ ॥ पृष्ठतोऽनुययौ कृष्णमृत्विक्पौरजनैः सह । स तथा भ्रातृभिः सर्वैः केशवः परवीरहा ॥ १९ ॥ अन्वीयमानः शुशुभे शिष्यैरिव गुरुः प्रियैः । पार्थमामन्त्र्य गोविन्दः परिष्वज्य सुपीडितम् ॥ २० ॥ युधिष्ठिरं पूजयित्वा भीमसेनं यमौ तथा । परिष्वक्तो भृशं तैस्तु यमाभ्यामिवा-

---

करी॥१३॥फिर परमोत्तम तिथि नक्षत्र तथा गुणके मुहूर्तमें गदा, चक्र खड्ग,शार्ङ्ग आदि अस्त्रशस्त्रोंसे सजे,गरुडकी ध्वजावाले वायुकी समान, शीघ्रगामी शैब्य सुग्रीव आदि,घोड़ोंसे जुतेहुए सुवर्णके रथमें चढ़कर पुण्डरीकाक्ष भगवान् अपने घरको जाने लगे ॥१४ ॥ १५ ॥ उसी समय स्वयं कुरुपति महाराज युधिष्ठिर प्रेमसे परवश होकर रथपर चढ़गए, और सारथि दारुकको उसके स्थानसे हटाकर १६ आप सारथि बन घोड़ोंकी लगाम हाथमें लेली तब तो महाबाहु अर्जुन भी रथ पर चढ़गए और सुवर्णकी दंडीका, स्वेत चमर हाथमें लेकर प्रदक्षिणापूर्वक डुलानेलगे । तिसीप्रकार नकुल सहदेव और बली भीम भी,ऋत्विज और पुरवासियों सहित पीछेर चलने लगे, शत्रुदलनाशक कृष्ण इसप्रकार अनुगामी हुए युधिष्ठिरादि प्रिय भ्राताओंसे युक्त होकर ऐसे शोभायमान हुए मानो शिष्योंके साथ गुरु जारहे हैं, फिर कृष्णने अर्जुनको हृदयसे लगाकर जानेकी आज्ञा ली ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ और युधिष्ठिरका पूजनकर, भीम तथा नकुल सहदेवसे भी संभाषण

स्थितः ॥ २१ ॥ योजनार्द्धमथो गत्वा कृष्णः परपुरञ्जयः । युधिष्ठिरं समामन्त्र्य निवर्तस्वेति भारत ॥ २२ ॥ ततोऽभिवाद्य गोविन्दः पादौ जग्राह धर्मवित् । उत्थाप्य धर्मराजस्तु मूर्ध्न्युपाघ्राय केशवम् ॥ २३ ॥ पाण्डवो यादवश्रेष्ठं कृष्णं कमललोचनम् । गम्यतामित्यनुज्ञाप्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥ ततस्तैः सम्विदं कृत्वा यथावन्मधुसूदनः । निवर्त्य च तथा कृच्छ्रात् पाण्डवान् सपदानुगान् ॥ २५ ॥ स्वां पुरीं ययौ हृष्टो यथा शक्रोऽमरावतीम् । लोचनैरनुजग्मुस्ते तमादृष्टिपथात्तदा ॥ २६ ॥ मनोभिरभिजग्मुस्ते कृष्णं प्रीतिसमन्वयात् । अतृप्तमनसामेव तेषां केशवदर्शने ॥२७॥ क्षिप्रमन्तर्दधे शौरिश्चक्षुषां प्रियदर्शनः । अकामा एव पार्थास्ते गो-

---

किया, युधिष्ठिर, अर्जुन और भीमने भी हृदय से लगाया तथा नकुल सहदेवने प्रणाम किया ॥ २१॥ तदनंतर क्रम २ से दो कोस पहुँचजाने पर शत्रुनाशक कृष्णने युधिष्ठिरको समझाकर लौटने के लिये कहतेहुए प्रणाम करके उनके दोनो चरण पकड़लिये, धर्मराज युधिष्ठिरने चरणोंमें पड़ेहुए पतितपावन कमललोचन कृष्णको उठाकर माथेमें सूंघा और अपने घरको जानेकी अनुमति दी ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ तब भगवान् कृष्ण पांडवोंसे यथाविधि प्रतिज्ञा करके तथा अपने अनुगामियों सहित पाण्डवोंको बड़ी कठिनतासे लौटाकर ॥ २५ ॥ अमरावतीको जातेहुए इन्द्रकी समान प्रसन्न होतेहुए अपनी नगरी द्वारकाको चलेगये । उस समय पाण्डव जबतक कृष्णका रथ दीखतारहा तबतक नेत्रोंसे उनके पीछे २ गए ॥२६ ॥ जब रथ दृष्टिके बाहर होगया तब मन ही मनमें उनके पीछे २ चलने लगे, कृष्णको देखनेमें उनका मन तृप्त नहीं हो पाया ॥ २७ ॥ परंतु प्रियदर्शन भगवान् शीघ्र ही उनके दृष्टिमार्गसे अन्तर्धान होगए, तबतो पाण्डव कृष्णके दर्शनसे अत्यन्त निराश होकर मनमें उनके विषयका ही चिन्तवन करते-

विन्दगतमानसाः ॥ २८ ॥ निवृत्त्योपययुस्तूर्णं स्वं पुरं पुरुषर्षभाः स्यन्दनेनाथ कृष्णोऽपि त्वरितं द्वारकामगात् ॥ २९ ॥ सात्वतेन च वीरेण पृष्ठतो यायिना तदा । दारुकेण च सूतेन सहितं देवकीसुतः । प्रययौ द्वारकां शौरिर्गरुत्मानिव वेगवान् ॥ ३० ॥ वैशम्पायन उवाच । निवृत्य धर्मराजस्तु सह भ्रातृभिरच्युतः । सुहृत्परिवृतो राजा प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ ३१ ॥ विसृज्य सुहृदः सर्वान् भ्रातॄन् पुत्रांश्च धर्मराट् । मुमोद पुरुषव्याघ्रो द्रौपद्या सहितो नृप ॥ ३२ ॥ वैशम्पायन उवाच । केशवोपि मुदा युक्तः प्रविवेश पुरोत्तमम् । पूज्यमानो यदुश्रेष्ठैरुग्रसेनमुखैस्तथा ॥ ३३ ॥ आहुकं पितरं वृद्धं मातरञ्च यशस्विनीम् । अभिवाद्य बलश्चैव स्थितः कमललोचनः ॥ ३४ ॥ प्रद्युम्नशाम्बनिशठांश्चारुदेष्णं गदं तथा ।

हुए अपने घरको लौट दिये ॥२८॥ वह श्रेष्ठ पाण्डव लौटकर शीघ्र ही अपने नगरमें पहुँचगए, उधर कृष्ण भी रथमें बैठे हुए शीघ्रता के साथ द्वारकाको चलने लगे ॥ २९ ॥ देवकीनन्दन कृष्ण, अनुगामी महावीर सात्वत और दारुक सारथिके साथ वेगवान् गरुड़ की समान शीघ्रही द्वारकापुरीमें जाकर पहुँचगए ॥ ३० ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि भ्राताओं सहित धर्मराज भी मित्रगणोंसे घिरेहुए लौटकर अपने नगरमें आगए ॥ ३१ ॥ वह पुरुषपुंगव सकल मित्र, भ्राता और पुत्रोंको विदा करके द्रौपदीके सहित आनन्दपूर्वक समयको बिताने लगे ॥ ३२ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—इधर श्रीकृष्णजीने भी बड़े आनंदपूर्वक द्वारकापुरीमें प्रवेश किया, यादवोंमें श्रेष्ठ उग्रसेन आदिने उनका पूजन किया ॥ ३३ ॥ कमललोचन कृष्णने नगरमें प्रवेश करके पहिले बूढ़े पिता वसुदेवजी और यशस्विनी माताको प्रणाम किया फिर बलभद्रजीको अभिवादन करके बैठगए ॥ ३४ ॥ भगवान् कृष्ण प्रद्युम्न साम्ब, निशठ, चारुदेष्ण, गद, अनिरुद्ध और भानुको हृदयसे

अनिरुद्धं च भानुं च परिष्वज्य जनार्दनः ॥ ३५ ॥ स वृद्धैरभ्यनुज्ञातो रुक्मिण्या भवनं ययौ ॥ ३६ ॥ ॥

इति सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि भगवद्याने द्वितीयोऽध्यायः

वैशम्पायन उवाच । अथाऽब्रवीन्मयः पार्थमर्जुनं जयतांवरम् । आपृच्छे त्वां गमिष्यामि पुनरेष्यामि चाप्यहम् ॥ १ ॥ उत्तरेण तु कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति । यियक्षमाणेषु पुरा दानवेषु मया कृतम् ॥२॥ चित्रं मणिमयं भाण्डं रम्यं बिन्दुसरः प्रति । सभायां सत्यसन्धस्य यदासीद् वृषपर्वणः ॥ ३ ॥ आगमिष्यामि तद् गृह्य यदि तिष्ठति भारत । ततः सभां करिष्यामि पाण्डवस्य यशस्विनीम् ॥ ४ ॥ मनःप्रह्लादिनीं चित्रां सर्वरत्नविभूषिताम् । अस्ति बिन्दुसरस्युग्रा गदा च कुरुनन्दन ॥ ५ ॥ निहिता भावयाम्येवं

लगाकर वृद्धोंकी आज्ञा ले रुक्मिणीके मन्दिरमें पहुँचे॥३५-३६॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं कि-हे महाराज ! अनन्तर मय दानवने विजय पानेवालोंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार अर्जुनसे कहा, कि-मैं इस समय आपसे आज्ञा लेकर विदा होता हूं, शीघ्र ही लौटकर आऊँगा ॥ १ ॥ पहिले एक समय कैलासके उत्तर भागमें मैनाक पर्वतके समीप दानवोंने यज्ञ करनेकी इच्छा की थी, उन दानवोंके यज्ञमें बिन्दुसरोवरके समीप एक विचित्र मणिमय रमणीय भाण्ड बनाया था, जोकि-सत्यप्रतिज्ञ दानवराज वृषपर्वाकी सभामें रक्खागया था ॥ २ ॥ ३ ॥ हे भारत ! यदि इस समय तक वह नष्ट नहीं हुआ होगा तो उसको लेकर मैं शीघ्र ही आऊंगा तब पाण्डवोंके यशको बढ़ानेवाले सभा भवनको बनाऊँगा ॥ ४ ॥ जो कि-सभा आपके मनको प्रसन्न करने वाली सकल रत्नोंसे शोभित और चित्र होगी, और हे कुरुनन्दन ! बिन्दुसरोवरमें एक उग्र गदा भी रक्खी है ॥ ५ ॥ तीत होता है दानवराज वृषपर्वाने संग्राममें शत्रुओंका संहार

राज्ञा हत्वा रणे रिपून्। सुवर्णविन्दुभिश्चित्रा गुर्वी भारसहा दृढा ॥ ६ ॥ सा वै शतसहस्रस्य सम्मिता शत्रुघातिनी। अनुरूपा च भीमस्य गाण्डीवं भवतो यथा ॥ ७ ॥ वारुणश्च महाशंखो देवदत्तः सुघोषवान्। सर्वमेतत् प्रदास्यामि भवते नात्र संशयः ॥८॥ इत्युक्त्वा सोऽसुरः पार्थं प्रागुदीचीं दिशं गतः। अथोत्तरेण कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति ॥ ९ ॥ हिरण्यशृङ्गः सुमहान्महामणिमयो गिरिः। रम्यं विन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः ॥ १० ॥ दृष्ट्वा भागीरथीं गङ्गामुवास बहुलाः समाः। यत्रेष्टं सर्वभूतानामीश्वरेण महात्मना ॥ ११ ॥ आहृताः क्रतवो मुख्याः शतं भरतसत्तम। यत्र यूपा मणिमयाश्चैत्याश्चापि हिरण्मयाः ॥ १२ ॥ शोभार्थं विहितास्तत्र न तु दृष्टान्ततः कृताः। यत्रेष्ट्वा स गतः सिद्धिं सह-

कर सुवर्णमण्डित शत्रुनाशिनी भारसहा वस अति दृढ़ गदा को विन्दुसरोवरमें धरदिया है ॥ ६ ॥ जैसे गांडीव धनुष आपके योग्य है तैसे ही सौ सहस्र गदाओंकी समान शत्रुओंका संहार करनेवाली वह गदा भीमसेनके योग्य है ॥ ७ ॥ इसके सिवाय वरुणका ग्रहण किया हुआ बड़े शब्दवाला देवदत्त नामक महाशंखभी वहाँ धरा है, मैं यह सब वस्तुएं लाकर निःसन्देह आपको दूंगा ॥ ८ ॥ वह दानव इसप्रकार अर्जुन से कहकर पूर्वोत्तर दिशाकी ओरको गया और कैलाससे उत्तर की ओर मैनाक पर्वत पर जा पहुँचा ॥ ९ ॥ उसके समीप ही मणियोंसे भूषित सुवर्णके शिखरोंवाले एक बड़ेभारी पर्वतको देखा, वहां ही रमणीय विन्दुसरोवर है जहां कि--राजा भगीरथने ॥ १० ॥ भागीरथी गङ्गाका दर्शन पानेके लिये बहुत वर्षोंतक निवास किया था, जहां भूतभावन महात्मा प्रजापतिने अतिउत्तम सौ यज्ञोंसे यजन किया था, जहां कि--मणियोंके खंभे और सुवर्णकी वेदियें दृष्टान्तरूपसे नहीं रक्खीगई हैं किंतु शोभाके लिये बनाईगई हैं स्वर्गपति इन्द्रने वहां ही यज्ञ करके

स्रान्तः शचीपतिः ॥ १३ ॥ यत्र भूतपतिः सृष्ट्वा सर्वान् लोकान् सनातनः । उपास्यते तिग्मतेजाः स्थितो भूतैः सहस्रशः ॥ १४ ॥ नरनारायणौ ब्रह्मा यमः स्थाणुश्च पञ्चमः । उपासते यत्र सत्रं सहस्रयुगपर्य्यये ॥ १५ ॥ यत्रेष्टं वासुदेवेन सत्रैर्वर्षगणान् बहून् । श्रद्दधानेन सततं धर्मसम्प्रतिपत्तये ॥ १६ ॥ सुवर्णमालिनो यूपा-श्चैत्याश्चाप्यतिभास्वरान् । ददौ यत्र सहस्राणि प्रयुतानि च केशवः ॥ १७ ॥ तत्र गत्वा स जग्राह गदां शंखञ्च भारत । स्फाटिकञ्च सभाद्रव्यं यदासीद् वृषपर्वणः ॥१८॥ किङ्करैः सह रक्षोभिर्य-दरक्षन्महद्धनम् । तदगृह्णान्मयस्तत्र गत्वा सर्वं महासुरः ॥१९॥ तदाहृत्य च तां चक्रे सोऽसुरोऽप्रतिमां सभाम् । विश्रुतां त्रिषु लोकेषु दिव्यां मणिमयीं शुभाम् ॥२०॥ गदाञ्च भीमसेनाय प्रददौ प्रवरां तदा । देवदत्तञ्चार्जुनाय शंखमप्रवरमुत्तमम् ॥ २१ ॥ यस्य

सिद्धि पाई थी ॥ ११ ॥१२-१३ ॥ जहां भूतभावन तीक्ष्णतेजा सनातन भगवान् भवानीपति सकल प्रजाओंको रचकर सैंकड़ों सहस्रों भूतोंसे उपासना किये जाते हैं ॥ १४ ॥ जहां नर नारायण ब्रह्मा यम और शिव सहस्र युग बीतजाने पर यज्ञ किया करते हैं ॥ १५ ॥ वासुदेवने धर्मसञ्चय करनेके लिये श्रद्धा के साथ निरन्तर बहुत वर्षोंतक तहां यज्ञोंसे यजन किया था ॥ १६ ॥ जहां भगवान् केशवने सुवर्णकी मालाओंसे शोभित यज्ञस्तंभ और सैंकड़ों सहस्रों चमकती हुई वेदियें दान की थीं ॥१७॥ हे भारत ! उस महासुर मयदानवने वहां पहुँचकर दानव-राज वृषपर्वाके अधिकारमें स्थित स्फटिककी सभा बनानेके योग्य सकल सामग्री महती गदा देवदत्त शङ्ख और सेवक तथा राक्षसोंसे रक्षित सकल धनको लेलिया ॥ १८ ॥ १९ ॥ तद-नन्तर उस सकल सामग्रीको लेकर लौटेहुए मयने त्रिलोकीमें प्रसिद्ध मणिमयी अनुपम दिव्य सभास्थली बनाई ॥ २० ॥ और वह श्रेष्ठगदा भीमसेनको तथा परमोत्तम देवदत्त शंख अर्जुनको

शंखस्य नादेन भूतानि मचकम्पिरे। सभा च सा महाराज शातकुम्भमयद्रुमा ॥ २२ ॥ दशकिष्कुसहस्राणि समन्तादायताभवत् यथावह्नेर्यथार्कस्य सोमस्य च यथा सभा ॥ २३ ॥ भ्राजमाना तथात्यर्थं दधार परमं वपुः। अभिघ्नतीव प्रभया प्रभामर्कस्य भास्वराम् ॥ २४ ॥ प्रबभौ ज्वलमानेव दिव्या दिव्येन वर्चसा। नवमेघप्रतीकाशा दिवमावृत्यधिष्ठिता ॥ २५ ॥ आयता विपुला रम्या विपाप्मा विगतक्लमा। उत्तमद्रव्यसम्पन्ना रत्नप्राकारतोरणा ॥ २६ ॥ बहुचित्रा बहुधना सुकृता विश्वकर्मणा न दाशार्ही सुधर्मा वा ब्राह्मणी वाऽथ तादृशी ॥ २७ ॥ सभारूपेण सम्पन्ना यां चक्रे मतिमान् मयः। तां स्म तत्र मयेनोक्ताः रक्षन्ति च वहन्ति च ॥ २८ ॥ सभामष्टौ सहस्राणि किङ्करा नाम राक्षसाः। अन्त-

देदिया ॥ २१ ॥ जिस शङ्खकी ध्वनि से सकल लोक थर्रा उठते थे और हे महाराज ! उस सभामंदिरमें भी सुवर्णके वृक्ष बनेहुए थे ॥ २२ ॥ वह सभा चारों ओरसे पांच सहस्र हाथ चौड़ी थी वह पाण्डवोंकी सभा अग्निदेव सूर्यदेव वा चन्द्रदेवकी सभाकी समान बड़े भारी आकारको धारण किये अत्यंत शोभायमान थी उसकी प्रभासे सूर्यकी दमकती हुई प्रभा भी अत्यन्त दबरही थी ॥ २३ ॥ २४ ॥ वह दिव्य तेजसे दमकती हुई दिव्यसभा अपने तेजसे मानो जल उठी,नवीन मेघकी समान मानो आकाशको घेरकर स्थित होगयी ॥२५॥ अत्यन्त लंबी चौड़ी रमणीय निर्दोष श्रमनाशक रत्नोंके परकोटे और द्वारवाली उत्तम द्रव्योंसे भरी २ ॥ २६ ॥ अनेको चित्रोंसे शोभित बहुतसे धनसे युक्त गमन व्यापिनी विश्वकर्माकी बनाई यादवोंकी सभा, देवताओंकी सभा या स्वयं ब्रह्माजी की सभा भी तैसी नहीं थी॥ २७ ॥ मय दानवने जिस भवनको सभारूपसे तयार किया मय दानवकी आज्ञाके अनुसार गगनचारी महा घोर महाकाय महाबली लाल २ तथा पीले २ नेत्रों और सीपीकी समान कानों वाले शस्त्रधारी आठ सहस्र किंकर नामक राक्षस उस रमणीय

रिन्नचरा घोरा महाकाया महाबलाः ॥ २६ ॥ रक्ताक्षाः पिङ्गलाक्षाश्च शुक्तिकर्णाः महारिणः । तस्यां सभायां नलिनीं चकाराप्रतिमां मयः ॥ ३० ॥ वैदूर्य्यपत्रविततां मणिनालमयाम्बुजाम् । पद्मसौगन्धिकवतीं नानाद्विजगणायुताम् ॥३१॥ पुष्पितैः पंकजैश्चित्रां कूर्मैर्मत्स्यैश्च कांचनैः । चित्रस्फटिकसोपानां निष्पङ्कसलिलां शुभाम् ॥ ३२ ॥ मन्दानिलसमुद्धूतां मुक्ताविन्दुभिराचिताम् । महामणिशिलापट्टबद्धपर्यन्तवेदिकाम् ॥ ३३ ॥ मणिरत्नचितां तान्तु केचिदभ्येत्य पार्थिवाः । दृष्ट्वापि नाभ्यजानन्त तेऽज्ञानात् प्रपतन्त्युत ॥३४॥ तां सभामभितो नित्यं पुष्पवन्तो महाद्रुमाः । आसन्नाना विधा लीलाः शीतच्छाया मनोरमाः ॥ ३५ ॥ कान-

सभाकी रक्षा और देखभाल करने लगे तथा आवश्यकता होने पर वह उसको एक स्थानसे उठाकर अन्यत्र भी लेजाते थे, मय दानवने उस सभाभवनमें एक अपूर्व सरोवर भी बनाया॥२८॥ ॥२६ ॥ ३०॥ जिसकी चौड़ाईमें वैदूर्यके पत्तर जड़े हुए थे, जिस में मणियोंकी डंडियोंके कमल खिलरहे थे और जलमेंसे कमलों की गंध आरही थी, अनेकों पक्षियोंके समूह उसमें कूजरहे थे ३१ नाना प्रकारके कमल खिलरहे थे, उसमें सुवर्णके बने हुए मच्छ और कछुए पड़े थे, रंगविरंगी बिल्लौरकी सीढ़ियें थीं और उसमें का जल कीचड़रहित निर्मल था ॥ ३२ ॥ उसमें मन्द २ पवनसे तरंगे उठरही थीं, मोतियोंकी बूंदोंसे चिती हुई थीं बहुमूल्य मणियोंकी शिलाओंसे आसपास चौतरी बनीहुई थीं, ॥ ३३ ॥ उसमें चारों ओर मोती और रत्नोंसे चितेहुए सरोवरके समीप आकर भी कोई २ राजे तो उसको सरोवर समझ ही नहीं सकते थे इसकारण धोखा खाकर उसमें गिरपड़ते थे ॥३४॥ उस सभा के दोनों ओर फल फूल और कोमल तथा नये पत्तोंसे शोभायमान सुशीतल, नीलवर्ण, छायावाले, मनोरम नाना प्रकारके ऊंचे २ वृक्षोंकी पंक्तियें लगीहुई थीं ॥ ३५ ॥ अनेकों सुगन्धित बगीचे

नानि सुगन्धीनि पुष्करिण्यश्च सर्वशः । हंसकारण्डवोपेताश्चक्रवाकोपशोभिताः ॥ ३६ ॥ जलजानां च पद्मानां स्थलजानां च सर्वशः । मारुतो गन्धमादाय पाण्डवान् स्म निषेवते ॥ ३७ ॥ ईदृशीं तां सभां कृत्वा मासैः परिचतुर्दशैः । निष्ठितां धर्मराजाय मयो राजन्न्यवेदयत् ॥ ३८॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभानिर्माणे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततः प्रवेशनं तस्यां चक्रे राजा युधिष्ठिरः । अयुतं भोजयित्वा तु ब्राह्मणानां नराधिपः ॥ १ ॥ साज्येन पायसेनैव मधुना मिश्रितेन च । भक्ष्यैर्मूलैः फलैश्चैव मांसैर्वाराहहारिणैः ॥२॥ कृसरेणाथ जीवन्त्या हविष्येण च सर्वशः । मांसप्रकारैर्विविधैः खाद्यैश्चापि तथा नृप ॥३॥ चोष्यैश्च विविधै राजन् पेयैश्च बहुविस्तरैः । अहतैश्चैव वासोभिर्माल्यैरुच्चावचैरपि ॥ ४ ॥ तर्पयामास विप्रेन्द्रान् नानादिग्भ्यः समागतान् । ददौ तेभ्यः सहस्राणि गवां प्रत्येकशः पुनः ॥ ५ ॥ पुण्याहघोषस्तत्रासीत्

और हंस कारण्डव चकवाओंसे शोभित बावड़ियें उस सभाके चारों ओर बनीहुई थीं ॥३६॥ वायु तहांके जलकमल और स्थलकमलोंकी गन्धको लेकर पाण्डवोंकी सेवा करनेलगा ॥ ३७ ॥ मय दानव ने चौदह महीनेमें ऐसी सभा रचकर धर्मराज युधिष्ठिरको उसकी तयारीका समाचार दिया ॥ ३८ ॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥३॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे राजन् ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने घी और शक्करमिली खीर, फल, मूल, वराह और हरिण का मांस, नाना प्रकारके भक्ष्य, चोष्य (चूसनेके) और बहुत प्रकारके पीनेके पदार्थ तथा मिष्टान्नोंसे दश सहस्र ब्राह्मणोंको भोजन कराया फिर वस्त्रोंके पूरे थान और थोड़ मूल्यकी तथा बहुमूल्य मालाओंसे तृप्त करके हर एकको एक २ सहस्र गौएं दान दे सभामें प्रवेश किया ॥ १—५ ॥ हे महाराज उस सभामें

दिवस्पृगिव भारत । वादित्रैर्विविधैर्दिव्यैर्गन्धैरुच्चावचैरपि ॥ ६ ॥ पूजयित्वा कुरुश्रेष्ठो दैवतानि निवेश्य च । तत्र मल्ला नटा झल्लाः सूता वैतालिकास्तथा । उपतस्थुर्महात्मानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ७ ॥ तथा स कृत्वा पूजां तां भ्रातृभिः सह पाण्डवः । तस्यां सभायां रम्यायां रेमे शक्रो यथा दिवि ॥८॥ सभायामृषयस्तस्यां पाण्डवैः सह आसते । आसाञ्चक्रु र्नरेन्द्राश्च नानादेशसमागताः ॥ ६ ॥ असितो देवलः सत्यः सर्पमाली महाशिराः । सर्वावसुः सुमित्रश्च मैत्रेय शुनको बलिः ॥ १० ॥ बको दाल्भ्यः स्थूलशिराः कृष्णद्वैपायनः शुकः । सुमन्तुर्जैमिनिः पैलो व्यासशिष्यास्तथा वयम् ॥ ११ ॥ तित्तिरिर्याज्ञवल्क्यश्च ससुतो लोमहर्षणः । अप्सुहोम्यश्च धौम्यश्च अणीमाण्डव्यकौशिकौ॥१२॥ दामोष्णीषस्त्रैवलिश्च पर्णादो घटजानुकः । मौञ्जायनो वायुभक्षः पाराशर्यश्च सारिकः ॥ १३ ॥ बलीवाकः सिलीवाकः सत्यपालः कृतश्रमः । जातूकर्णः

पुण्याहवाचनकी आकाशव्यापी ध्वनि होने लगी, तदनन्तर महाराज युधिष्ठिरने नानाप्रकारके दिव्य बाजे और गन्ध पुष्पादिसे देवताओंकी प्रतिष्ठा करके पूजाकी, सभाभवनमें मल्ल झल्ल नट वैतालिक और बन्दी जनोंने आकर धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिरको प्रसन्न किया ॥ ६ ॥ ७ ॥ तैसे ही भ्राताओं सहित पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर भी देवपूजन करके उस रमणीय सभामें स्वर्गपति इन्द्र की समान विहार करने लगे ॥ ८ ॥ ऋषि लोग पाण्डवोंके साथ सभामण्डपमें बैठे तथा अनेकों देशोंसे आयेहुए राजे भी बैठे ॥ ६ ॥ और असित, देवल, सत्य, सर्प माली, महाशिरा, सर्वावसु, सुमित्र, मैत्रेय, शुनक, बलिबक, दाल्भ्य, स्थूलशिरा, कृष्ण द्वैपायन, शुक, सुमन्तु, जैमिनि, पैल, तित्तिरि, याज्ञवल्क्य, पुत्रसहित लोमहर्षण, अप्सुहोम्य, धौम्य, अणीमाण्डव्य कौशिक दामोष्णीष, त्रैवलि, पर्णाद, घटजानुक, मौञ्जायन, वायुभक्ष, पाराशर्य, सारिक, बलीवाक, सिलीवाक, सत्यपाल, कृतश्रम, जातूकर्ण, शिखावान्

शिखावांश्च आलम्बः पारिजातकः ॥ १४ ॥ पर्वतश्च महाभागो मार्कण्डेयो महामुनिः । पवित्रपाणिः सावर्णो भालुकिर्गालवस्तथा ॥ १५ ॥ जंघाबन्धुश्च रैभ्यश्च कोपवेगस्तथा भृगुः । हरिबभ्रुश्च कौण्डिन्यो बभ्रुमाली सनातनः ॥ १६ ॥ काक्षीवानौषिजश्चैव नाचिकेतोऽथ गौतमः । पैङ्गयो वराहः शुनकः शाण्डिल्यश्च महातपाः ॥ १७ ॥ कुक्कुरो वेणुजङ्घोऽथ कालापः कठ एव च । मुनयो धर्मविद्वांसो धृतात्मानो जितेन्द्रियाः ॥ १८ ॥ एते चान्ये च बहवो वेदवेदाङ्गपारगाः । उपासते महात्मानं सभायामृषिसत्तमाः ॥ १९ ॥ कथयन्तः कथाः पुण्या धर्मज्ञाः शुचयोऽमलाः । तथैव क्षत्रियश्रेष्ठा धर्मराजमुपासते ॥ २० ॥ श्रीमान्महात्मा धर्मात्मा मुञ्जकेतुर्विवर्द्धनः । संग्रामजिद्दुर्मुखश्च उग्रसेनश्च वीर्य्यवान् २१ कक्षसेनः क्षितिपतिः क्षेमकश्चापराजितः । कम्बोजराजः कमठः कम्पनश्च महाबलः । सततं कम्पयामास यवनानेक एव यः॥२२॥ बलपौरुषसम्पन्नान् कृतास्त्रानमितौजसः । यथासुरान् कालकेया-

आलंब, पारिजातक, महाभाग पर्वत, महामुनि मार्कण्डेय, पवित्र पाणि, सावर्ण, भालुकि तथा गालव, जङ्घाबन्धु रैभ्य, कोपवेग तथा भृगु, हरिबभ्रु, कौण्डिन्य, बभ्रुमाली, सनातन, कक्षीवान् औषिज, नाचिकेत, गौतम, पैङ्ग, वराह, शुनक, शाण्डिल्य, महातपा, कुक्कुर, वेणुजङ्घ, कालाप, कठ यह तथा अन्य भी वेदवेदाङ्गके पारगामी धर्मज्ञ जितेन्द्रिय विशुद्धस्वभाव महर्षि और व्यासजीके शिष्य हम सब वहां अतिपवित्र कथाएं कहते हुए महात्मा युधिष्ठिरकी उपासना करने लगे तैसे ही अनेकों श्रेष्ठ क्षत्रिय भी धर्मराजकी उपासना करने लगे ॥ १० ॥ ॥ २० ॥ श्रीमान् महात्मा धर्म शील मुञ्जकेतु विवर्द्धन संग्रामविजयी दुर्मुख, वीर्यवान् उग्रसेन २१ भूमिपति कक्षसेन, किसीसे पराजय न पाया हुआ क्षेमक, कांबोज देशका राजा कमठ, महाबली कम्पन कि जिस अकेलेने ही यवनों को कम्पित करदिया था ॥२२॥ जैसे कि बल पुरुषार्थयुक्त अस्त्र-

न्देवो वज्रधरस्तथा ॥२३॥ जटासुरो मद्रकाणां च राजा कुन्तिः पुलिन्दश्च किरातराजः। तथाङ्गवाङ्गौ सह पुण्ड्रकेण पाण्ड्योड्रराजौ च सहान्ध्रकेण ॥ २४ ॥ अङ्गो वङ्गः सुमित्रश्च शैव्यश्चामित्रकर्षणः। किरातराजः सुमना यवनाधिपतिस्तथा ॥२५॥ चाणूरो देवरातश्च भोजो भीमरथश्च यः। श्रुतायुधश्च कालिङ्गो जयत्सेनश्च मागधः ॥२६॥ सुकर्मा चेकितानश्च पुरुश्चामित्रकर्षणः। केतुमान्वसुदानश्च वैदेहोऽथ कृतक्षणः ॥ २७ ॥ सुधर्मा चानिरुद्धश्च श्रुतायुश्च महाबलः। अनूपराजो दुर्द्धर्षः क्रमजिच्च सुदर्शनः ॥२८॥ शिशुपालः सहसुतः करूषाधिपतिस्तथा। वृष्णीनां चैव दुर्द्धर्षाः कुमारा देवरूपिणः ॥ २९ ॥ आहुको विपृथुश्चैव गदः सारण एव च। अक्रूरः कृतवर्मा च सत्यकश्च शिनेः सुतः ॥ ३० ॥ भीष्मकोऽथाकृतिश्चैव द्युमत्सेनश्च वीर्यवान्। केकयाश्च महेष्वासा यज्ञसेनश्च सौमकिः ॥ ३१ ॥ केतुमान्वसुमांश्चैव कृतास्त्रश्च महा-

धारी परमपराक्रमी कालिकेय नामक असुरोंको वज्रधारी इन्द्रने पराजित किया था ॥ २३ ॥ मद्रकदेशोंका राजा जटासुर कुन्ति-किरातराज पुलिंद तथा अङ्ग वङ्ग पुण्ड्रक अन्ध्रक पांड्य उड्रराज २४ अङ्ग और वङ्गके दूसरे राजे सुमित्र शत्रुघाती शैव्य किरातराज तथा यवनाधिपति सुमना॥२५॥चाणूर देवरात भयानक रथवाला भोज प्रसिद्ध शस्त्रवाला कलिंगदेशका राजा विजयी सेनावाला मगधदेशका राजा ॥ २६ ॥ सत्कर्मी चेकितान शत्रुमर्दन पुरु केतुमान् वसुदान वैदेह कृतक्षण॥२७॥ सद्धर्मी अनिरुद्ध महाबली श्रुतायु किसीसे न दबनेवाला अनूपराज क्रमविजयी सुदर्शन ॥२८॥ पुत्रसहित शिशुपाल करूपदेशका राजा तथा किसीसे दबाव न खानेवाले वृष्णिवंशी देवरूप कुमार ॥ २९ ॥ आहुक विपृथु गद सारण अक्रूर कृतवर्मा शिनिकुमार सत्यक॥ ३० ॥ भीष्मक आकृति वीर्यवान् द्युमत्सेन बड़े धनुर्धारी केकयदेशके राजे यज्ञसेन सोमकि ॥ ३१ ॥ केतुमान् शस्त्र चलानेमें प्रवीण और महा

बलः । एते चान्ये च बहवः क्षत्रिया मुख्यसम्मताः ॥ ३२ ॥ उपासते सभायां स्म कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् । अर्जुनं ये च संश्रित्य राजपुत्रा महाबलाः ॥ अशिक्षन्त धनुर्वेदं रौरवाजिनवाससः ॥ ३३ ॥ तत्रैव शिक्षिता राजन् कुमारा वृष्णिनन्दनाः । रौक्मिणेयश्च साम्बश्च युयुधानश्च सात्यकिः ॥ ३४ ॥ सुधर्मा चानिरुद्धश्च शैब्यश्च नरपुंगवः । धनंजयसखा चात्र नित्यमास्ते स्म तुम्बुरुः ॥ ३५ ॥ उपासते महात्मानमासीनं सप्तविंशतिः । चित्रसेनः सहामात्यो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ गीतवादित्रकुशलाः साम्यतालविशारदाः ॥ ३६ ॥ प्रमाणेऽथ लये स्थाने किन्नराः कृतविश्रमाः । संचोदितास्तुम्बुरुणा गन्धर्वसहितास्तदा ॥ ३७ ॥ गायन्ति दिव्यतानैस्ते यथान्यायं मनस्विनः ॥ पाण्डुपुत्रानृषींश्चैव रमयन्त उपासते ॥ ३८ ॥ तस्यां सभायामासीनाः सुव्रताः सत्यसङ्गराः ॥ दिवीव

बली वसुमान् यह तथा और भी बहुतसे मुख्य मान्य क्षत्रिय सभा में आकर कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिरकी उपासना करते थे, जो सकल महाबली राजकुमार मृगचर्म धारण करके अर्जुनसे धनुर्विद्या सीखे थे ॥ ३१ ॥ ३३ ॥ और हे राजन् ! तहां ही शिक्षा पायेहुए वृष्णिवंशी कुमार रुक्मणीके पुत्र शाम्ब युयुधान सात्यकि ॥ ३४ ॥ सुधर्मा अनिरुद्ध नरपुंगव शैब्य और अर्जुन का मित्र तुम्बुरु यह सब नित्य तिस सभामें आते थे ॥ ३५ ॥ गाने बजानेमें प्रवीण ताल स्वरमें भली प्रकार चतुर मन्त्रीसहित चित्रसेन और सत्ताईस गन्धर्व तथा अप्सरा सभामें बैठेहुए महात्मा युधिष्ठिरकी उपासना करते थे ॥ ३६ ॥ और किन्नर, तुम्बुरुकी आज्ञानुसार यथोचित दिव्य तान लय और विशुद्ध स्वरोंके साथ गानसे पाण्डुकुमार और महर्षियोंको प्रसन्न करके उनकी उपासना करने लगे ॥ ३८ ॥ जैसे देवता ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं तैसे ही उस महती सभामें बैठनेवाले सब लोग सुन्दर नियम और

देवा ब्रह्माणं युधिष्ठिरमुपासते ॥ ३६ ॥
इति सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभाप्रवेशो नाम चतुर्थोऽध्यायः
॥ समाप्तञ्च सभाक्रियापर्व ॥

॥ अथ लोकपालसभाख्यानपर्व ॥

वैशम्पायन उवाच । अथ तत्रोपविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु । महत्सु चोपविष्टेषु गन्धर्वेषु च भारत ॥ १ ॥ वेदोपनिषदां वेत्ता ऋषिः सुरगणार्चितः । इतिहासपुराणज्ञः पुराकल्पविशेषवित् ॥२॥ न्यायविद्धर्मतत्त्वज्ञः षडङ्गविदनुत्तमः । ऐक्यसंयोगनानात्वसमवाय विशारदः ॥ ३ ॥ वक्ता प्रगल्भो मेधावी स्मृतिमान्नयवित्कविः । परापरविभागज्ञः प्रमाणकृतनिश्चयः ॥ ४ ॥ पञ्चावयवयुक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषवित् । उत्तरोत्तरवक्ता च वदतोऽपि बृहस्पतेः ॥ ५ ॥ धर्मकामार्थमोक्षेषु यथावत् कृतनिश्चयः । तथा भुवन

सत्यमतिज्ञाके साथ युधि रकी उपासना करने लगे ॥ ३६ ॥
चतुथ अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥ छ ॥ छ

॥ अथ लोकपाल सभाख्यान पर्व ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि- हे भरतर्षभ ! महाप्रतापी पांडव और गंधर्व उस सभामें बैठेहुए थे कि-उसी समय पारिजात बुद्धिमान् रैवत सौम्य सुमुख धौम्य आदि कितने ही तेजके पुंजरूप ऋषियोंको साथमें लिये परमतेजस्वी देवर्षि नारदजी भूतल पर विचरतेर तहां आपहुंचे वह वेद और उपनिषदोंके ज्ञाता देवगणोंसे पूजित इतिहास पुराणोंमें प्रवीण पहिले कल्पोंको विशेषरूपसे जाननेवाले न्याय और धर्मके तत्त्वज्ञ वेदके छः अङ्गोंके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ नाना प्रकारके परस्परविरुद्ध विधिवाक्योंकी एकवाक्यता करनेमें चतुर अच्छा बोलनेवाले प्रगल्भ मेधावान् स्मरणशील प्रमाणोंके ज्ञाता पवि भले बुरेको अलग २ जाननेमें चतुर प्रमाणोंसे वस्तुओं का निश्चय करनेवाले न्यायके पञ्चावयव वाक्योंके गुणदोषोंको जाननेवाले परमवक्ता बृहस्पतिजीकी बातका भी उत्तर देनेमें समर्थ धर्म-अर्थ-काम-और मोक्षके विषयमें यथावत् निश्चय रखनेवाले

कोपस्य सर्वस्यास्य महामतिः ॥६॥ प्रत्यक्षदर्शी लोकस्य तिर्य्यगूर्ध्वमधस्तथा । सांख्ययोगविभागज्ञो निर्विवित्सुः सुरासुरान्॥७॥ सन्धिविग्रहतत्त्वज्ञस्त्वनुमानविभागवित् । षाड्गुण्यविधियुक्तश्च सर्वशास्त्रविशारदः ॥ ८ ॥ युद्धगान्धर्वसेवी च सर्वत्राप्रतिगस्तथा॥ एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्युक्तो गुणगणैर्मुनिः ॥९॥ लोकाननुचरन् सर्वानागमत्तां सभां नृप । नारदः सुमहातेजा ऋषिभिः सहितस्तदा १० पारिजातेन राजेन्द्र पर्वतेन च धीमता । सुमुखेन च सौम्येन देवर्षिरमितद्युतिः ॥११॥ सभास्थान् पांडवान् द्रष्टुं प्रीयमाणो मनोजवः । जयाशीर्भिस्तु तं विप्रो धर्मराजानमर्चयत् ॥१२॥ तमागतमृषिं दृष्ट्वा नारदं सर्वधर्मवित् । सहसा पांडवश्रेष्ठः प्रत्युत्थायानुजैः सह॥१३॥ अभ्यवादयत प्रीत्या विनयावनतस्तदा । तदर्हमासनं तस्मै सम्प्रदाय यथाविधि । गाश्चैव मधुपर्कञ्च सम्प्रदायार्घ्यमेव च ॥ १४ ॥

इस सकल भुवनकोश और त्रिलोकीमें इधर उधर ऊपर नीचे जो कुछ होता है उसको योगबलसे प्रत्यक्ष देखनेवाले शिष्योंको सांख्य योगके ज्ञानका यथावत् उपदेश करनेकी रीतिके ज्ञाता देव दैत्यों को वैराग्यका उपदेश करनेके अभिलाषी संधिविग्रहके तत्त्वको जाननेवाले अनुमानसे कर्त्तव्य अकर्त्तव्यका विभाग करनेमें चतुर षाड्गुण्य प्रयोगके विषयमें अनुपम, सकल शास्त्रोंमें प्रवीण युद्ध और गानविद्याके सेवी और सर्वत्र गतिवाले थे इनसे तथा और भी बहुतसे गुणसमूहोंसे भूषित थे ॥ ६-११ ॥ देवर्षि नारदजी सभामें बैठेहुए पाण्डवोंको देखकर बड़े प्रसन्न हुए तथा जयके आशीर्वादोंसे धर्मराजकी पूजा और सत्कार किया ॥ १२ ॥ नारदजीको सभामें आये हुए देखकर पांडवश्रेष्ठ धर्मज्ञ युधिष्ठिर अपने छोटे भ्राताओंसहित उठकर खड़े होगये ॥१३॥ और प्रसन्न हो विनयसे नम्र होतेहुए साष्टाङ्ग प्रणाम करके उनके योग्य आसन बैठनेको दे विधिपूर्वक गौ सुवर्ण मधुपर्क अर्घ्य तथा इच्छित वस्तुओंसे उनकी पूजा करी और महर्षि भी युधिष्ठिरसे

अर्चयामास रत्नैश्च सर्वकामैश्च धर्मवित्। तुतोष च यथावच्च पूजां प्राप्य युधिष्ठिरात् ॥१५॥ सोऽर्चितः पांडवैः सर्वैर्महर्षिर्वेदपारगः। धर्मकामार्थसंयुक्तं पप्रच्छेदं युधिष्ठिरम् ॥ १६ ॥ नारद उवाच। कच्चिदर्थाश्च कल्पन्ते धर्मे च रमते मनः। सुखानि चानुभूयन्ते मनश्च न विहन्यते ॥ १७ ॥ कच्चिदाचरितं पूर्वैर्नरदेव पितामहैः। वर्तसे वृत्तिमक्षुद्रां धर्मार्थसहितां त्रिषु ॥ १८ ॥ कच्चिदर्थेन वा धर्मं धर्मेणार्थमथापि वा। उभौ वा प्रीतिसारेण न कामेन प्रबाधसे ॥ १९ ॥ कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतां वर। विभज्य काले कालज्ञः सदा वरद सेवसे ॥२०॥ कच्चिद्राजगुणैः षड्भिः सप्तोपायांस्तथानघ। बलाबलं तथा सम्यक् चतुर्दश परीक्षसे २१ कच्चिदात्मानमन्वीक्ष्य परांश्च जयताम्वर। तथा सन्धाय कर्माणि

यथोचित पूजाको पाकर परम प्रसन्न हुए ॥१४॥ १५॥ इस प्रकार पांडवोंसे पूजितहुए वह वेदपारगामी महर्षि धर्म कामार्थयुक्त वाक्योंमें युधिष्ठिरसे प्रश्न करनेके मिषसे उनको उपदेश देनेलगे ॥ १६ ॥ नारदजीने कहा कि– हे राजन्! तुम्हारे अर्थ तो सिद्ध होते हैं और अर्थचिन्तवन करते हुए क्या धर्म चिन्तवनमें भी मन लगता है? सुखोंके अनुभवमें अत्यन्त आसक्त होकर तुमने मन को एक साथ दूषित तो नहीं करडाला ॥ १७ ॥ हे नरदेव! धर्म अर्थ और कामका सेवन करनेमें अपने पूर्वपुरुषोंके कियेहुए सज्जनताके वर्त्तावको तो नहीं भूलजाते हो!॥ १८॥ धर्माचरणमें उदासीनता तो नहीं करते हो? धर्मचिन्तवनमें मग्नहुए अर्थचिंतवनको तो सर्वथा नहीं छोड़ बैठते हो! निरन्तर कामरसका स्वाद लेनेपर आपके अर्थमें तो हानि नहीं आती है?॥ १९॥ हे समय के स्वरूपको जाननेवाले विजयशील युधिष्ठिर! धर्म अर्थ कामकी उचित समय पर यथाविधि सेवा तो करते हो? ॥२०॥ हे निष्पाप राजन्! क्या तुम छः राजगुण सात उपाय और अपना तथा शत्रु का बलाबल इन चौदहकी परीक्षा करते हो? ॥ २१ ॥ खेती,

अष्टौ भारत सेवसे ॥ २२ ॥ कच्चित् प्रकृतयः सप्त न लुप्ता भरत-र्षभ । आढ्यास्तथा व्यसनिनः स्वनुरक्ताश्च सर्वशः॥२३॥कच्चिन्न कृतकैर्दूतैर्ये चाप्यपरिशङ्किताः । त्वत्तो वा तव चामात्यैर्भिद्यते मन्त्रितन्तथा॥२४॥मित्रोदासीनशत्रूणां कच्चित् वेत्सि चिकीर्षितम्। कच्चित्सन्धिं यथाकालं विग्रहं चोपसेवसे ॥ कच्चिद् वृत्तिमुदासीने मध्यमे चानुमन्यसे ॥ २५॥ कच्चिदात्मसमा वृद्धाः शुद्धाः सम्बो-धनक्षमाः । कुलीनाश्चानुरक्ताश्च कृतास्ते वीर मन्त्रिणः ॥ २६ ॥ विजयो मन्त्रमूलो हि राज्ञो भवति भारत । कच्चित् संवृतमन्त्रैस्ते अमात्यैः शास्त्रकोविदैः । राष्ट्रं सुरक्षितं तात शत्रुभिर्न विलुप्यते २७ कच्चिन्निद्रावशं नैषि । कच्चित्काले विबुध्यसे । कच्चिच्चापररात्रेषु

व्यापार, किलेको मरम्मत, पुलोंका बनवाना, खर्च और आमदनी को सुनना, नगरके काम देखना और देशको देखना यह आठ प्रकारका राजकार्य क्या तुम अपने और शत्रुओंकी ओरको देख कर तथा कार्योंकी ओर ध्यान देकर करते हो ॥ २२ ॥ तुम्हारी दुर्गपति आदि सात प्रकृति तो कुशलपूर्वक हैं? उनकी सब प्रकार उन्नति तो है उनकी राजभक्तिमें कमी तो नहीं है? वह दुर्व्यसनोंमें लिप्त तो नहीं हैं ॥२३॥ निःशङ्कचित्त और कपटी दूतोंको तुम्हारी या तुम्हारे मंत्रियोंकी काढ़ई सम्मति तो प्रकाशित नहीं होती है ॥ २४॥ शत्रु मित्र और तुमसे उदासीन रहनेवाले पुरुष जो कुछ करना चाहते हैं वह तुम्हें मालूम तो हो जाता है समयानुकूल सधि या युद्ध तो करते हो,उदासीन और मध्यमके साथ तुम मध्यस्थ-भाव तो रखते हो ? ॥२५॥ हे वीर ! तुमने अपने मंत्री तो अपने योग्य वृद्ध शुद्ध स्वभाववाले समझदार कुलीन और प्रेम करने वाले करे हैं ? ॥ २६ ॥ हे भारत ! मंत्रणा विजय पानेका मुख्य हेतु है सो मंत्रको छुपा रखनेवाले शास्त्रके ज्ञाता मंत्रियोंसे तुम्हारा राज्य सुरक्षित तो रहता है? शत्रु चढ़ाई करके वा लूटकर तुम्हारे राज्यको नष्ट तो नहीं करते हैं? ॥२७॥तुम कहीं निद्राके वशीभूत

चिन्तयस्यर्थमर्थवित् ॥ २८ ॥ कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह । कच्चित्ते मन्त्रितो मन्त्रो न राष्ट्रं परिधावति ॥२९॥ कच्चिदर्थान्विनिश्चित्य लघुमूलान्महोदयान् । क्षिप्रमारभसे कर्तुं न विघ्नयसि तादृशान् ॥ ३० ॥ कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ता परोक्षास्ते विशङ्किताः । सर्वे वा पुनरुत्सृष्टा संसृष्टश्चात्र कारणम् ॥३१॥ आप्तैरलुब्धैः क्रमिकैस्ते च कच्चिदनुष्ठिता । कच्चिद्राजन् कृतान्येव कृतप्रायाणि वा पुनः ॥३२॥ विदुस्ते वीर कर्माणि नानवाप्तानि कानिचित् । कच्चित्कारणिका धर्मे सर्वशास्त्रेषु कोविदाः ॥३३॥ कारयन्ति कुमारांश्च योधमुख्यांश्च सर्वशः । कच्चित् सहस्रैर्मूर्खाणामेकं क्रीणासि पण्डितम् ॥ ३४ ॥ पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रे-

तो नहीं रहते ? ठीक समय पर जागते तो हो तुम ? सर्वज्ञ हो अतः रात्रिके पिछले भागमें उचित अनुचितका विचार तो करते हो ॥ २८ ॥ अकेले वा बहुतसोंके साथ बैठकर तो सम्मति नहीं करते हो तुम्हारी मंत्रियोंके साथकी हुई सम्मति राज्यमें फैल तो नहीं जाती ? ॥२९॥ जिनमें परिश्रम कम हो और फल बड़ाभारी हो ऐसे कार्योंका आरंभ शीघ्र ही करदेते हो ना ? आलस्यमें पड़कर उनमें विघ्न तो नहीं डालदेते हो ॥३०॥ किसान लोग आपके परोक्षमें ठीक २ व्यवहार तो करते हैं ? क्योंकि-निःसन्देह प्रभु के ऊपर सच्चा प्रेम हुए बिना ऐसा होना असम्भव है ॥३१॥ विश्वासपात्र निर्लोभ कुलक्रमागत कर्मचारियोंसे काम लेते हो ना? तुम्हारे किये हुए वा किये जातेहुए कार्योंको लोग जान लेते हैं या नहीं ? हे वीरवर ! कार्योंको कोई सिद्ध होनेसे पहिले तो नहीं जान लेते ? आरंभ करनेसे पहिले उन कार्योंकी परीक्षाके लिये धर्मज्ञ शास्त्रमें प्रवीण परीक्षकोंको नियत करते हो या नहीं ॥३२॥३३॥ युद्धविद्यामें प्रवीण वीर पुरुषोंके द्वारा कुमारोंको युद्धकी शिक्षा तो दिलाते हो सहस्रों मूर्खोंके बदलेमें एक पण्डितको तो खरीदते हो ॥ ३४ ॥ क्योंकि-किसी प्रकारकी विपत्ति आपड़ने पर

यसं परम् । कच्चिद्दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः ॥३५॥
यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः । एकोऽप्यमात्यो मेधावी
शूरो दान्तो विचक्षणः ॥३६॥ राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं
श्रियम् । कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च ॥३७॥ त्रिभि-
स्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः । कच्चिद् द्विषामविदितः
प्रतिपन्नश्च सर्वदा ॥ ३८ ॥ नित्ययुक्तो रिपून् सर्वान् वीक्षसे
रिपुसूदन । कच्चिद्विनयसंपन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः ॥ ३९ ॥ अन-
सूयुरसंकीर्णः सत्कृतस्ते पुरोहितः । कच्चिदग्निषु ते युक्तो वि-
धिज्ञो मतिमानृजुः ॥ ४० ॥ हुतञ्च होष्यमाणं च काले वेदयते
सदा । कच्चिदङ्गेषु निष्णातो ज्योतिषः प्रतिपादकः ॥ ४१ ॥
उत्पातेषु च सर्वेषु दैवज्ञः कुशलस्तव । कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव

पण्डित पुरुष अनायासमें ही उसका उपाय कर परम मंगल कर सकता है तुम्हारे किले तो धन धान्य शास्त्र जल अस्त्रोंसे परिपूर्ण रहते हैं? उनमें कारीगर और धनुषधारी सर्वदा सावधानीसे समय तो बिताते हैं ? एक भी बुद्धिमान् शूर जितेन्द्रिय चतुर मंत्री राजा वा राजकुमारको बड़ी भारी राजलक्ष्मी प्राप्त करा सकता है, पर-स्पर एक दूसरेको न जाननेवाले तीन२ चरोंसे शत्रुओंके पुरोहितादि अठारह और अपने पन्द्रह तीर्थोंको तो जानते हो ? हे शत्रु-नाशक ! सावधान रहकर शत्रुओंकी अज्ञातदशामें उनके सकल कार्योंको देखते तो रहते हो? विनययुक्त कुलीन पूर्णविद्वान् किसीसे डाह न करनेवाले उदारचित्त पुरुषको सत्कार करके तुमने अपना पुरोहित तो बनाया है और विधिको जानने वाले बुद्धिमान् सूधे और कार्यकुशल पुरुषको तो होमके काम पर नियुक्त किया है ३५ ४०॥ जो कि यह जानता हो कि–कब हवन हुआ था और कब होना चाहिये ? आपका दैवज्ञ ज्योतिषविद्यामें प्रवीण राज्यके अंगों को समझनेवाला और सब प्रकारके उत्पातोंको तो समझसकता है?

मध्यमेषु च मध्यमाः ॥ ४२ ॥ जघन्याश्च जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः । अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहान् शुचीन् ॥ ४३॥ श्रेष्ठान् श्रेष्ठेषु कच्चित्त्वं नियोजयसि कर्मसु । कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्विजसे प्रजाः ॥४४॥ राष्ट्रं तवानुशासन्ति मन्त्रिणो भरतर्षभ । कच्चित् त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं यथा॥४५॥ उग्रं प्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः । कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च मतिमान धृतिमान् शुचिः । कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिस्तथा ॥४६॥ कच्चिद्बलस्य ते मुख्याः सर्वयुद्धविशारदाः ॥ धृष्टावदाता विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥ ४७ ॥ कच्चिद्बलस्य भक्तञ्च वेतनञ्च यथोचितम् । सम्प्राप्तकाले दातव्यं ददासि न विकर्षसि ॥ ४८ ॥ कालातिक्रमणादेते भक्तवेतनयोर्भृताः । भर्तुः कुर्वन्ति

ना ? तुमने मुख्य कार्यों पर मुख्य मध्यम कार्यों पर मध्यम ॥४१॥ ॥ ४२ ॥ और निकृष्ट कार्यों पर निकृष्ट सेवक नियत करे हैं ना ? निष्कपट कुलपरंपरागत पवित्रस्वभाव श्रेष्ठ मंत्रियोंको उत्तम कार्यों पर नियुक्त किया है ना ? प्रचंड दंड देकर प्रजाओंको अधिक व्याकुल तो नहीं करते हो ? ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ हे भरतसत्तम ! मंत्री तुम्हारी आज्ञानुसार राज्यका शासन तो करते हैं ? जैसे यज्ञ कराने वाले पतितका अनादर करते हैं और स्त्रियें जैसे क्रूरस्वभाव कामचारी पतिका अनादर करती हैं तैसे आपके राज्यका शासन करनेवाले मंत्री तो आपका अनादर नहीं करते हैं ? तुम्हारा सेनापति बड़े कुलमें उत्पन्न हुआ प्रगल्भ शूरवीर गंभीर कार्यकुशल और प्रभुभक्त तो है ? ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ तुम्हारी सेनाके मुख्य योधा सब प्रकारके युद्धमें प्रवीण प्रचण्ड पराक्रमी सच्चरित साहसी और तुमसे यथोचित सन्मान पाये हुए तो हैं ॥ ४७ ॥ तुम अपनी सेनाको यथोचित वेतन और अन्न ठीक समय पर देते तो हो ? उनको दिक तो नहीं करते हो ॥ ४८॥ क्योंकि-उनको अन्न और वेतन समय विताकर देनेसे उनके द्वारा

दौर्बल्याद् सोऽनर्थः सुमहान् स्मृतः ॥ ४९ ॥ कच्चित्सर्वेऽनुरक्ता-स्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः । कच्चित् प्राणांस्तवार्थेषु सन्त्यजन्ति सदा युधि ॥ ५० ॥ कच्चिन्नैको बहूनर्थान् सर्वशः साम्परायिकान् । अनुशास्ति यथाकामं कामात्मा शासनातिगः ॥ ५१ ॥ कच्चित् पुरुषकारेण पुरुषः कर्म शोभयन् । लभते मानमधिकं भूयो वा भक्तवेतनम् ॥ ५२ ॥ कच्चिद्विद्याविनीतांश्च नरान् ज्ञानविशारदान् । यथार्हगुणतश्चैव दानेनाभ्युपपद्यसे ॥ ५३ ॥ कच्चिद्दारान्मनुष्याणां तवार्थे मृत्युमीयुषाम् । व्यसनं चाभ्युपेतानां बिभर्षि भरतर्षभ ॥ ५४ ॥ कच्चिद्भयादुपगतं क्षीणं वा रिपुमागतम् । युद्धे वा विजितं पार्थ पुत्रवत् परिरक्षसि॥५५॥ कच्चित् त्वमेव सर्वस्याः

रक्षा होती तो दूरही उलटी हानि पहुंचने लगती है, इस अनर्थ को पण्डितजन बहुत बुरा कहते हैं॥४९॥ श्रेष्ठ कुलों के प्रधान २ पुरुष प्रेम रखते हुए तुम्हारे लिये रणभूमिमें सदा प्राण देनेको तयार तो हैं ॥५०॥ सकल युद्धके कार्योंको करनेके लिये एक ही यथेच्छाचारी पुरुषको तो नियुक्त नहीं कर दिया है क्योंकि स्वेच्छाचारी पुरुष शासनकी मर्यादाके बाहर होजाता है ।" ५१ ॥ यदि कोई पुरुष अपने पुरुषार्थसे तुम्हारे कामको उत्तम रीतिसे सिद्ध करता है तो वह तुमसे अधिक सन्मान और नियमितसे अधिक अन्न और वेतन पाता है या नहीं ॥५२॥ ज्ञानके प्रकाश युक्त विद्यावान् अतिविनीत गुणी पुरुषों का उनके गुणोंके अनुसार यथोचित धन देकर सन्मान तो करते हो ॥ ५३॥ हे महाराज ! जो आपके उपकारके लिये कालके गालमें जाते हैं या परम विपत्तिमें फँसजाते हैं उनके स्त्री पुत्रादि परिवारका भरण पोषण तो करते हो ५४ हे पार्थ ! बलहीन वा युद्धमें हाराहुआ शत्रु भयभीत होकर जब तुम्हारी शरणमें आता है तब उसकी पुत्रकी समान रक्षा तो करते हो ॥ ५५ ॥ जैसे पिता माता सब संतानों पर एकसमान प्रेम करते

पृथिव्याः पृथिवीपते । समश्चानभिशंक्यश्च यथा माता यथा पिता ॥५६॥ कच्चिद्व्यसनिनं शत्रुं निशम्य भरतर्षभ । अभियासि जवेनैव समीक्ष्य त्रिविधं बलम् ॥ ५७ ॥ यात्रामारभसे दिष्ट्या प्राप्तकालमरिन्दम । पार्ष्णिमूलञ्च विज्ञाय व्यवसायं पराजयम् । बलस्य च महाराज दत्त्वा वेतनमग्रतः ॥ ५८ ॥ कच्चित् च बलमुख्येभ्यः परराष्ट्रे परन्तप । उपच्छन्नानि रत्नानि प्रयच्छसि यथार्हतः ॥ ५९ ॥ कच्चिदात्मानमेवाग्रे विजित्य विजितेन्द्रियः । परान् जिगीषसे पार्थ प्रमत्तानजितेन्द्रियान् ॥ ६० ॥ कच्चित्ते यास्यतः शत्रून् पूर्वं यान्ति स्वनुष्ठिताः । साम दानञ्च भेदश्च दण्डश्च विधिवद्गुणाः ॥६१॥ कच्चिद्बलं दृढं कृत्वा परान् यासि विशाम्पते । तांश्च विक्रमसे जेतुं जित्वा च परिरक्षसि ॥ ६२ ॥ कच्चिदष्टाङ्ग

हैं तैसे ही आप भी समुद्रमेखला सकल पृथ्वीको समदृष्टि से देखते हो ना ॥ ५६ ॥ शत्रुको व्यसनमें आसक्त देख अपने मंत्र खजाना और भृत्य इस तीन प्रकारके बलका यथावत् विचार करके शीघ्र ही चढ़ाई तो कर देते हो ॥ ५७ ॥ हे शत्रुनाशन ! महाराज ! सैनिकोंके व्यवसाय जयलाभ और शक्तिको समझ कर उनको अग्रिम वेतन देते हुए ठीक समयपर युद्धकी यात्रा करते हो ना ॥ ५८ ॥ हे शत्रुतापन ! परस्पर भेद डालनेके लिये शत्रुपक्षके प्रधान सैनिकोंको गुप्तरूपसे यथोचित धन देते हो ना ५६ स्वयं जितेन्द्रिय होकर पहिले अपने आपको जीततेहुए इन्द्रियोंके वशमें रहनेवाले असावधान शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा रखते हो ना ॥ ६० ॥ चढ़ाई करते समय पहिले ही साम दान दण्ड भेद इन गुणोंका शत्रुओंके ऊपर प्रयोग करलेते हो ना ॥ ६१ ॥ हे राजन् ! क्या पहिले अपने राज्यको दृढ़रूपसे सुरक्षित करके शत्रुओंके ऊपर चढ़ाई करते और उनको जीतनेके लिये अपना पूरा विक्रम दिखाते हो ,तथा जीतकर उनको उनके ही राज्य में स्थापित कर देते हो या नहीं ॥ ६२ ॥ अष्टाङ्गयुक्त और

संयुक्ता चतुर्विधबला चमूः। बलमुख्यैः सुनीता तैर्द्विषतां प्रति-वर्द्धिनी ॥ ६३ ॥ कच्चिल्लवञ्च मुष्टिञ्च परराष्ट्रे परन्तप। अवि-हाय महाराज निहंसि समरे रिपून् ॥६४॥ कच्चित् स्वपरराष्ट्रेषु बहवोऽधिकृतास्तव। अर्थान् समधितिष्ठन्ति रक्षन्ति च परस्परम् ॥ ६५ ॥ कच्चिदभ्यवहार्य्याणि गात्रसंस्पर्शनानि च। घ्रेयाणि च महाराज रक्षन्त्यनुमतास्तव ॥ ६६ ॥ कच्चित्कोषश्च कोष्ठश्च वाहनं द्वारमायुधम्। आयश्च कृतकल्याणैस्तव भक्तैरनुष्ठितः ॥ ६७ ॥ कच्चिदाभ्यन्तरेभ्यश्च वाह्येभ्यश्च विशाम्पते। रक्षस्यात्मानमेवाग्रे तांश्च स्वेभ्यो मिथश्च तान् ॥६८ ॥ कच्चिन्न पाने द्यूते वा क्रीडासु प्रमदासु च। प्रतिजानन्ति पूर्वाह्णे व्ययं व्यसनजं तव ॥ ६९ ॥ कच्चिदायस्य चार्द्धेन चतुर्भागेन वा पुनः। पादभागैस्त्रिभिर्वापि

मुख्य सेनापतियोंकी सुशिक्षा दीहुई तुम्हारी चतुरंगिणी सेना शत्रुओंका पराजय करने जाती है ना ? ॥ ६३ ॥ क्या शत्रुके राज्य में अन्न काटने और इकट्ठा करनेके समयकी उपेक्षा न करके संग्राममें शत्रुओंका संहार करते हो ॥ ६४ ॥ अर्थचिन्ताके लिये आपके अधिकारी पुरुष तो अपने और दूसरोंके राज्यमें नियुक्त होकर परस्पर तुम्हारा कार्य साधन करते हैं ? परस्पर विवाद करके आपके मंत्रको तो प्रकाशित नहीं करदेते हैं ॥६५॥ हे महाराज ! भृत्य तुम्हारे वशमें रहकर खानेकी सामग्री शरीरको रगड़ने के वस्त्र चन्दनादि और सूँघनेके पदार्थोंको सुरक्षित तो रखते हैं ॥ ६६ ॥ आपका मंगल चाहनेवाले भक्त कर्मचारी अन्नभंडार सवारी द्वार शस्त्र और आमदनीकी तो ठीक २ देखभाल रखते हैं ॥ ६७ ॥ हे राजन् ! तुम रणवासके और बाहरके सेवकोंसे अपनी, अपने कुटुंबियोंसे उनकी तथा उनमें भी परस्पर एक से दूसरेकी रक्षा तो करते हो ॥ ६८ ॥ दिनके पहिले भागमें मद्यपान द्यूत खेल वा स्त्रियोंमें व्यसनके कारण होनेवाले तुम्हारे व्ययको तो लोग नहीं जानते हैं ॥ ६९ ॥ आपकी आमदनीके

व्ययः संशोध्यते तव ॥ ७० ॥ कच्चिज्ज्ञातीन् गुरून् वृद्धान् वणिजः शिल्पिनः श्रितान् । अभीक्ष्णमनुगृह्णासि धनधान्येन दुर्गतान् ॥ ७१ ॥ कच्चिच्चायव्यये युक्ताः सर्वे गणकलेखकाः । अनुतिष्ठन्ति पूर्वाह्णे नित्यमायं व्ययं तव ॥ ७२ ॥ कच्चिदर्थेषु सम्प्रौढान् हितकामाननुप्रियान् । नापकर्षसि कर्मभ्यः पूर्वमप्राप्य किल्बिषम् ॥ ७३ ॥ कच्चिद्विदित्वा पुरुषानुत्तमाधममध्यमान् । त्वं कर्मस्वनुरूपेषु नियोजयसि भारत ॥७४॥ कच्चिन्न लुब्धाश्चौरा वा वैरिणो वा विशाम्पते । अप्राप्तव्यवहारा वा तव कर्मस्वनुष्ठिताः ॥ ७५ ॥ कच्चिन्न चौरैर्लुब्धैर्वा कुमारैः स्त्रीबलेन वा । त्वया वा पीड्यते राष्ट्रं कच्चित्तुष्टाः कृषीवलाः ॥ ७६ ॥ कच्चिद्राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहन्ति च । भागशो विनिविष्टानि न कृषि-

---

चतुर्थभाग अर्द्धभाग वा तीन भागोंसे निजी व्ययका निर्वाह तो हो जाता है ॥ ७० ॥ वृद्ध लोग जातिके मनुष्य गुरुजन व्यापारी कारीगर आश्रित दीन दरिद्र और अनाथोंको सदा धन धान्य देकर उनके ऊपर अनुग्रह तो करते हो ॥ ७१ ॥ आमदनी और खर्च के कामपर नियत किये हुए सब गिनने और लिखनेवाले तुम्हारी आमदनी और खर्च नित्य प्रातःकालके समय तुम्हें दिखाते तो हैं ॥ ७२ ॥ कार्यकुशल सावधान हितैषी कर्मचारियोंको पहिले उनका कोई अपराध बिना देखे तो उनको अधिकारसे अलग नहीं करते हो ॥ ७३ ॥ हे महाराज! पुरुषोंकी उत्तम मध्यम अधम योग्यताको जानकर तुम उनको यथोचित कार्योंपर नियुक्त करते हो ना ॥ ७४ ॥ हे राजन्! लोभी चोर वैरी वा पहिले बिना परीक्षा किये पुरुषोंको तो तुम अपने कार्यों पर नियुक्त नहीं करते हो ॥ ७५ ॥ चोर लोभी बालक वा स्त्रियों की मचलता अथवा तुम्हारे अत्याचारसे प्रजा दुःख तो नहीं पाती है ? राज्यके किसान तो सन्तुष्टचित्तसे समय बिताते हैं ७६

देवमातृका ॥ ७७ ॥ कच्चिन्न बीजं भक्तञ्च कर्षकस्यावसीदति। पादिकञ्च शतं वृद्ध्या ददास्यृणमनुग्रहम् ॥ ७८ ॥ कच्चित् स्वनुष्ठिता तात वार्त्ता ते साधुभिर्जनैः । वार्त्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ॥ ७९ ॥ कच्चिच्छूराः कृतप्रज्ञाः पञ्च पञ्चस्वनुष्ठिताः । क्षेमं कुर्वन्ति संहत्य राजन् जनपदे तव ॥ ८० ॥ कच्चिन्नगरगुप्त्यर्थं ग्रामा नगरवत् कृताः । ग्रामवच्च कृताः प्रांतास्ते च सर्वे त्वदर्पणाः ॥८१॥ कच्चिद्बलेनानुगताः समानि विषमानि च । पुराणि चौरा निघ्नन्तश्चरन्ति विषये तव ॥ ८२ ॥ कच्चित् स्त्रियः सान्त्वयसि कच्चिचाश्च सुरक्षिताः । कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद् गुह्यं न भाषसे ॥ ८३ ॥ कच्चिदात्ययिकं श्रुत्वा तदर्थ-

राज्यमें स्थान स्थान पर जलसे भरे बड़े २ सरोवर तो खुदवा दिये हैं खेतीका काम केवल वर्षाके ही भरोसे पर तो नहीं है ७७ किसानोंके यहां बीज और अन्न तो कम नहीं होजाता है ? आवश्यकता पड़ने पर सैंकड़े पर चौथाईकी बढ़ौतरी करके अनुग्रह पूर्वक ऋण तो देदेते हो ॥ ७८ ॥ साधुपुरुषोंके साथ तुम्हारी ठीक २ बातचीत तो होती है। हे राजन्! साधुओंके साथ संभाषण करते रहनेपर ही यह लोक सुख पाता है ॥ ७९ ॥ जनपद (इलाके) में प्रजापालन किलोंकी रक्षा व्यापारियोंकी रक्षा खेतीकी देखभाल और दुष्टोंका शासन इन पांच कार्मोपर नियुक्त कियेहुए पांचों बुद्धिमान् वीर पुरुष मिलकर तुम्हारा हितचिंतन तो करते हैं ॥८०॥ क्या नगरकी रक्षाके लिये परगने नगरोंकी समान और छोटे २ ग्राम परगनोंकी समान रक्खे हैं और वह सब नगर आदि ठीक२ तुम्हारे वशमें तो हैं ॥ ८१ ॥ डाकू चोर तुम्हारे राज्यमें सम विषम स्थलोंमें दल बांधकर नगरोंको लूटते तो नहीं फिरते हैं ॥ ८२ ॥ स्त्रियोंको सन्तुष्ट और सुरक्षित तो रखते हो उनका विश्वास करके गुप्त बातें तो उनसे नहीं कहदेते हो ॥ ८३ ॥ किसी अमङ्गल बात

मनुचिन्त्य च । प्रियाण्यनुभवन् शेषे न त्वमन्तःपुरे नृप॥८४॥
कच्चिद्द्वौ प्रथमौ यामौ रात्रेः सुप्त्वा विशाम्पते । संचिन्तयसि धर्मार्थौ याम उत्थाय पश्चिमे ॥ ८५ ॥ कच्चिद्दर्शयसे नित्यं मनुष्यान् समलंकृतः । उत्थाय काले कालज्ञैः सह पाण्डव मन्त्रिभिः ॥ ८६ ॥ कच्चिद्रक्ताम्बरधराः खड्गहस्ताः स्वलंकृताः । उपासते त्वामभितो रक्षणार्थमरिन्दम ॥ ८७ ॥ कच्चिद्दण्ड्येषु यमवत् पूज्येषु च विशाम्पते । परीक्ष्य वर्तसे सम्यगप्रियेषु प्रियेषु च ॥ ८८ ॥ कच्चिच्छारीरमाबाधमौषधैर्नियमेन वा । मानसं वृद्धसेवाभिः सदा पार्थापकर्षसि॥८९॥कच्चिद्वैद्याश्चिकित्सायामष्टाङ्गायां विशारदाः । सुहृदश्चानुरक्ताश्च शरीरे ते हिता सदा ९० कच्चिन्न लोभान्मोहाद्वा मानाद्वापि विशाम्पते । अर्थिप्रत्यर्थिनः प्राप्तान्

कों सुनकर उसकी चिन्ता करते २ रणवासमें जाकर पुष्पमाला चन्दनादि प्रिय वस्तुओंके अनुभवसुखसे सोतो नहीं जाते हो ८४ हे राजन् ! रातके पहिले दो पहर सोनेमें बिताकर रात्रिके पछिले पहरमें उठकर धर्मार्थका चिंतवन करते हो ना ॥८५॥ हे पांडव ! यथासमय उठकर और वेषभूषणादिसे सजकर समयको जानने वाले मंत्रियोंको साथ लिये दर्शन तो देते हो ॥ ८६ ॥ हे शत्रुनाशन ! तुम्हारी रक्षा करनेके निमित्त लाल वस्त्रधारी शोभायमान रक्षक हाथोंमें तलवारें लिये खड़े तो होते हैं ॥ ८७ ॥ हे राजन् दण्डके योग्य और पूजाके योग्य पुरुषोंकी यथोचित परीक्षा करके आप यमराजकी समान वर्ताव तो करतेहैं, प्रिय और अप्रिय पुरुषोंके साथ यथोचित वर्त्ताव तो करते हो ॥ ८८ ॥ हे पार्थ ! शरीरकी पीड़ाको औषध और पथ्यके द्वारा तथा मनकी पीड़ाको निरन्तर वृद्धोंकी सेवासे दूर करते हो ना ॥ ८९ ॥ आपके वैद्य तो अष्टाङ्ग चिकित्सामें प्रवीण हैं ? मित्र तो प्रेम करते हुए सदा आपके शरीरका हित करनेमें तत्पर रहते हैं ॥ ९० ॥ हे राजन ! आप किसीप्रकार लोभ मोह

परपसि कथञ्चन ॥९१॥कश्चिन्न लोभान्मोहाद्वा विस्रम्भात् प्रणयेन वा। आश्रितानां मनुष्याणां वृत्तिं त्वं संरुणत्सि वै ॥९२॥कच्चित् पौरा न सहिता ये च ते राष्ट्रवासिनः। त्वया सह विरुध्यन्ते परैः क्रीता कथञ्चन ॥९३॥ कच्चिन्न दुर्बलः शत्रुर्बलेन परिपीडितः। मन्त्रेण बलवान् कच्चिदुभाभ्याञ्च कथञ्चन॥९४॥कच्चित् सर्वेऽनुरक्तास्त्वां भूमिपालाः प्रधानतः। कच्चित् प्राणांस्त्वदर्थेषु सन्त्यजन्ति त्वया हृताः॥९५॥ कच्चित्ते सर्वविद्यासु गुणतोऽर्चा प्रवर्त्तते। ब्राह्मणानां च साधूनां तवनैःश्रेयसी शुभा ॥ ९६ ॥ कच्चिद्धर्मे त्रयीमूले पूर्वैराचरिते जनैः। वर्तमानस्तथाकर्तुं तस्मिन् कर्मणि वर्त्तसे ॥९७॥ कच्चित्तव गृहेऽन्नानि स्वादून्यश्नन्ति वै द्विजाः।

या अभिमानके वशमें होकर तो वादी प्रतिवादीयोंके (मुद्दई मुद्दाअलोंके) कार्योंको नहीं देखते हो ॥ ९१ ॥ कहीं लोभसे मद्दोसे विश्वाससे वा प्रेमभावसे आश्रित मनुष्योंकी नौकरी तो नहीं रोक लेते हो ॥ ९२ ॥ तुम्हारे देशवासी वा नगरनिवासी लोग मिलकर शत्रुसे बहुतसा धन ले आपके साथ किसी प्रकार का विरोध तो नहीं करते हैं॥ ९३ ॥ दुर्बल शत्रुको बलात्कारसे अत्यन्त पीड़ा तो नहीं देते हो ? मंत्रबलसे बलवान् शत्रुको बहुतसो नहीं दबाते हो ? बल और मंत्रसे किसीका सर्वनाश तो नहीं करते हो ॥९४॥ सब प्रधान २ राजे तो आपसे प्रेम रखते हैं ? वह आप के आदरसे वशीभूत होकर आपके लिये प्राणतक देनेको उद्यत रहते हैं क्या ॥ ९५ ॥ आप सब विद्याओंके विषयमें गुणोंका विचार करके ब्राह्मण और सज्जनोंका सन्मान करते हो ना ? क्योंकि ऐसा करना आपके मोक्षका हेतु और मङ्गलकारी है ॥९६॥ हे महाराज ! यत्नके साथ पूर्वपुरुषोंके आचरण कियेहुए वेदोक्त धर्मका आचरण करनेमें तो प्रवृत्त रहते हो ॥ ९७ ॥ क्या गुणवान् ब्राह्मण तुम्हारे घर स्वादयुक्त उत्तम प्रकारके भोजनोंको

गुणवन्ति गुणोपेतास्तत्राध्यक्षं सदक्षिणम् ॥ ९८ ॥ कच्चित् क्रतूनेकचित्तो वाजपेयांश्च सर्वशः । पुण्डरीकांश्च कार्त्स्न्येन यतसे कर्तुमात्मवान् ॥ ९९ ॥ कच्चिज्ज्ञातीन् गुरून् वृद्धान्दैवतांस्तापसानपि । चैत्यांश्च वृक्षान् कल्याणान् ब्राह्मणांश्च नमस्यसि ॥ १०० ॥कच्चिच्छोको न मन्युर्वा त्वया मोत्साद्यतेऽनघ । अपि मङ्गलहस्तश्च जनः पार्श्वेऽनुतिष्ठति ॥१०१ ॥ कच्चिदेषा च ते बुद्धिर्वृत्तिरेषा च तेऽनघ । आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थदर्शिनी ॥ १०२ ॥ एतया वर्तमानस्य बुद्ध्या राष्ट्रं न सीदति । विजित्य च महीं राजा सोऽत्यन्तं सुखमेधते ॥ १०३ ॥ कच्चिदार्यो विशुद्धात्मा क्षारितश्चौरकर्मणि । अदृष्टशास्त्रकुशलैर्न लोभाद्वध्यते शुचिः ॥१०४॥ दुष्टो गृहीतस्तत्कारी तज्ज्ञैर्दृष्टः सकारणः ।

लाकर दक्षिणा पाते हैं ॥ ९८ ॥ क्या एकाग्रचित्त होकर मनको वशमें किये हुए अनेकों वाजपेय और पुण्डरीक नामक यज्ञोंको पूर्णरीतिसे करते हो ॥ ९९ ॥ क्या गुरुजन ज्ञातिके वयोवृद्ध देवता तपस्वी चैत्यवृक्ष और कल्याणकर्ता ब्राह्मणोंको नमस्कार करते हो ॥१००॥ हे अनघ ! आप एकायकी शोक या क्रोधसे दब तो नहीं जाते हैं लोक माङ्गलिक वस्तुओंको हाथमें लेकर तो आपके समीप खड़े होते हैं ॥१०१ ॥ हे महाराज ! आपकी बुद्धि और क्रिया तो मेरे बूझनेके अनुसार ही रहती है क्योंकि-ऐसा होनेसे बुद्धि और क्रियाएं आयु और यश देनेवाले तथा धर्म कामार्थके फलदायक होते हैं ॥१०२॥ इसप्रकारकी बुद्धिसे बर्त्ताव करने पर राज्यमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती है और वह राजा भी सकल भूमण्डलको जीतकर परमसुखमें समयको विताता है॥ १०३ ॥तुम्हारे लोभाग्य अनभिज्ञ अधिकारी पुरुषोंके द्वारा चोरीका लाञ्छन लगाए हुए सच्चरित विशुद्धस्वभाव निष्पाप पुरुष मरणका दण्ड तो नहीं पाते हैं ॥१०४॥ हे नृपश्रेष्ठ ! दुष्ट अहितकारी खोटे स्वभाववाले दण्डके योग्य चोरको चोरी कीहुई वस्तु

कश्चिन्न मुच्यते स्तेनो द्रव्यलोभान्नरर्षभ ॥ १०५ ॥ उत्पन्नान् कश्चिदाढ्यस्य दरिद्रस्य च भारत । अर्थान्न मिथ्या पश्यन्ति तवामात्या हृता धनैः ॥ १०६ ॥ नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् । अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पंचवृत्तिताम् ॥ १०७ ॥ एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च चिन्तनम् । निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ॥१०८॥ मङ्गलाद्यप्रयोगञ्च प्रत्युत्थानं च सर्वशः। कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश । प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूलापि पार्थिवाः ॥ १०९ ॥ कच्चित्ते सफला वेदाः कच्चित्ते सफलं धनम् । कच्चित्ते सफला दाराः कच्चित्ते सफलं श्रुतम् ॥ ११० युधिष्ठिर उवाच । कथं वै सफला वेदाः कथं वै सफलं धनम् ।

के साथ पकड़कर भी तुम्हारे कर्मचारी धनके लोभसे छोड़तो नहीं देते हैं ॥ १०५ ॥ हे भारत ! तुम्हारे मंत्री धनके लोभमें पड़ेहुए धनी और दरिद्रका विवाद होनेपर झूठा फैसला तो नहीं देदेते हैं ॥ १०६॥ नास्तिकता मिथ्याभाषण क्रोध प्रमाद दीर्घसूत्रता ज्ञानवान् पुरुषोंसे न मिलना आलस्य चित्तकी चपलता निरन्तर धनकी चिन्ता,अभिप्राय न समझने वालोंके साथ सम्मति करना निश्चय किये हुए कामको आरंभ न करना मंत्रणाकी रक्षा न करना माङ्गलिक कार्योंको न करना और बिना समझे सब कामोंमें हाथ डालना राजाओंके इन चौदह दोषोंको तो आप सर्वथा त्यागते हैं कि जो दोष जड़मूलसे जमेहुए राजाओंको भी राज्यसे भ्रष्ट करदेते हैं ॥ १०७—१०९ ॥ आपका वेद पढ़ना तो सफल हुआ है ? आपने अपने धनको तो सफल किया है आपने अपने स्त्रीस्वीकारको तो सफल किया है और आपका विद्या पढ़ना तो सफल हुआ है ? ॥ ११० ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि—हे तपोधन ! वेद कैसे सफल होते हैं धन कैसे सफल होता है; स्त्रीस्वीकार कैसे सफल होता है और विद्या पढ़ना कैसे सफल

कथं वै सफला दाराः कथं वै सफलं श्रुतम् ॥१११॥ नारद उवाच अग्निहोत्रफला वेदा दत्तभुक्तफलं धनम् । रतिपुत्रफला दाराः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ॥ ११२ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवदाख्याय स मुनिर्नारदो वै महातपाः । पप्रच्छानन्तरमिदं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥ ११३ ॥ नारद उवाच । कच्चिदभ्यागता दूराद्वणिजो लाभकारणात् । यथोक्तमवहार्यन्ते शुल्कं शुल्कोपजीविभिः ११४॥ कच्चित् ते पुरुषा राजन् पुरे राष्ट्रे च मानिताः । उपानयन्ति पण्यानि उपधाभिरवञ्चिताः ॥ ११५ ॥ कच्चित् शृणोषि वृद्धानां धर्मार्थसहिता गिरः । नित्यमर्थविदां तात तथा धर्मार्थदर्शिनाम् । ॥११६॥ कच्चित् ते कृषितन्त्रेषु गोषु पुष्पफलेषु च । धर्मार्थञ्च द्विजातिभ्यो दीयते मधुसर्पिषी ॥ ११७॥ द्रव्योपकरणं किंचित् सर्वदा

होता है ॥ १११ ॥ नारदजीने कहा, कि–हे महाराज ! अग्निहोम करनेसे वेदाध्ययन सफल होता है, दान करने या भोगने से धन सफल होता है, रतिक्रीड़ा और सन्तान उत्पन्न करनेसे स्त्रीस्वीकार सफल होता है और सुशीलता तथा सद्व्यवहारसे विद्या पढ़ना सफल होता है ॥ ११२ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि– यह महातपस्वी मुनिवर यह बात कहकर फिर धर्मात्मा युधिष्ठिरसे यह पूछनेलगे ॥ ११३ ॥ हे राजन् ! लाभकी आशा करके परदेशोंसे आयेहुए व्यापारियोंसे आपके महसूल लेनेपर नियत किये हुए राजपुरुष ठीक २ महसूल तो लेलेते हैं ? ॥११४॥ हे राजन् ! आपके नगर और राज्यमें उन व्यापारियोंका सन्मान तो होता है और तुम्हारे अधिकारियोंके परीक्षा लेलेने पर ही व्यापारके पदार्थों को राज्यमें लानेवाले हैं ना ॥ ११५ ॥ हे तात ! आप धर्मार्थदर्शी और तत्वज्ञानी वृद्ध पुरुषोंकी धर्मभरी उपदेशकी बातें तो नित्य सुनते हो ? ॥ ११६ ॥ खेतीके काम गौ और फूल फलोंके विषयमें तथा धर्मार्थ घृत सहद देकर ब्राह्मणों की पूजा तो करते हो ? ॥ ११७ ॥ चौमासेसे पहिले सकल शिल्प-

सर्वशिल्पिनाम्। चातुर्मास्यावरं सम्यङ् नियतं सम्प्रयच्छसि १०८ कच्चित् कृतं विजानीषे कर्त्तारं च प्रशंससि। सतां मध्ये महाराज सत्करोषि च पूजयन्॥११६॥कच्चित् सूत्राणि सर्वाणि गृह्णासि भरतर्षभ। हस्तिसूत्राश्वसूत्राणि रथसूत्राणि वा विभो ॥ १२०॥ कच्चिदभ्यस्यते सम्यग्गृहे ते भरतर्षभ। धनुर्वेदस्य सूत्रं वै यन्त्रसूत्रञ्च नागरम् ॥ १२१ ॥ कच्चिदस्त्राणि सर्वाणि ब्रह्मदण्डश्च तेऽनघ। विषयोगास्तथा सर्वे विदिताः शत्रुनाशनाः ॥ ११२ ॥ कच्चिदग्निभयाच्चैव सर्वं व्यालभयात्तथा। रोगरक्षोभयाच्चैव राष्ट्रं स्वपरिरक्षसि ॥११३॥ कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च पंगून् व्यङ्गानबान्धवान्। पितेव पासि धर्मज्ञ तथा प्रव्रजितानपि ॥ १२४ ॥ षडनर्था महाराज कच्चित्ते पृष्ठतः कृताः। निद्रालस्यं भयं क्रोधो

कारों (कारीगरों) को शिल्पकारी करनेके सकल पदार्थ तो सदा नियमसे देदेते हो ? ॥ ११८ ॥ हे महाराज ! कोई उपकार करै तो उसको याद तो रखते हो, कोई सत्कर्म करै तो उसका प्रशंसा और सज्जनोंमें आदर करके उसका सत्कार तो करते हो ॥ ११६ ॥ हे महाराज भरतकुलभूषण ! हाथियोंके लक्षण घोड़ोंके लक्षण और रथोंके लक्षण ऐसी सब बातोंको क्या आपने सीखा है ?॥ १२० ॥ हे महाराज ! घरमें बैठकर धनुर्वेदके लक्षण, नगर बसानेकी रीति और यन्त्रविद्याका तो अभ्यास किया है?१२१ हे महाराज ! शत्रुओंका नाश करनेवाले अस्त्र ब्रह्मदण्ड और विषप्रयोग तो आपको मालूम हैं ॥१२२॥ अग्निके भयसे तथा रोग और राक्षसीस्वभाववाले दुष्ट पुरुषोंके भयसे तुम अपने सकल राज्यकी रक्षा तो करते हो ॥ १२३ ॥ हे धर्मज्ञ ! अन्धे गूंगे पंगु अङ्गहीन अनाथ और निराश्रयोंकी पिताकी समान रक्षा तो करते हो ॥ १२४ ॥ हे महाराज ! निद्रा आलस्य भय क्रोध अधिक नर्मी और दीर्घसूत्रीपन इन छः अनर्थोंको तो आपने एक

मार्दवं दीर्घसूत्रता ॥ १२५ ॥ वैशम्पायन उवाच । तत
वृषभो महात्मा श्रुत्वा गिरो ब्राह्मणसत्तमस्य । प्रणम्य पादाव-
भिवाद्य तुष्टो राजाब्रवीन्नारदं देवरूपम् ॥१२६॥ युधिष्ठिर उवाच।
एवं करिष्यामि यथा त्वयोक्तं प्रज्ञा हि मे भूय एवाभिवृद्धा।
उक्त्वा तथा चैव चकार राजा लेभे महीं सागरमेखलां च १२७
नारद उवाच। एवं यो वर्त्तते राजा चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे,स विहृ-
त्येह सुसुखी शक्रस्येति सलोकताम् ॥ १२८ ॥

इति सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि कच्चिदध्यायो
नाम पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच । संपूज्याथाभ्यनुज्ञातो महर्षेर्वचनात् परम्।
प्रत्युवाचानुपूर्व्येण धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥ भगवन् न्याय्यमा-
हैतं यथावद्धर्मनिश्चयम्। यथाशक्ति यथान्यायं क्रियतेऽयं विधि-

साथ त्यागदिया है ? ॥ १२५ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि कुरु-
वंशमें श्रेष्ठ महात्मा युधिष्ठिर देवरूप ब्राह्मणोत्तम नारदजीके ऐसे
उपदेशके वाक्योंको सुन परमप्रसन्न हुए तथा उनको प्रणाम और
अभिवादन करके निवेदन करने लगे ॥ १२६ ॥ युधिष्ठिरने कहा,
कि-हे तपोधन आपने जो आज्ञा की है, मैं ऐसा ही करूंगा, आप
के उपदेशसे मेरी बुद्धि अब और भी बढ़गई है राजाने नारदजीके
सामने ऐसी प्रतिज्ञा करके उसके अनुसार ही बर्त्ताव भी किया
जिससे कि-सकल भूमण्डलके स्वामी हुए ॥ १२७ ॥ नारदजीने
कहा, कि-हे महाराज! जो राजा इसप्रकार चारों वर्णोंकी रक्षा
में लगा रहता है वह इस लोकमें परमसुखसे विहार करके अन्तमें
इन्द्रके लोकको पाता है ॥ १२८ ॥ पञ्चम अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे महाराज! ब्रह्मर्षि नारदजीके
ऐसा कहनेके पीछे धर्मराज युधिष्ठिर यथोचित सत्कार करके इस
के उत्तरमें क्रमसे कहने लगे कि ॥ १ ॥ हे भगवन्! आपने जो
धर्मका निश्चयरूप उपदेश दिया वह बहुतही ठीक और यथार्थ है

मया ॥२॥ राजभिर्यद्यथा कार्य्यं पुरा वै तन्न संशयः। यथान्यायोपनीतार्थं कृतं हेतुमदर्थवत् ॥ ३ ॥ वयन्तु सत्पथं तेषां यातुमिच्छामहे प्रभो। न तु शक्यं तथा गन्तुं यथा तैर्नियतात्मभिः ॥ ४ ॥ वैशम्पायन उवाच। तन्तु विश्रान्तमालक्ष्य देवर्षिममितद्युतिम्। एवमुक्त्वा स धर्मात्मा वाक्यं तदभिपूज्य च ॥ ५ ॥ मुहूर्त्तात्प्राप्तकालं च दृष्ट्वा लोकचरं मुनिम्। नारदं सुखमासीनमुपासीनो युधिष्ठिरः। अपृच्छत्पाण्डवस्तत्र राजमध्ये महाद्युतिः ॥६॥ युधिष्ठिर उवाच। भवान् सञ्चरते लोकान् सदा नानाविधान् बहून्। ब्रह्मणा निर्मितान् पूर्वं प्रेक्षमाणो मनोजवः ॥७॥ ईदृशी भविता काचिद्दृष्टपूर्वा सभा क्वचित्। इतो वा श्रेयसी ब्रह्मंस्त-

---

श्रार मैं यथाशक्ति न्यायानुकूल ऐसा ही करता भी हूं ॥ १ ॥ पहिले राजे न्यायपूर्वक धनका संग्रह कर जिन सकल आवश्यक कार्योंको करते थे मैं भी वैसा ही करता हूं ॥ ३ ॥ हे महाराज ! वह जिन सकल सत्कर्मोंके करकै दिखा गये हैं मैं उनके ही मार्गसे चलना चाहता हूं परन्तु वह अपने मनको नियममें रखकर जैसा करगये वैसा मुझसे नहीं बनता ॥ ४ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—वह धर्मात्मा युधिष्ठिर ऐसा कहकर और उनकी बातको सराह कर परम तेजस्वी ब्रह्मर्षि नारदजीको कुछ विश्राम करते देखकर मौन हो गये ॥५॥ फिर कुछ देरमें परम प्रतापी पाण्डुकुमार युधिष्ठिर सकल लोकोंमें विचरनेवाले नारदजीको कुछ स्वस्थ होकर बैठेहुए देख उनकी सेवा करतेहुए अवसर समझकर बूझनेलगे ॥ ६ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि—हे भगवन् ! आपकी गति मनकी समान है, इसकारण आप पहिले ब्रह्माजीके बनायेहुए अनेकों प्रकारके बहुतसे लोकोंमें सदा विचरते रहे हैं ॥७॥ हे ब्रह्मन् ! मैं बूझता हूं कि यदि आपने पहिले यहीं हमारी इस अलौकिक सभा की समान वा इससे भी अच्छी कोई सभा देखी हो तो मुझे बता

न्ममाचक्ष्व पृच्छतः॥८॥ वैशम्पायन उवाच। तच्छ्रुत्वा नारदस्तस्य धर्मराजस्य भाषितम्। पाण्डवं प्रत्युवाचेदं स्मयन्मधुरया गिरा॥९॥ नारद उवाच। मानुषेषु न मे तात दृष्टपूर्वा न च श्रुता। सभा मणिमयी राजन् यथेयं तव भारत ॥ १० ॥ सभान्तु पितृराजस्य वरुणस्य च धीमतः। कथयिष्ये तथेन्द्रस्य कैलासनिलयस्य च ११ ब्रह्मणश्च सभां दिव्यां कथयिष्ये गतक्लमाम्। दिव्या दिव्यैरभिप्रायैरुपेतां विश्वरूपिणीम् ॥ १२ ॥ देवैः पितृगणैः साध्यैर्यज्वभिर्नियतात्मभिः। जुष्टां मुनिगणैः शान्तैर्वेदयज्ञैः सदक्षिणैः॥१३॥ यदि ते श्रवणे बुद्धिर्वर्तते भरतर्षभ। नारदेनैवमुक्तस्तु धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥ प्राञ्जलिर्भ्रातृभिः सार्द्धं तैश्च सर्वैर्द्विजोत्तमैः। नारदं प्रत्युवाचेदं धर्मराजो महामनाः ॥ १५ ॥ युधिष्ठिर उवाच। सभाः कथय ताः सर्वाः श्रोतुमिच्छामहे वयम्। किन्द्रव्यास्ताः

इये ॥ ८ ॥ वैशंपायनजी कहते हैं, कि— नारदजी धर्मराजकी इस बातको सुनकर मुसकुरातेहुए मधुरवाणीमें युधिष्ठिरसे यह बोले ॥ ९ ॥ नारदजीने कहा, कि—हे भरतवंशी राजन्! तुम्हारा इस मणिमयी सभाकी समान दूसरी सभा मनुष्यलोकमें तो मैंने न कहीं देखी है और न कहीं सुनी है ॥ १० ॥ हे भरतसत्तम! यदि सुननेको तुम्हारी बहुत ही उत्कण्ठा है तो पितृपति यम,बुद्धिमान्‌ वरुण, देवराज इन्द्र और कैलासनिवासी कुबेरकी सभाका मैं वर्णन करता हूं तथा ब्रह्माजीकी दिव्य अभिप्रायोंसे युक्त विश्वरूपिणी क्लेशापहारिणी एक दिव्य सभा है मैं उस का वर्णन करता हूं सुनो वह सभा देवता पितृगण साध्य और शान्त जितेन्द्रिय यज्ञकरानेवाले मुनियोंकी मण्डली तथा शान्तरूप वेद और दक्षिणासहित साक्षात् यज्ञोंसे सेवित है नारदजी के इस प्रकार कहनेपर चारों भ्राता और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसहित उदारचित्त धर्मराज युधिष्ठिर हाथ जोड़े हुए उनसे कहनेलगे ११ ॥ १५ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि— हे ब्रह्मन्! हम सुनना चाहते हैं

सभा ब्रह्मन् किंविस्ताराः किमायताः ॥१६॥ पितामहश्च के तस्यां
सभायां पर्य्युपासते । वासवं देवराजञ्च यमं वैवस्वतञ्च के १७
वरुणञ्च कुवेरञ्च सभायां पर्य्युपासते । एतत्सर्वं यथान्यायं
ब्रह्मर्षे वदतस्तव । श्रोतुमिच्छाम सहिताः परं कौतूहलं हि नः १८
एवमुक्तः पाण्डवेन नारदः प्रत्यभाषत । क्रमेण राजन् दिव्यास्ता
श्रूयन्तामिह नः सभाः ॥ १६ ॥

इति सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि सभाजिज्ञासा
नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

नारद उवाच । शक्रस्य तु सभा दिव्या भास्वरा कर्मनिर्मिता।
स्वयं शक्रेण कौरव्य निर्जितार्कसमप्रभा॥१॥विस्तीर्णा योजनशतं
शतमध्यर्द्धमायता । वैहायसी कामगमा पञ्चयोजनमुच्छ्रिता ॥ २॥
जराशोकक्लमापेता निरातङ्का शिवाशुभा । वेश्मासनवती रम्या

उन सब सभाओंका वर्णन करिये कि—उन सभाओंमें क्या २ पदार्थ हैं और कितनी २ लंबाई चौड़ाई है॥ १६ ॥ पितामह ब्रह्मा, देवराज, इन्द्र, वैवस्वत यम, वरुण और कुवेरके अपनी२ सभामें बैठने पर कौन२ उनकी उपासना करते हैं ? हे ब्रह्मर्षे ! आप यह सब यथोचित रीतिसे वर्णन करिये, हम सबोंको आपसे सुननेका बड़ा ही चाव है॥१७-१८॥ हे राजन् ! महर्षि नारदजीने धर्मराजके इसप्रकार कहनेपर उत्तर दिया कि–हे महाराज ! मैं क्रमसे उन सब सभाओंका वर्णन करता हूं सुनो ॥१६॥ षष्ठ अध्याय समाप्त॥६॥

नारदजी कहनेलगे, कि—हे कुरुनन्दन ! इन्द्रकी दिव्य सभा तो बड़ी ही दमकती हुई है, जो देवराज इन्द्रने स्वयं विश्वकर्मासे सूर्यकी समान कान्तिमती बनवायी है ॥१॥ वह सभा सौ योजन चौड़ी डेढ़सौ योजन लंबी, पांच योजन ऊंची, आकाशमें अधर स्थित और चाहे जहां जाने आनेवाली है ॥ २ ॥ उसमें बुढ़ापा शोक थकावट और भय आदि हैं ही नहीं, किंतु वह सुखरूप शुभ-दायक है, उस रमणीय सभामें जहां तहां मन्दिर आसन और

दिव्यपादपशोभिता ॥ ३ ॥ तस्यां देवेश्वरः पार्थ सभायां परमासने । आस्ते शच्या महेन्द्राण्या श्रिया लक्ष्म्या च भारत ॥४॥ बिभ्रद्वपुरनिर्देश्यं किरीटी लोहिताङ्गदः । विरजोऽम्बरश्चित्रमाल्यो ह्रीकीर्तिद्युतिभिः सह ॥ ५ ॥ तस्यामुपासते नित्यं महात्मानं शतक्रतुम् । मरुतः सर्वशो राजन् सर्वे च गृहमेधिनः ॥६॥ सिद्धा देवर्षयश्चैव साध्या देवगणास्तथा । मरुत्वन्तश्च सहिता भास्वन्तो हेममालिनः ॥ ७ ॥ एते सानुचराः सर्वे दिव्यरूपाः स्वलंकृताः । उपासते महात्मानं देवराजमरिंदमम् ॥८॥ तथा देवर्षयः सर्वे पार्थ शक्रमुपासते । अमला धूतपाप्मानो दीप्यमाना इवाग्नयः ॥ ९ ॥ तेजस्विनः सोमयुजो विशोका विगतज्वराः । पराशरः पर्वतश्च तथा सावर्णिगालवौ ॥ १० ॥ शंखश्च लिखितश्चैव तथा गौरशिरा मुनिः । दुर्वासा क्रोधनः श्येनस्तथा दीर्घतमा मुनिः ॥११॥

दिव्यवृक्षोंकी शोभा है॥ ३ ॥ हे कुंतीनन्दन युधिष्ठिर ! अलौकिक रूपलावण्ययुक्त श्रीमान् यशस्वी देवराज इन्द्र, दिव्य किरीट निर्मल वस्त्र लाल बाजूबन्द और विचित्र मालाओंको धारण किये लक्ष्मीकी समान शोभायमान इंद्राणीसहित उस सभामें बहुमूल्य आसन पर विराजमान होते हैं ॥४-५॥ उस सभामें सकल गृहवासी देवता सिद्ध साध्य सुवर्णकी मालाएं पहिरे तेजस्वी मरुत तथा और भी सब देवता नित्य महात्मा इन्द्रकी उपासना करते हैं ॥ ६-७ ॥ यह सब दिव्यरूपधारी वस्त्राभूषणोंसे सजे देवता अनुचरोंको साथमें लिये हुए शत्रुनाशन महात्मा देवराज इन्द्रकी उपासना करते हैं ॥८॥तथा हे पाण्डव ! निर्मल पापरहित अग्निकी समान देदीप्यमान तेजस्वी और शोक-ज्वररहित देवऋषि अनुचरों सहित प्रतिदिन इस सभामें आकर महेंद्रकी उपासना करते हैं, महर्षि पराशर पर्वत सावर्णि गालव शंख लिखित तथा गौरशिरा मुनि क्रोधी-दुर्वासा श्येन दीर्घतमा मुनि पवित्रपाणि सावर्णि याज्ञवल्क्य भालुकि उद्दालक श्वेतकेतु ताण्ड्य तथा भाण्डायनि

पवित्रपाणिः सावर्णिर्याज्ञवल्क्योऽथ मालुकिः । उद्दालकः श्वेत-केतुस्ताण्ड्यो भाण्डायनिस्तथा ॥ १२ ॥ हविष्मांश्च गरिष्ठश्च हरिश्चन्द्रश्च पार्थिवः । हृद्यश्चोदरशाण्डिल्यः पाराशर्य्यः कृषीवलः ॥ १३ वातस्कन्धो विशाखश्च विधाता काल एव च । करालदन्तस्त्वष्टा च विश्वकर्मा च तुम्बुरुः ॥ १४॥ अयोनिजा योनिजाश्च वायुभक्षा हुताशनाः । ईशानं सर्वलोकस्य वज्रिणं समुपासते ॥ १५ ॥ सहदेवः सुनीथश्च वाल्मीकिश्च महातपाः । शमीकः सत्यवाक् चैव प्रचेताः सत्यसङ्गरः ॥ १६ ॥ मेधातिथिर्वामदेवः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः । मरुत्तश्च मरीचिश्च स्थाणुश्चात्र महातपाः ॥ १७॥ कक्षीवान् गौतमस्तार्क्ष्यस्तथा वैश्वानरो मुनिः । मुनिः कालकवृक्षीय आश्राव्योऽथ हिरण्मयः ॥ १८ ॥ संवर्तो देवहव्यश्च विष्वक्सेनश्च वीर्य्यवान् । कण्वो कात्यायनो राजन् गार्ग्यः कौशिक एव च । दिव्या आपस्तथौषध्यः श्रद्धा मेधा सरस्वती ॥ १९ ॥ अर्थो धर्मश्च कामश्च विद्युतश्चैव पाण्डव । जलवाहास्तथा मेघा

हविष्मान् गरिष्ठ राजा हरिश्चन्द्र हृद्य उदरशाण्डिल्य पाराशर्य कृषीवल वातस्कन्ध विशाख विधाता काल करालदन्त त्वष्टा विश्वकर्मा तुम्बुरु तथा अयोनिज और योनिज वायुको खाकर रहनेवाले हविष्य पर निर्वाह करनेवाले सर्वलोकेश्वर वज्रधारी इन्द्रकी उपासना करते हैं ॥६॥१५॥ सहदेव सुनीथ महातपस्वी वाल्मीकि सत्यवक्ता शमीक सत्यप्रतिज्ञ प्रचेता मेधातिथि वामदेव पुलस्त्य पुलह क्रतु मरुत्त मरीचि महातपा स्थाणु कक्षीवान् गौतम तार्क्ष्य तथा वैश्वानर मुनि कालकवृक्षीय मुनि आश्राव्य हिरण्मय सम्वर्त देवहव्य वीर्यवान् विष्वक्सेन कण्व कात्यायन गार्ग्य कौशिक जल और औषधोंके दिव्य शरीरधारी अधिष्ठात्री देवता श्रद्धा मेधा सरस्वती और हे युधिष्ठिर ! अर्थ धर्म काम बिजलीके अधिष्ठात्री देवता जलवर्षी मेघ वायु और वज्रनिर्घोषके देवता पूर्वदिशा यज्ञवाह

वायव स्तनयित्नवः ॥ २० ॥ प्राची दिग्यज्ञवाहाश्च पावकाः सप्त-
विंशतिः । अग्नीषोमौ तथेन्द्राग्नी मित्रश्च सवितार्यमा ॥ २१ ॥
भगो विश्वे च साध्याश्च गुरुः शुक्रस्तथैव च । विश्वावसुश्चित्रसेनः
सुमनस्तरुणस्तथा ॥ २२ ॥ यज्ञाश्च दक्षिणाश्चैव ग्रहास्ताराश्च
भारत । यज्ञवाहाश्च ये मन्त्रास्सर्वे तत्र समासते ॥२३॥ तथैवाप्स-
रसो राजन् गन्धर्वाश्च मनोरमाः । नृत्यवादित्रगीतैश्च हास्यैश्च विवि-
धैरपि ॥ २४ ॥ रमयन्ति स्म नृपते देवराजं शतक्रतुम् । स्तुतिभि-
र्मङ्गलैश्चैव स्तुवन्तः कर्मभिस्तथा॥२५॥विक्रमैश्च महात्मानं बलवृत्र-
निषूदनम् । ब्रह्मराजर्षयश्चैव सर्वे देवर्षयस्तथा ॥ २६ ॥ विमानै-
र्विविधैर्दिव्यैर्दीप्यमाना इवाग्नयः । स्रग्विणो भूषिताः सर्वे यान्ति
चायान्ति चापरे ॥ २७ ॥ बृहस्पतिश्च शुक्रश्च नित्यमास्तां हि तत्र
वै । एते चान्ये च बहवो महात्मानो यतव्रताः ॥ २८ ॥ विमानै-
श्चन्द्रसङ्काशैस्सोमवत्प्रियदर्शनाः । ब्रह्मणः सदृशा राजन् भृगुः
सप्तर्षयस्तथा ॥ २९ ॥ एषा सभा मया राजन् दृष्टा पुष्कर-

सत्ताईस अग्नि, अग्नि सहित साम इन्द्रसहित अग्नि मित्र सविता
अर्यमा भग विश्वेदेवता गुरु साध्य शुक्र विश्वावसु चित्रसेन सुमन
तरुण यज्ञ दक्षिणा ग्रह तारा और यज्ञवाह सकल मंत्र उस सभामें
विराजमान होते हैं ॥१६-२३॥ हे राजन् ! अप्सरायें और सुरूप
गन्धर्व अनेकों प्रकारके नाच गाने बाजे और हास्य माङ्गलिक
स्तुतिपाठ और वीरताके कर्मोंसे बलवृत्रनाशक इन्द्रको सन्तुष्ट
करते हैं और हे राजन् ! सकल ब्रह्मर्षि राजर्षि और देवर्षि दिव्य
माला आदि धारण किये चन्द्रमाकी समान मनोरम दिव्य विमानों
में बैठे अग्नियोंकी समान प्रज्वलितसे हुए इस सभामें आयाजाया
करते हैं ॥ २४-२७ ॥ बृहस्पति और शुक्रभी वहां नित्य आते
हैं, चन्द्रमाकी समान प्रियदर्शन ब्रह्माजीकी समान कान्तिमान्
यह तथा और भी सकल महात्मा भृगु और सप्तऋषि चन्द्रमाकी
समान विमानोंमें बैठकर इस सभामें आते हैं ॥ २ ॥ २९ ॥ हे

मालिनी । शतक्रतोर्महाबाहो याम्यामपि सभां शृणु ॥ ३० ॥
इति सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि शक्रसभावर्णनं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

नारद उवाच। कथयिष्ये सभां याम्यां युधिष्ठिर निबोध ताम्। वैवस्वतस्य यां पार्थ विश्वकर्मा चकार ह ॥ १ ॥ तैजसी सा सभा राजन् बभूव शतयोजना। विस्तारायामसम्पन्ना भूयसी चापि पाण्डव ॥ २ ॥ अर्कप्रकाशा भ्राजिष्णुः सर्वतः कामरूपिणी। नातिशीता न चात्युष्णा मनसश्च प्रहर्षिणी ॥ ३ ॥ न शोको न जरा तस्यां क्षुत्पिपासे न चाप्रियम्। न च दैन्यं क्लमो वापि प्रतिकूलं न चाप्युत ॥ ४ ॥ सर्वे कामाः स्थितास्तस्यां ये दिव्या ये च मानुषाः। रसवच्च प्रभूतञ्च भक्ष्यभोज्यमरिन्दम। लेह्यं चोष्यञ्च पेयञ्च हृद्यं स्वादु मनोहरम्॥५॥पुण्यगन्धाः स्रजस्तस्यां नित्यं कामफला द्रुमाः । रसवन्ति च तोयानि शीतान्युष्णानि

राजन् ! मैंने यह कमल पंक्तियोंसे सुशोभित इन्द्रकी सभा पहिले अपने नेत्रोंसे देखी है, अब यमराजकी सभाका वर्णन करता हूं उसको सुनो ॥ ३० ॥ सप्तम अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥　　छ

नारदजीने कहा, कि–हे राजन् युधिष्ठिर ! वैवस्वत यमराज की जिस सभाको विश्वकर्माने बनाया था उसका वर्णन करता हूं सुनो ॥ १ ॥ हे पाण्डुनन्दन ! वह सभा तेजोमयी सौ योजन चौड़ी बहुत ही लंबी॥ २ ॥ चारों ओरसे सूर्यकी समान दमकने वाली और यथेच्छरूपधारिणी है उसमें अधिक ठंढ वा गरमी नहीं पड़ती तथा देखनेवालोंके मनको प्रसन्न करदेती है ॥ ३ ॥ उसमें शोक बुढ़ापा भूख प्यास दीनता श्रम आदि कोई भी अप्रिय वा चित्तके प्रतिकूल बात नहीं है । ४॥ देवता वा मनुष्योंके सब ही इच्छित पदार्थ यहां स्थित हैं हे शत्रुनाशन ! रस और स्वाद भरे सुंदर २ बहुतसे चूसने चाटने और पीने आदिके मनचाहे पदार्थ हैं ॥ ५ ॥ तहां पवित्र गन्धवाली मालाएं नित्य इच्छानुसार

चैव हि ॥ ६ ॥ तस्यां राजर्षयः पुण्यास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ।
यमं वैवस्वतं तात प्रहृष्टाः पर्युपासते ॥ ७ ॥ ययातिर्नहुषः
पूरुर्मान्धाता सोमको नृगः । त्रसदस्युश्च राजर्षिः कृतवीर्य्यः श्रुत-
श्रवाः ॥ ८ ॥ अरिष्टनेमिः सिद्धश्च कृतवेगः कृतिर्निमिः । प्रतर्दनः
शिविर्मत्स्यः पृथुलाक्षो बृहद्रथः॥९॥वार्त्तो मरुत्तः कुशिकः सांकाश्यः
सांकृतिर्ध्रुवः । चतुरश्वः सदश्वोर्मिः कार्त्तवीर्यश्च पार्थिवः॥१०॥
भरतः सुरथश्चैव सुनीथो निशठो नलः । दिवोदासश्च सुमना
अम्बरीषो भगीरथः॥११॥व्यश्वः सदश्वो वध्र्यश्वः पृथुवेगः पृथु-
श्रवाः । पृषदश्वो वसुमनाः क्षुपश्च सुमहाबलः । रुषद्गुरुर्वृषसेनश्च
पुरुकुत्सो ध्वजारथी ॥ १२ ॥ आर्ष्टिषेणो दिलीपश्च महात्मा
चाप्युशीनरः । औशीनरिः पुण्डरीकः शर्यातिः शरभः शुचिः॥१३॥
अङ्गोऽरिष्टश्च वेणश्च दुष्यन्तः सृञ्जयो जयः । भाङ्गास्वरिः सुनीथश्च
निषधोऽथ वहीनरः॥१४॥करन्धमो बाह्लिकश्च सुद्युम्नो बलवान्मधुः

फल देनेवाले वृक्ष और रसीले ठंडे तथा गरम जल हैं ॥ ६ ॥ हे
महाराज ! उस सभामें पुण्यात्मा राजर्षि तथा निर्मल ब्रह्मर्षि
आकर प्रसन्न चित्तसे वैवस्वत यमराजकी उपासना करते हैं ७
ययाति नहुष पूरु मान्धाता सोमक नृग राजर्षि-त्रसदस्यु कृतवीर्य
श्रुतश्रवा ॥ ८॥ अरिष्टनेमि सिद्ध कृतवेग कृति कृतिनिमि प्रतर्दन
शिवि मत्स्य पृथुलाक्ष ॥ ९ ॥ वार्त्त मरुत्त कुशिक सांकाश्य सांकृति
ध्रुव चतुरश्व सदश्वोर्मि महाराज कार्त्तवीर्य ॥ १० ॥ भरत
सुरथ सुनीथ निशठ नल दिवोदास-सुमना अम्बरीष भगीरथ
॥ ११ ॥ व्यश्व सदश्व वध्र्यश्व पृथुवेग पृथुश्रवा पृषदश्व
वसुमना महाबली क्षुप वृषद्गु वृषसेन सुन्दर ध्वजावाला
महारथी पुरुकुत्स ॥ १२ ॥ आर्ष्टिषेण दिलीप महात्मा उशीनर
औशीनरि पुण्डरीक शर्याति शुद्धात्मा-शरभ ॥१३॥ अङ्ग अरिष्ट
वेण दुष्यन्त सृञ्जय जय भाङ्गासुरि सुनीथ और वहीनर ॥१४॥

ऐलो मरुत्तश्च तथा बलवान् पृथिवीपतिः ॥ १५ ॥ कपोतरोमा तृणकः सहदेवार्जुनौ तथा। व्यश्वः साश्वः कृशाश्वश्च शशबिन्दुश्च पार्थिवः ॥१६॥रामो दाशरथिश्चैव लक्ष्मणोऽथ प्रतर्दनः। अलर्कः कक्षसेनश्च गयो गौराश्व एव च ॥ १७ ॥ जामदग्न्योऽथ रामश्च नाभागसगरौ तथा। भूरिद्युम्नो महाश्वश्च पृथाश्वो जनकस्तथा ॥ १८ ॥ राजा वैण्यो वारिषेणः पुरुजिज्जनमेजयः। ब्रह्मदत्तस्त्रिगर्तश्च राजोपरिचरस्तथा ॥ १९ ॥ इन्द्रद्युम्नो भीमजानुर्गौरपृष्ठो नलो गयः। पद्मोऽथ मुचुकुन्दश्च भूरिद्युम्न प्रसेनजित् ॥ २० ॥ अरिष्टनेमिः सुद्युम्नः पृथुलाश्वोऽष्टकस्तथा। शतं मत्स्या नृपतयः शतं नीपाः शतं हयाः॥२१॥धृतराष्ट्राश्चैकशतमशीतिर्जनमेजयाः शतञ्च ब्रह्मदत्तानामीरिणां च शतं यथा॥२२॥भीष्माणां द्वे शतेऽप्यत्र भीमानान्तु तथा शतम्। शतञ्च प्रतिविन्ध्यानां शतं नागाः शतं हयाः॥२३॥ पलाशानां शतं ज्ञेयं शतकाशकुशादयः। शान्त-

---

करन्धम बाह्लीक सुद्युम्न बलवान्-मधु ऐल तथा महाबली राजा मरुत्त ॥ १५ ॥ कपोतरोमा तृणक सहदेव तथा अर्जुन व्यश्व साश्व कृशाश्व राजा शशबिन्दु ॥ १६ ॥ दशरथनन्दन राम लक्ष्मण और प्रतर्दन अलर्क कक्षसेन गय और गौराश्व ॥१७॥ जमदग्निके पुत्र परशुराम नाभाग तथा सगर भूरिद्युम्न महाश्व पृथाश्व तथा जनक ॥ १८ ॥ भूपति वैण्य वारिषेण पुरुजित् ब्रह्मदत्त त्रिगर्त तथा राजा उपरिचर ॥ १९ ॥ इन्द्रद्युम्न भीमजानु गौरपृष्ठ अनल गय पद्म मुचुकुन्द भूरिद्युम्न प्रसेनजित् ॥ २० ॥ अरिष्टनेमा सुद्युम्न पृथुलाश्व तथा अष्टक मत्स्य वंशके सौ राजे नीपवंशके सौ भपाल तथा हयवंशके सौ राजे ॥ २१ ॥ एकसौ धृतराष्ट्रवंशी जनमेजयके वंशके अस्सी ब्रह्मदत्तके वंशके सौ तथा इरिवंशके सौ ॥ २२ ॥ भीष्मवंशी देढ़सौ प्रतिविन्ध्यवंशी सौ नागवंशके तथा हयवंशके सौ ॥ २३ ॥ पलाशवंशी सौ तथा कुशकाश आदि सौ तथा हे राजेन्द्र शान्तनु और तुम्हारे पिता

सुर्थश्च राजेन्द्र पांडुश्चैव पिता तव ॥ २४ ॥ उशङ्गवः शतरथो देवराजो जयद्रथः । वृषदर्भश्च राजर्षिर्बुद्धिमान् सह मन्त्रिभिः २५ अथापरे सहस्राणि ये गताः शशबिन्दवः । इष्टाश्वमेधैर्बहुभिर्महद्भिर्भूरिदक्षिणैः॥२६॥एते राजर्षयः पुण्याः कीर्तिमन्तो बहुश्रुताः। तस्यां सभायां राजेन्द्र वैवस्वतमुपासते ॥ २७ ॥ अगस्त्योऽथ मतङ्गश्च कालो मृत्युस्तथैव च । यज्वानश्चैव सिद्धाश्च ये च योगशरीरिणः ॥ २८ ॥ अग्निष्वात्ताश्च पितरः फेनपाश्चोष्मपाश्च ये । स्वधावन्तो बर्हिषदो मूर्तिमन्तस्तथापरे ॥२९॥ कालचक्रश्च साक्षाच्च भगवान् हव्यवाहनः । नरा दुष्कृतकर्माणो दाक्षिणायनमृत्यवः ॥ ३० ॥ कालस्य नयने युक्ता यमस्य पुरुषाश्च ये । तस्यां शिंशपपालाशास्तथा काशकुशादयः ॥ ३१॥ उपासते धर्मराजं मूर्तिमन्तो जनाधिप । एते चान्ये च बहवः पितृराजसभासदाः ॥ ३२ ॥ न शक्यः परिसंख्यातुं नामभिः कर्मभिस्तथा । अस-

पांडु ॥ २४ ॥ उपङ्गव शतरथ देवराज जयद्रथ मंत्रियों सहित बुद्धिमान् राजर्षि वृषदर्भ ॥ २५ ॥ तथा और भी बहुतसी दक्षिणावाले बड़े २ अश्वमेध यज्ञोंके करनेसे स्वर्गमें पहुँचे हुए शशविंदुवंशी सहस्रों राजे ॥ २६ ॥ हे राजन् ! वह सकल परमपवित्र कीर्तिमान् और पूर्ण विद्वान् राजर्षि तिस सभामें आकर यमराजकी उपासना करते हैं ॥२७॥ अगस्त्य मतङ्ग काल तथा मृत्यु यज्वा योग शरीरधारी सिद्ध ॥ २८ ॥ अग्निष्वात्त फेनप ऊष्मप स्वधावान् और बर्हिषद् आदि तथा और भी शरीरधारी पितर ॥२९॥ कालचक्र साक्षात् भगवान् अग्नि दक्षिणायनमें मरनेवाले दुष्कर्मी मनुष्य ३० कालके पहुँचानेमें नियत कियेहुए यमराजके पुरुष शिंशप पालाश तथा काशकुशा आदि हे राजन् । यह सब मूर्तिमान् तिस सभा में पितृपति यमराजके सभासद बनकर उपासना करते हैं इनके सिवाय और भी बहुतसे आकर धर्मराजकी उपासना करते हैं ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ जिनके कि नाम और कार्मोकी गिनती नहीं की

न्याय हि सा पार्थ रम्या कामगमा सभा दीर्घकालं तपस्तप्त्वा निर्मिता विश्वकर्मणा ॥ ३३ ॥ ज्वलन्ती भासमाना च तेजसा स्वेन भारत । तामुग्रतपसो यान्ति सुव्रताः सत्यवादिनः ॥ ३४ ॥ शान्ताः सन्न्यासिनः शुद्धाः पूताः पुण्येन कर्मणा । सर्वे भास्वरदेहाश्च सर्वे च विरजोऽम्बराः ॥ ३५ ॥ चित्राङ्गदाश्चित्रमाल्याः सर्वे ज्वलितकुण्डलाः॥सुकृतैः कर्मभिः पुण्यैः पारिबर्हैश्च भूषिताः ॥३६॥ गन्धर्वाश्च महात्मानः संघशश्चाप्सरोगणाः । वादित्रं नृत्यगीतं च हास्यं लास्यञ्च सर्वशः॥३७॥पुण्याश्च गन्धाः शब्दाश्च तस्यां पार्थ समन्ततः । दिव्यानि चव माल्यानि उपतिष्ठन्ति नित्यशः॥३८॥शतं शतं सहस्राणि धर्मिणां च प्रजेश्वरम् । उपासते महात्मानं रूपयुक्ता मनस्विनः॥३९॥ईदृशी सा सभा राजन् पितृराज्ञो महात्मनः । वरुणस्यापि वक्ष्यामि सभां पुष्करमालिनीम्॥४०॥इति सभापर्वणि लोकपाल सभाख्यान पर्वणि यमसभा वर्णनं नाम अष्टमोऽध्यायः॥८॥

जा सकती है, राजन् ! देवशिल्पी विश्वकर्माने बहुत समय तक तपस्या करके उस परमरमणीय सभाको बनाया था यह सभा इच्छानुसार चाहे जहां जासकती है ॥ ३३ ॥ हे राजन् ! यह अपने तेजके प्रभावसे मानो हर समय प्रज्वलित रहती है उग्रतपस्वी श्रेष्ठ व्रत करने वाले मानो सत्यवादी शान्तस्वभाव विशुद्ध परम पवित्र सन्यासी और तेजोमय शरीरधारी दिव्य वस्त्र पहिरे विचित्र बाजूबन्द रंगविरंगी माला और उज्ज्वलकुण्डल आदि नानाप्रकार के भूषणोंसे शोभित सत्कर्म करनेवाले पुण्यशील महात्मा गन्धर्व और अप्सरायें तिस सभामें जाते हैं तहां विविध प्रकारका गाना बजाना हास्य और नाच होता है॥३४-३७॥ हे पार्थ! उस सभा में चारों ओर पवित्र गन्ध और शब्द तथा दिव्य मालाएं नित्य आती हैं ॥ ३८ ॥ सैकड़ों लाख दिव्यरूपधारी मनस्वी धार्मिक महात्मा यमराजकी उपासना करते हैं ॥३९॥ हे राजन् ! महात्मा धर्मराजकी यह सभा इस प्रकारकी है अब कमलमालाशोभिता वरुणकी सभाका वर्णन करता हूं॥४०॥अष्टम अध्याय समाप्त॥८॥

नारद उवाच । युधिष्ठिरसभा दिव्या वरुणस्यामितप्रभा । प्रमाणेन यथा याम्या शुभप्राकारतोरणा ॥ १ ॥ अन्तःसलिलमास्थाय विहिता विश्वकर्मणा । दिव्यै रत्नमयैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युता ॥ २ ॥ नीलपीतासितश्यामैः सितैर्लोहितकैरपि । अवतानैस्तथा गुल्मैर्मञ्जरीजालधारिभिः ॥ ३ ॥ तथा शकुनयस्तस्यां विचित्रा मधुरस्वराः । अनिर्देश्या वपुष्मन्तः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ४ ॥ सा सभा सुखसंस्पर्शा न शीता न च घर्मदा । वेश्मासनवती रम्या सिता वरुणपालिता ॥५॥ यस्यामास्ते स वरुणो वारुण्या च समन्वितः । दिव्यरत्नाम्बरधरो दिव्याभरणभूषितः ॥ ६ ॥ स्रग्विणो दिव्यगन्धाश्च दिव्यगन्धानुलेपनाः । आदित्यास्तत्र वरुणं जलेश्वरमुपासते ॥ ७ ॥ वासुकिस्तक्षकश्चैव नागश्चै-

---

देवर्षि नारदजीने कहा कि—हे युधिष्ठिर ! देवशिल्पी विश्वकर्माने वरुणकी बड़े प्रभाववाली बहुत ऊँची और श्वेत परकोटों से घिरी धर्मराजकी समान ही लंबी चौड़ी एक सभा जलके भीतर बनाई है यह सभा दिव्य फल फल देनेवाले रत्नजड़े रमणीय वृक्षोंसे शोभित है ॥ १ ॥ २ ॥ नीले पीले लाल काले हरे चंदोयेके समान फैले हुए और झब्बेदार मंजरीके समूहोंसे युक्त वृक्षोंसे शोभित है ॥ ३ ॥ तथा उस सभामें मीठी बोलीवाले नाना प्रकारके सैंकड़ों सहस्रों पहिचानमें न आनेवाले पक्षी इधर उधर विहार करते हैं ॥४॥ उस सभामें न अधिक गर्मी और न अधिक ठंढ है उसका स्पर्श भी सुखदायक है, वरुणदेवकी उस श्वेतसभा में जहाँ तहाँ रहनेके स्थान और बैठनेको चौंतरी बनी हैं ॥ ५ ॥ जहाँ वरुणदेव दिव्य वस्त्र धारण किये और दिव्य आभूषणों को पहिरे अपनी सहधर्मिणी वारुणी देवीके साथ विराजमान होते हैं ॥ ६ ॥ तहाँ सुगंधित चंदनचर्चित दिव्य मालाधारी आदित्य जलनाथ वरुणकी उपासना करते हैं ॥ ७ ॥ वासुकि तक्षक नाग ऐरावत काले लाल तथा विचित्र वर्णोके वीर्यवान् पद्म

रावतस्तथा। कृष्णश्च लोहितश्चैव पद्मश्चित्रश्च वीर्यवान् ॥ ८ ॥ कम्बलाश्वतरौ नागौ धृतराष्ट्रबलाहकौ। मणिमान् कुण्डधारश्च कर्कोटकधनञ्जयौ॥९॥पाणिमान् कुण्डकश्चैव बलवान् पृथिवीपते। प्रह्लादो मूषिकादश्च तथैव जनमेजयः ॥१०॥ पताकिनो मण्डलिनः फणावन्तश्च सर्वशः। एते चान्ये च बहवः सर्पास्तस्यां युधिष्ठिर ॥ ११ ॥ उपासते महात्मानं वरुणं विगतक्लमाः। बलिर्वैरोचनो राजा नरकः पृथिवीञ्जयः ॥ १२ ॥ संह्रादो विप्रचित्तिश्च कालखञ्जाश्च दानवाः। सुहनुर्दुर्मुखः शङ्खः सुमनाः सुमतिस्तथा ॥ १३ ॥ घटोदरो महापार्श्वः क्रथनः पिठरस्तथा। विश्वरूपः स्वरूपश्च विरूपोऽथ महाशिराः ॥ १४ ॥ दशग्रीवश्च वाली च मेघवासा दशावरः। टिट्टिभो विटभूतश्च संह्रादश्चेन्द्रतापनः १५ दैत्यदानवसंघाश्च सर्वे रुचिरकुण्डलाः। स्रग्विणो मौलिनश्चैव तथा दिव्यपरिच्छदाः ॥१६॥ सर्वे लब्धवराः शूराः सर्वे विगत-

---

नामक नाग ॥८॥ कम्बल अश्वतर धृतराष्ट्र, बलाहक मणिमान कुण्डलधार कर्कोटक और धनञ्जय नामकनाग ॥ ९ ॥ हे राजन्! पाणिमान् बलवान् कुण्डल महाद मूषिकाद तथा जनमेजय पताकी फणावान् अनेकों मण्डली सर्प हे राजन् युधिष्ठिर! यह तथा और भी बहुतसे सर्प उस सभामें विश्रामके साथ महात्मा वरुण की उपासना करते हैं और विरोचनकुमार बलि पृथिवी विजयी राजा नरक॥१०-१२॥ संह्राद विप्रचित्ति कालखञ्ज सकल दानव सुहनु शङ्ख दुर्मुख सुमना सुमति॥१३॥ घटोदर महापार्श्व क्रथन पिठर विश्वरूप स्वरूप विरूप महाशिरा ॥ १४ ॥ दशग्रीव वाली मेघवासा दशावार टिट्टिभ विटभूत संह्राद इंद्रतापन ॥१५॥ दिव्य कुण्डलधारी वर पाये हुए वीरोंमें अग्रणी और मृत्युतकको जीतने वाले अनेकों दैत्य दानवों के समूह माला मुकुट और दिव्य वस्त्रोंको धारण कियेहुए तिस सभामें सुनियमके साथ धर्मपाशधारी महात्मा

मृत्यवः । ते तस्यां वरुणं देवं धर्मपाशधरं सदा ॥ १७ ॥ उपासते महात्मानं सर्वे सुचरितव्रताः । तथा समुद्राश्चत्वारो नदी भागीरथी च सा ॥ १८ ॥ कालिन्दी विदिशा वेण्वा नर्मदा वेगवाहिनी । विपाशा च शतद्रुश्च चन्द्रभागा सरस्वती ॥ १९ ॥ इरावती वितस्ता च सिन्धुर्देवनदी तथा । गोदावरी कृष्णवेण्वा कावेरी च सरिद्वरा ॥ २० ॥ किम्पुना च विशल्या च तथा वैतरणी नदी । तृतीया ज्येष्ठिला चैव शोणश्चापि महानदः । चर्मण्वती तथा चैव पर्णाशा च महानदी ॥ २१ ॥ सरयूर्वारवत्याथ लाङ्गली च सरिद्वरा । करतोया तथात्रेयी लौहित्यश्च महानदः ॥२२॥ लघन्ती गोमती चैव सन्ध्या त्रिस्रोतसी तथा । एताश्चान्याश्च राजेन्द्र सुतीर्था लोकविश्रुताः ॥ २३ ॥ सरितः सर्वतश्चान्यास्तीर्थानि च सरांसि च । कूपाश्च सप्रस्रवणा देहवन्तो युधिष्ठिर ॥ २४ ॥ पल्वलानि तडागानि देहवन्त्यथ भारत । दिशास्तथा मही चैव तथा सर्वे महीधराः ॥ २५ ॥ उपासते महात्मानं सर्वे

वरुणदेवकी सदा उपासना करते हैं तथा चारों समुद्र जगत्प्रसिद्ध भागीरथी नदी।१६-१८।कालिंदी विदिशा वेण्वा वेगसे बहनेवाली नर्मदा विपाशा शतद्रु चन्द्रभागा सरस्वती॥१९॥ वितस्ता देवनदी सिन्धु गोदावरी कृष्णा वेण्वा नदियोंमें श्रेष्ठ कावेरी ॥ २० ॥ किम्पुना विशल्या तृतीया वैतरणी ज्येष्ठिला महानद शोण चर्मण्वती महानदी पर्णाशा॥२१॥सरयू वारवत्या सरिद्वरा लाङ्गली करतोया आत्रेयी तथा महानद लौहित्य ॥२२॥ लघन्ती गोमती सन्ध्या त्रिस्रोतसी हे राजेन्द्र ! यह सब जगत्प्रसिद्ध श्रेष्ठ तीर्थरूप नदियें तथा और भी सब ओरकी नदियें तीर्थसरोवर कूप और झरने हे युधिष्ठिर ! यह सब मूर्त्ति धारण किये ॥३-२४ हे राजन् ! देहधारी पल्वल तालाव और दिशाएं तथा सकल पर्वत ॥ २५ ॥ और सकल जलचर जीव महात्मा वरुणकी उपा-

जलचरास्तथा । गीतवादित्रवन्तश्च गंधर्वाप्सरसाङ्गणाः ॥ २६ ॥ स्तुवन्तो वरुणं तस्यां सर्व एव समासते । महीधरा रत्नवन्तो रसा ये च प्रतिष्ठिताः ॥ २७ ॥ कथयन्तः सुमधुराः कथास्तत्र समासते। वारुणश्च तथा मन्त्री सुनाभः पर्युपासते ॥ २८ ॥ पुत्रपौत्रैः परिवृतो गोनाम्ना पुष्करेण च । सर्वे विग्रहवन्तस्ते तमीश्वरमुपासते ॥ २९ ॥ एषा मया सम्पतता वारुणी भरतर्षभ । दृष्टपूर्वा सभा रम्या कुबेरस्य सभां शृणु ॥ ३० ॥ छ । छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि वरुणसभावर्णनं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

नारद उवाच । सभा वैश्रवणी राजन् शतयोजनमायता । विस्तीर्णा सप्ततिश्चैव योजनानि सितप्रभा ॥ १ ॥ तपसा निर्जिता राजन् स्वयं वैश्रवणेन सा । शशिप्रभाप्रावरणा कैलासशिखरोपमा ॥ २ ॥ गुह्यकैरुह्यमाना सा खे विषक्तेव शोभते । दिव्या हेम-

---

सना करते हैं, गाने बजानेमें लगे हुए गन्धर्व और अप्सराओं के समूह वरुणकी प्रशंसा करते हुए सब ही उस सभामें उपस्थित होते हैं, रत्नोंवाले पर्वत और प्रतिष्ठित रस वहां बैठेहुए सुंदर मधुर कथायें कहते हैं और वरुणका सुनाभ नामक मंत्री भी उपासना करता है ॥ २६—२८ ॥ गानामा पुष्कर भी पुत्रपौत्रादि से युक्त यह सब शरीर धारण करके जलपति कुबेरकी उपासना करते हैं ।२९॥ हे भरतकुलोत्तम ! मैंने विचरतेहुए पहिले यह वरुणकी रमणीय सभा देखीहै अब कुबेरकी सभाको सुनो ।.३० । नवम अध्याय समाप्त ॥ ९ ॥ छ ॥ छ

नारदजीने कहा कि—हे राजन् ! कुबेरकी सभा सौ योजन लंबी सत्तर योजन चौड़ी और श्वेत कांतिवाली है ॥ १ ॥ यह चन्द्रमाकी कान्तिसे ढकीहुई सभा कैलासके शिखरकी समान है, कुबेरने बहुत दिनोंतक तप करके इसको पाया था ॥ २ ॥ जब उसको गुह्यक उठाते हैं तब आकाशमें लटकती हुई सी प्रतीत

मयैरुच्चैः प्रासादैरुपशोभिता ॥ ३ ॥ महारत्नवती चित्रा दिव्य-गन्धा मनोरमा। सिताभ्रशिखराकारा प्लवमानेव दृश्यते॥४॥दिव्या हेममयैरंगैर्विद्युद्भिरिव चित्रिता। तस्यां वैश्रवणो राजा विचित्रा भरणाम्बरः ॥ ५ ॥ स्त्रीसहस्रैर्वृतः श्रीमानास्ते ज्वलितकुण्डलः। दिवाकरनिभे पुण्ये दिव्यास्तरणसंवृते ॥ ६ ॥ दिव्यपादोपधाने च निषण्णः परमासने। मन्दाराणामुदाराणां वनानि परिलोडयन् ॥ ७ ॥ सौगन्धिकवनानां च गन्धं गन्धवहो वहन्। नलिन्या श्चालकाख्याया नन्दनस्य वनस्य च। शीतो हृदयसह्लादी वायुस्तमुपसेवते ॥ ८ ॥ तत्र देवाः सगन्धर्वाः गणैरप्सरसां वृताः। दिव्यतानैर्महाराज गायन्ति स्म सभागताः ॥ ९ ॥ मिश्रकेशी च रम्भा च चित्रसेना शुचिस्मिता। चारुनेत्रा घृताची च मेनका

होती है, वह दिव्य सभा ऊँचे २ सुनहरी महलोंसे शोभायमान है ॥ ३ ॥ बहुमूल्य अनेकों रत्न उसकी विचित्र शोभाको बढ़ाते हैं, दिव्यगंधसे सबकी नासिकाओंको तृप्त करती है और स्वेत मेघके शिखरोंकी समान झूलती हुई सी प्रतीत होती है, दिव्य सुनहरी भागोंसे ऐसी प्रतीत होती है मानो बिजलियें चीती हैं, इस सभामें श्रीमान् महाराज कुबेर विचित्र वस्त्र और आभूषण धारणकर सहस्रों स्त्रियोंसे घिरे हुए सूर्यकी समान प्रकाशवान् परम पवित्र रत्नसे ढकेहुए पादपीठयुक्त बहुमूल्य आसनपर विराजमान होते हैं मनोहर शीतल पवन मन्दारके वनोंको कम्पायमान करता और अनेकों प्रकारके कमल कह्लार अलकापुरी और नन्दनके सुगन्धको लेता हुआ वरुणकी उपासना करता है ॥४॥ ॥ ८ ॥ हे महाराज उस सभामें देवता गन्धर्व और अप्सराओं से घिरे हुए आकर दिव्य तानोंसे गान करते हैं ॥ ९ ॥ मिश्र-केशी, रंभा, सुन्दर मुसकानवाली चित्रसेना, सुन्दर नेत्रोंवाली घृताची, मेनका पुञ्जिकस्थली विश्वाची सहजन्या प्रम्लोचा उर्वशी

पुञ्जिकस्थली । विश्वाची सहजन्या च प्रम्लोचा उर्वशी इरा ॥१०॥ वर्गा च सौरभेयी च समीची बुद्बुदा लता । एताः सहस्रशश्चान्या नृत्यगीतविशारदाः ॥ ११ ॥ उपतिष्ठन्ति धनदं गन्धर्वाप्सरसां गणाः । अनिशं दिव्यवादित्रैर्नृत्यगीतैश्च सा सभा ॥ १२ ॥ अशून्या रुचिरा भाति गंधर्वाप्सरसां गणैः । किन्नरा नाम गंधर्वा नरा नाम तथापरे ॥ १३ ॥ मणिभद्रोऽथ धनदः श्वेतभद्रश्च गुह्यकः । कशेरको गण्डकंडुः प्रद्योतश्च महाबलः ॥ १४ ॥ कुस्तुम्बुरुः पिशाचश्च गजकर्णो विशालकः । वराहकर्णस्ताम्रोष्ठः फलकक्षः फलोदकः ॥ १५ ॥ हंसचूडः शिखावर्तो हेमनेत्रो विभीषणः । पुष्पाननः पिङ्गलकः शोणितोदः प्रवालकः ॥ १६ ॥ वृक्षवाप्यनिकेतश्च चीरवासश्च भारत । एते चान्ये च बहवो यक्षाः शतसहस्रशः ॥१७॥ सदा भगवती लक्ष्मीस्तत्रैव नलकूबरः । अहञ्च बहुशस्तस्यां भवन्त्यन्ये च मद्विधाः ॥१८॥ ब्रह्मर्षयो भवन्त्यत्र तथा देवर्षयोऽपरे । क्रव्यादाश्च तथैवान्ये गन्धर्वाश्च महाबलाः । उपासते

इरा वर्गा सौरभेयी समीची बुद्बुदा लता यह तथा और भी सहस्रों नाचने गानेमें प्रवीण गन्धर्व और अप्सराएँ कुबेरकी उपासना करते हैं यह सभा दिव्य बाजे नाच गान और गन्धर्व अप्सराओं के समूहोंसे भरी रहकर सुन्दर शोभा से विराजती है ॥ १० ॥ ॥ १३ ॥ मणिभद्र धनद श्वेतभद्र गुह्यक कशेरक गण्डकंडु महाबल प्रद्योत कुस्तुम्बुरु पिशाच गजकर्ण विशालक वराहकर्ण ताम्रोष्ठ फलकक्ष फलोदक हंसचूड़ शिखावर्त्त हेमनेत्र विभीषण पुष्पानन पिंगलक शोणितोद प्रवालक वृक्षवाप्यनिकेत चीरवासा यह तथा और भी सैंकड़ों सहस्रों यक्ष उस सभामें जाकर बैठते हैं ॥ १४ ॥ ॥ १७ ॥ जिस सभामें भगवती लक्ष्मी नियमसे रहती हैं नलकूबर और मैं भी आया करता हूं तथा मुझसे अनेकों व्यक्ति न जाने कितनी बार वहां आते हैं ॥ १८ ॥ जिस सभामें ऋषि, देवर्षि उपस्थित होते हैं और राक्षस तथा महाबली गन्धर्व धनेश्वर

महात्मानं तस्थौ धनदमीश्वरम् ॥ १६ ॥ भगवान् भूतसंघैश्च वृतः शतसहस्रशः । उमापतिः पशुपतिः शूलभृद्भगनेत्रहा ॥ २० ॥ त्र्यम्बको राजशार्दूल देवी च विगतक्लमा । वामनैर्विकटैः कुब्जैः क्षतजाक्षैर्महारवैः ॥ २१ ॥ मेदोमांसाशनैरुग्रैरुग्रधन्वा महाबलः । नानाप्रहरणैरुग्रैर्वातैरिव महाजवैः ॥ २२ ॥ वृतः सखायमन्वास्ते सदैव धनदं नृप । प्रहृष्टाः शतशश्चान्ये बहुशः सपरिच्छदाः ॥ २३ ॥ गन्धर्वाणां च पतयो विश्वावसुर्हाहाहूहूः । तुम्बुरुः पर्वतश्चैव शैलूषश्च तथापरः ॥ २४ ॥ चित्रसेनश्च गीतज्ञः तथा चित्ररथोऽपि च । एते चान्ये च गन्धर्वा धनेश्वरमुपासते ॥ २५ ॥ विद्याधराधिपश्चैव चक्रधर्मा सहानुजैः । उपाचरति तत्र स्म धनानामीश्वरं प्रभुम् ॥ २६ ॥ किन्नराः शतशस्तत्र धनानामीश्वरं प्रभुम् । आसते चापि राजानो भगदत्तपुरोगमाः ॥ २७ ॥ द्रुमः

कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ १६ ॥ हाथमें त्रिशूल धारण किये भगनेत्रहारी भवानीपति भगवान् त्रिनयन महादेव प्रसन्नमुखी भगवती पार्वती सहित बौने विकट कुबड़े लाल २ नेत्र और बड़ी गर्जनावाले तथा मेदे और मांस खाने वाले सैंकड़ों सहस्रों भूत गणोंसे घिर कर यहाँ विराजमान होते हैं । और हे राजन् ! वायु की समान बड़े वेगवाले अनेकों शास्त्रोंको धारण किये महाबली इन्द्र सर्वदा अपने मित्र कुबेरके साथ तहां बैठते हैं । विश्वावसु हाहा हूहू, तुंबुरु पर्वत, शैलूप, गानका जाननेवाला चित्रसेन तथा चित्ररथ आदि गन्धर्वपति तथा और भी बहुतसे सहस्रों प्रसन्न गन्धर्व अपनी सामग्री सहित तहां आकर कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ २०—२५ ॥ तहां अपने भ्राताओं सहित विद्याधरोंका स्वामी चक्रधर्मा आकर अपने प्रभु धनपति कुबेरकी उपासना करता है ॥ २६ ॥ तहां सैकड़ों किन्नर तथा भगदत्त आदि राजे आकर कुबेरकी उपासनामें लगे रहते हैं ॥ २७ ॥ किम्पुरुषोंका स्वामी

किम्पुरुषेशश्च उपासते धनदेश्वरम् । राक्षसाधिपतिश्चैव महेन्द्रो गन्धमादन ॥ २८ ॥ सह यक्षैः सगन्धर्वैः सह सर्वैर्निशाचरैः । विभीषणश्च धर्मिष्ठ उपास्ते भ्रातरं प्रभुम् ॥ २९ ॥ हिमवान् पारियात्रश्च विन्ध्यकैलासमन्दराः । मलयो दर्दरश्चैव महेन्द्रो गन्धमादनः ॥ ३० ॥ इन्द्रकील सुनाभश्च तथा दिव्यौ च पर्वतौ । एते चान्ये च बहवः सर्व मेरुपुरोगमाः ॥ ३१ ॥ उपासते महात्मानं धनानामीश्वरं प्रभुम् । नन्दीश्वरश्च भगवान् महाकालस्तथैव च ॥ ३२ ॥ शंकुकर्णमुखाः सर्वे दिव्याः पारिषदास्तथा । काष्ठः कुटीमुखो दन्ती विजया च तपोऽधिका ॥ ३३ ॥ श्वेतश्च वृषभस्तत्र नर्दन्नास्ते महाबलः । धनदं राक्षसाश्चान्ये पिशाचाश्च उपासते ॥ ३४ ॥ पारिषदैः परिवृतमुपायाति महेश्वरम् । सदा हि देवदेवेशं शिवं त्रैलोक्यभावनम् ॥ ३५ ॥ प्रणम्य मूर्ध्ना पौलस्त्यो बहुरूपमुमापतिम् । ततोऽभ्यनुज्ञां सम्प्राप्य महादेवाद्धनेश्वरः ।

और राक्षसपति, महेन्द्र, गन्धमादन और महात्मा विभीषण यक्ष, गन्धर्व तथा सकल राक्षसों सहित आकर अपने भाई कुवेरकी उपासना करते हैं ॥ २८ ॥ २९ ॥ हिमालय, पारियात्र, विन्ध्य कैलाश, मन्दर, मलय, दर्दुर, महेन्द्र, गंधमादन, इन्द्रकील, सुनाभ दो दिव्य पर्वत तथा मेरु आदि और भी अनेकों पर्वत मूर्तिमान् होकर धनपति महात्मा कुवेरकी उपासना करते हैं। नन्दीश्वर, भगवान् महाकाल शंकुकर्ण आदि सकल पार्षद काष्ठ, कुटीमुख, दन्ती, परमतपस्विनी विजया, महाबली दहाड़नेवाला श्वेतवर्ण वृषभ और भी अनेकों राक्षस तथा पिशाच कुवेरकी उपासना करते हैं॥३०॥ ॥ ३४ ॥ पुलस्त्य कुमार सर्वदा ही अपने पारिषदोंसे घिरेहुए त्रिलोकके रक्षक, अनेकरूपधारी, उमापति, देवदेव शिवको मस्तक नमा प्रणाम करके और उन महादेवसे आज्ञा पाकर कभी २ उन के समीप आया करते हैं और कभी भगवान् शिव भी निजगण से कुवेरके पास आते हैं ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ धन भंडारके प्रधानरक्षक

आस्ते कदाचिद्भगवान् भवो धनपतेः सखा ॥ ३६ ॥ निधिप्रवर-
मुख्यौ च शंखपद्मौ धनेश्वरौ । सर्वान्निधीन् प्रगृह्याथ उपास्तां वै
धनेश्वरम् ॥ ३७ ॥ सा सभा तादृशी रम्या मया दृष्टान्तरिक्षगा
पितामहसभा राजन् कीर्तयिष्यामि बोधताम् ॥ ३८ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि धनद-
सभावर्णनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

नारद उवाच । पितामहसभां तात कथ्यमानां निबोध मे ।
शक्यते या न निर्देष्टुमेवंरूपेति भारत ॥ १ ॥ पुरा देवयुगे राज-
न्नादित्यो भगवान्दिवः । आगच्छन्मानुषं लोकं दिदृक्षुर्विगतक्लमः
॥ २ ॥ चरन्मानुषरूपेण सभां दृष्ट्वा स्वयम्भुवः । सतामकथयन्मह्यं
दृष्ट्वा तत्त्वेन पांडव ॥ ३ ॥ अप्रमेयां सभां दिव्यां मानसीं भरत-
र्षभ । अनिर्देश्यां प्रभावेण सर्वभूतमनोरमाम् ॥ ४ ॥ श्रुत्वा गुणा-
नहं तस्याः सभायाः पांडवर्षभ । दर्शनेप्सुस्तथा राजन्नादित्यमि-

शंख और पद्म सकल रत्नोंको लेकर कुवेरकी उपासना करते
हैं ॥ ३७ ॥ हे महाराज ! मैंने ऐसी रमणीय आकाशमें रहनेवाली
तिस सभाको बहुत बार देखा है, अब ब्रह्माजीकी सभाका वर्णन
करता हूं उसको भी सुनो ॥ ३८ ॥ दशम अध्याय समाप्त ॥१०॥

नारदजी कहते हैं, कि–हे भरतकुलोत्पन्न युधिष्ठिर ! अब मैं
पितामह ब्रह्माकी सभाका वर्णन करता हूं सुनो, उस सभाको
यह नहीं कहा जा सकता कि–अमुककी समान है ॥ १ ॥ हे महा
राज ! पहिले सत्ययुगमें एक समय भगवान् आदित्य मर्त्यलोक
को देखनेकी इच्छा करके परमसुखसे भूलोकमें चलेआये थे ॥२॥
उन्होंने मनुष्यविग्रह धारण करके प्रसन्नचित्तसे इधर उधर विच-
रते हुए ब्रह्माजीकी मानसी सभाको देखा और हे युधिष्ठिर !
उन्होंने मुझसे उसका यथावत् वर्णन किया ॥ ३ ॥ हे नारद !
ब्रह्माकी मानसी सभा अवर्णनीय, अप्रमेय और सकल प्राणियों
के मनोंको प्रसन्न करनेवाली है॥४॥ हे पांडवोत्तम ! मैंने आदित्य

दमप्युवम् ॥ ५ ॥ भगवन् द्रष्टुमिच्छामि पितामहसभां शुभाम् । येन वा तपसा शक्या कर्मणा वापि गोपते ॥ ६ ॥ औषधैर्वा तथा युक्तैरुत्तमा पापनाशिनी । तन्ममाचक्ष्व भगवन् पश्येयं तां सभां यथा ॥ ७ ॥ स तन्मम वचः श्रुत्वा सहस्रांशुर्दिवाकरः । प्रोवाच भरतश्रेष्ठ व्रतं वर्षसहस्रकम् ॥८॥ ब्रह्मव्रतमुपास्व त्वं प्रयतेनान्तरात्मना । ततोऽहं हिमवत्पृष्ठे समारब्धो महाव्रतम् ॥ ९ ॥ ततः स भगवान् सूर्यो मामुपादाय वीर्यवान् । आगच्छत्तां सभां ब्राह्मीं विपाप्मा विगतक्लमः ॥ १० ॥ एवंरूपेतिसा शक्या न निर्देष्टुं नराधिप । क्षणेन हि बिभर्त्यन्यदनिर्देश्यं वपुस्तथा ॥ ११ ॥ न वेद परिमाणं वा संस्थानं वापि भारत । न च रूपं मया तादृग् दृष्टपूर्वं कदाचन ॥ १२ ॥ सुसुखा सा सदा राजन्न शीता न च

से ब्रह्मसभाके वर्णनको सुनकर उसी समय उसको देखने के चावमें भरकर उनसे कहा, कि–॥ ५ ॥ हे भगवन् ! सकल पापनाशिनी उत्तम शुभा ब्रह्मसभाका दर्शन करनेकी मेरी बहुत ही इच्छा है, इसकारण मैं जिस प्रकारकी तपस्या, औषध, योग वा कर्मके द्वारा उस सभाका दर्शन पा सकूं उसको बताइये ॥६॥ ॥ ७ ॥ हे भरतकुल-भूषण ! उन सहस्रों किरणधारी आदित्यने मेरे वचनको सुनकर सहस्रवर्षमें होने योग्य व्रत बताया ॥ ८ ॥ उन्होंने कहा कि–पवित्रचित्त होकर ब्रह्मव्रतकी उपासना करो, तब मैंने हिमालयके ऊपर जाकर उस महाव्रतका आरंभ किया ॥ ९ ॥ उस व्रतके पूर्ण होजाने पर वह वीर्यवान् निष्पाप प्रसन्न-रूप आदित्य भगवान् मुझे लेकर तिस ब्रह्माजीकी सभामें गए ॥ १० ॥ हे राजन् ! वह सभा ऐसा परम उत्तम थी, कि–मैं कोई दृष्टान्त ही नहीं पाता कि– जिससे उसका वर्णन करसकूं वह सभा क्षण २ में दूसरे अकथनीय रूपको धारण करलेती है ११ हे युधिष्ठिर ! वह कितनी लंबी चौड़ी है और किस प्रकार स्थित है, यह जाननेमें नहीं आता ऐसी सुंदर कोई भी वस्तु पहिले कभी देखी ही नहीं ॥१२॥ हे राजन् ! उस सभामें परम सुख मिलता

घर्मदा । न क्षुत्पिपासे न ग्लानिं प्राप्य तां प्राप्नुवन्त्युत ॥ १३ ॥
नानारूपैरिव कृता मणिभिः सा सुभास्वरैः । स्तम्भैर्न च धृता
सा तु शाश्वती न च सा क्षरा ॥ १४ ॥ दिव्यैर्नानाविधैर्भावै-
र्भासद्भिरमितप्रभैः । अतिचन्द्रश्च सूर्यश्च शिखिनश्च स्वयंप्रभा ॥ १५
दीप्यते नाकपृष्ठस्था भर्त्सयन्तीव भास्करम् । तस्यां स भगवाना-
स्ते विदधद्देवमायया ॥ १६ ॥ स्वयमेकोऽनिशं राजन् सर्वलोक-
पितामहः । उपतिष्ठन्ति चाप्येनं प्रजानां पतयः प्रभुम् ॥ १७ ॥
दक्षः प्रचेताः पुलहो मरीचिः कश्यपः प्रभुः । भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च
गौतमोऽथ तथाङ्गिराः ॥ १८ ॥ पुलस्त्यश्च क्रतुश्चैव प्रह्लादः
कर्दमस्तथा । अथर्वाङ्गिरसश्चैव वालखिल्या मरीचिपाः ॥ १६ ॥
मनोऽन्तरीक्षं विद्याश्च वायुस्तेजो जलं मही । शब्दस्पर्शौ तथा
रूपं रसो गन्धश्च भारत ॥ २० ॥ प्रकृतिश्च विकारश्च यच्चान्यत्

है न ठंढ सताती है, न गरमी लगती है, जो प्राणी वहां पहुंच जाते हैं उनको भूख, प्यास वा ग्लानि नहीं सताती ॥ १३ ॥ वह परम प्रकाशमय मणियोंसे बनाईगई है यह सदा रहनेवाली सभा खंभोंके आधार पर नहीं है तथा अपने स्थानसे गिरती भी नहीं है ॥ १४ ॥ तहां नाना प्रकारके दिव्य और परमकान्तिमान् पदार्थ प्रकट रहते हैं, उस सभाकी कान्तिका समूह, चन्द्र सूर्य और अग्निका उपहास करके आकाशमें अपनी शोभाको फैला-रहा है ॥ १५ ॥ स्वर्गकी पीठपर स्थित यह सभा अपने तेजसे मानो सूर्यको ललकारती है, हे राजन्! उस सभामें अद्वितीय भगवान् सर्वलोकपितामह ब्रह्माजी स्वयं देवमायाको स्वीकार करके विराजमान होते हैं, और सकल प्रजापति उन प्रभुकी उपासना करते हैं ॥ १६-१७ ॥ दक्ष, प्रचेता, पुलह, मरीचि, महाराज कश्यप, भृगु, अत्रि, वशिष्ठ, गौतम, अङ्गिरा ॥ १८ ॥ पुलस्त्य, क्रतु, प्रह्लाद, कर्दम, अथर्वा, आङ्गिरस, वालखिल्य मरीचिप १६ मन, अन्तरिक्ष, विद्या, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, शब्द स्पर्श, हे राजन्! रूप, रस तथा गंध ॥ २० ॥ प्रकृति, विकृतिके अन्य

कारणं ध्रुवः । अगस्त्यश्च महातेजा मार्कण्डेयश्च वीर्यवान् ॥ २१ ॥ जमदग्निर्भरद्वाजः सम्वर्त्तश्च्यवनस्तथा । दुर्वासाश्च महाभागः ऋष्यशृङ्गश्च धार्मिकः ॥ २२ ॥ सनत्कुमारो भगवान् योगाचार्य्यो महातपाः । असितो देवलश्चैव जैगीषव्यश्च तत्त्ववित् ॥ २३ ॥ ऋषभोऽजितशत्रुश्च महावीर्य्यस्तथा मणिः । आयुर्वेदस्तथाष्टाङ्गो देहवांस्तत्र भारत ॥ २४ ॥ चन्द्रमा सह नक्षत्रैरादित्यश्च गभस्तिमान् । वायवः क्रतवश्चैव सङ्कल्पः प्राण एव च ॥२५॥ मूर्त्तिमन्तो महात्मानो महाव्रतपरायणाः । एते चान्ये च बहवो ब्रह्माणं समुपस्थिताः ॥२६॥ अर्थो धर्मश्च कामश्च हर्षो द्वेषस्तपो दमः । आयान्ति तस्यां सहिताः गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ २७ ॥ विंशतिः सप्त चैवान्ये लोकपालाश्च सर्वशः । शुक्रो बृहस्पतिश्चैव बुधोऽङ्गारक एव च २८ शनैश्चरश्च राहुश्च ग्रहाः सर्वे तथैव च । मन्त्रो रथन्तरश्चैव हरिमान् वसुमानपि ॥ २९ ॥ आदित्याः साधिराजानो

सकल कारण, महातेजस्वी, अगस्त्य, वीर्यवान् मार्कण्डेय ॥२१॥ जमदग्नि, भारद्वाज, संवर्त, च्यवन, महाभाग दुर्वासा, धर्मात्मा ऋष्यशृङ्ग ॥ २२ ॥ महातपस्वी योगके आचार्य–भगवान् सनत्कुमार, असित, देवल, तत्त्ववेत्ता जैगीषव्य ॥ २३ ॥ शत्रुविजयी ऋषभ महावीर्य मणि तथा हे भारत ! शरीरधारी अष्टांग आयुर्वेद ॥ २४ ॥ नक्षत्रों सहित चन्द्रमा, किरणमालाधारी आदित्य, वायु, यज्ञ, संकल्प, प्राण॥२५॥ महाव्रत करनेवाले मूर्त्तिमान् यह सब महात्मा तथा और भी बहुतसे पुण्यात्मा ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं॥२६॥ अर्थ, धर्म, काम, हर्ष, द्वेष, तप, दम और सत्ताईस गंधर्व और अप्सराओंके समूह यह सब वहां इकट्ठे होकर आते हैं और सकल लोकपाल, शुक्र, बृहस्पति, बुद्ध तथा मङ्गल २७–२८ शनैश्चर, तथा और भी सब ग्रह, मन्त्र रथंतर हरिमान् वसुमान् ॥२९। दोर नामोंसे कहेहुए अधिराजाओं सहित आदित्य,मरुत,

नामद्वन्द्वैरुदाहृताः । मरुतो विश्वकर्मा च वसवश्चैव भारत ॥३०॥ तथा पितृगणाः सर्वे सर्वाणि च हवींष्यथ । ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदश्च पांडव ॥ ३१ ॥ अथर्ववेदश्च तथा सर्वशास्त्राणि चैव ह । इतिहासोपवेदाश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥३२॥ ग्रहा यज्ञाश्च सोमश्च देवताश्चापि सर्वशः । सावित्री दुर्गतरणी वाणी सप्तविधा तथा ॥ ३३ ॥ मेधा धृतिः स्मृतिश्चैव प्रज्ञा बुद्धिर्यशः क्षमा । सामानि स्तुतिशास्त्राणि गाथाश्च विविधास्तथा ॥ ३४ ॥ भाष्याणि तर्कयुक्तानि देहवन्ति विशाम्पते । नाटका विविधाः काव्याः कथाख्यायिककारिकाः ॥ ३५ ॥ तत्र तिष्ठन्ति ते पुण्या ये चान्ये गुरुपूजकाः । क्षणा लवा मुहूर्त्ताश्च दिवारात्रिस्तथैव च ॥ ३६ ॥ अर्द्धमासाश्च मासाश्च ऋतवः षट् च भारत । संवत्सराः पञ्चयुगमहोरात्रश्चतुर्विधः ॥ ३७ ॥ कालचक्रञ्च तद्दिव्यं नित्यमक्षयमव्ययम् । धर्मचक्रं तथा चापि नित्यमास्ते युधिष्ठिर ॥ ३८ ॥ अदितिर्दितिर्दनुश्चैव सुरसा विनता इरा । कालिका सुरभी देवी सरमा

विश्वकर्मा और हे राजन् ! वसु ॥३०॥ तथा सकल पितृगण सकल हवि और हे पाण्डव ! ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद ॥ ३१ ॥ अथर्ववेद, सकल शास्त्र, उपवेद इतिहास, सकल वेदाङ्ग ॥३२॥ ग्रह यज्ञ, सोम, सकल देवता, दुर्गति तारिणी सावित्री सात प्रकारकी वाणी ॥३३॥ मेधा, धृति, स्मृति, प्रज्ञा, बुद्धि, यश, क्षमा, साम, स्तुतिशास्त्र, नाना प्रकारकी गाथा ॥ ३३ ॥ देहधारी तर्कयुक्त सब भाष्य नानाप्रकारके नाटक, काव्य बहुत प्रकारकी कथा, आख्यायिका और कारिकायें ॥ ३५ ॥ यह सब पुण्यात्मा तथा अन्य गुरुपूजक पुरुष भी तहां उपस्थित होते हैं । क्षण, लव, मुहूर्त, दिन तथा रात्रि ॥ ३६ ॥ हे भारत ! पक्ष, मास, छः ऋतु, सम्वत्सर, पञ्चयुग, (मानुष आदि) चार प्रकारके दिन रात ॥ ३७ ॥ दिव्य नित्य अक्षय-अव्यय कालचक्र, और धर्मचक्र, हे युधिष्ठिर ! तहां नित्य उपस्थित रहते हैं ॥ ३८ ॥ दिति अदिति, दनु, सुरसा,

चाथ गौतमी ॥ ३६ ॥ प्रभा कद्रूश्च वै देव्यौ देवतानां च मातरः। रुद्राणी श्रीश्च लक्ष्मीश्च भद्रा षष्ठी तथापरा ॥४०॥ पृथिवी गाङ्गता देवी ह्रीः स्वाहा कीर्त्तिरेव च । सुरा देवी शची चैव तथा पुष्टिररुन्धती ॥४१॥ संवृत्तिराशा नियतिः सृष्टिदेवी रतिस्तथा । एताश्चान्याश्च वै देव्य उपतस्थुः प्रजापतिम् ॥४२॥ आदित्या वसवो रुद्रा मरुतश्चाश्विनावपि । विश्वे देवाश्च साध्याश्च पितरश्च मनोजवाः॥४३॥पितॄणां च गणान्विद्धि सप्तैव पुरुषर्षभ । मूर्त्तिमन्तो हि चत्वारस्त्रयश्चापि शरीरिणः ॥ ४४ ॥ वैराजाश्च महाभागा अग्निष्वात्ताश्च भारत। गार्हपत्या नाकचराः पितरो लोकविश्रुताः ॥ ४५ ॥ सोमपा एकशृङ्गाश्च चतुर्वेदाः कलास्तथा । एते चतुर्षु वर्णेषु पूज्यन्ते पितरो नृप ॥४६॥ एतैराप्यायितैः पूर्वं सोमश्चा-

विनता इरा, कालिका, सुरभि, देवी सरमा और गौतमी ॥३६॥ प्रभा और कद्रू यह दोनों देवियें देवमाताएं रुद्राणी श्री, लक्ष्मी भद्रा और षष्ठी॥ ४० ॥ रूपधारिणी पृथिवी देवी, ह्री, स्वाहा, कीर्त्ति, सुरा, शची देवी, पुष्टि, अरुन्धती॥ ४१ ॥ संवृत्ति, आशा नियति सृष्टि तथा रतिदेवी यह सब तथा और भी देवियें प्रजापति की उपासना करती हैं॥४२॥ आदित्य, वसु, रुद्र, दोनों अश्विनी कुमार, विश्वदेवा, साध्य और मनकी समान वेगवाले पितर ब्रह्मा जीकी उपासना करते हैं ॥ ४३ ॥ हे राजन् ! इन पितरोंके सात गण हैं, उनमें चार शरीरधारी हैं ॥ ४४ ॥ हे युधिष्ठिर ! यह सब विराट्से उत्पन्न, जगत्प्रसिद्ध और चतुर्वर्णसे पूजित हैं इनमें पहिले गणका नाम अग्निष्वात्त, दूसरेका नाम गार्हपत्य, तीसरेका नाम नाकचर, चौथे गणका नाम सोमप, पांचवेंका नाम एकशृङ्ग, छठे का नाम चतुर्वेद और सातवें गणका नाम कला है ॥ ४५-४६ ॥ हे राजन् ! पहिले इनके तृप्त होजाने पर सोम तृप्त होता है, यह सब पितर प्रजापतिके समीप उपस्थित होते हैं और बड़े प्रसन्न होकर

ध्याय्यते पुनः। त एते पितरः सर्वे प्रजापतिमुपस्थिताः। उपासते च संहृष्टा ब्रह्माणममितौजसम्॥४७॥राक्षसाश्च पिशाचाश्च दानवा गुह्यकास्तथा। नागाः सुपर्णाः पशवः पितामहमुपासते॥४८॥स्थविरा जङ्गमाश्चैव महाभूतास्तथापरे। पुरंदरश्च देवेन्द्रो वरुणो धनदो यमः॥४९॥महादेवः सहोमोऽत्र सदा गच्छति सर्वशः। महासेनश्च राजेन्द्र सदोपास्ते पितामहम् ॥ ५०॥ देवो नारायणस्तस्यां तथा देवर्षयश्च ये। ऋषयो वालखिल्याश्च योनिजा योनिजास्तथा ॥५१॥ यच्च किंचित् त्रिलोकेऽस्मिन् दृश्यते स्थाणु जङ्गमम्। सर्वं तस्यां मया दृष्टमिति विद्धि नराधिप॥ ५२॥ अष्टाशीतिसहस्राणि ऋषीणामूर्ध्वरेतसाम्। प्रजावताञ्च पञ्चाशदृषीणामपि पांडव॥५३॥ ते स्म तत्र यथाकामं दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः। प्रणम्य शिरसा तस्मै सर्वे यान्ति यथा गतम् ॥५४॥ अतिथीनागतान् देवान् दैत्यान्नागांस्तथा द्विजान्। यक्षान् सुपर्णान् कालेयान गंधर्वाप्सरसस्तथा

परमतेजस्वी ब्रह्माजीकी, उपासना करते हैं ॥४७॥राक्षस, पिशाच दानव गुह्यक, नाग सुपर्ण तथा पशु ब्रह्माजीकी आराधना करते हैं॥ ४८ ॥ सकल स्थावर जङ्गम और महाभूत, देवराज इन्द्र, वरुण, कुवेर और यम॥ ४९ ॥ और पार्वती सहित महादेव वहां सदा आया करते हैं और हे राजेन्द्र! स्वामि कार्तिकेयके साथ रहकर ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं॥ ५० ॥ उस सभामें नारायण देव, वालखिल्य ऋषि ॥५१॥ इस त्रिलोकीमें जो कुछ भी स्थावर वा जङ्गम देखने में आता है हे राजन्! तुम समझलो कि–वह सब ही मैंने वहां देखा॥ ५२ ॥ हे पांडव! अट्ठासी हजार ऊर्ध्वरेता ऋषि और पचास प्रजावान् ऋषि॥ ५३॥ यह, तथा और सकल देवता भी इच्छानुसार ब्रह्माजीका दर्शन और उनको शिरसे प्रणाम करके अपने २ स्थान को चलेजाते हैं॥ ५४ ॥ सकल प्राणियोंके ऊपर दया करने वाले परम निज लोकपितामह भगवान् ब्रह्माजी अभ्यागत अतिथिदेवता, दैत्य, नाग, द्विज,

॥ ५५ ॥ महाभागानमितधीर्ब्रह्मा लोकपितामहः । दयावान् सर्वभूतेषु यथार्हं प्रतिपद्यते ॥ ५६ ॥ प्रतिगृह्य तु विश्वात्मा स्वयम्भूरमितद्युतिः । सान्त्वमानार्थसम्भोगैर्युनक्ति मनुजाधिप ॥ ५७ ॥ तथा तैरुपयातैश्च प्रतियद्भिश्च भारत । आकुला सा सभा तात भवति स्म सुखप्रदा ॥ ५८ ॥ सर्व तेजोमयी दिव्या ब्रह्मर्षिगणसेविता । ब्राह्मया श्रिया दीप्यमाना शुशुभे विगतक्लमा ॥५९॥ सा सभा तादृशी दृष्टा मया लोकेषु दुर्लभा । सभेयं राजशार्दूल मनुष्येषु यथा तव ॥ ६० ॥ एता मया दृष्टपूर्वाः सभा देवेषु भारत । सभेयं मानुषे लोके सर्वश्रेष्ठतमा तव ॥ ६१ ॥

इति सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि ब्रह्मसभावर्णने नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच । प्रायशो राजलोकस्ते कथितो वदताम्वर ।

यक्ष, सुवर्ण, कालेय अप्सरा और सकल गन्धर्वोंका यथोचित सन्मान करते हैं ॥५५॥५६॥ हे राजन् ! यथोचित आदर करके शान्ति सन्मानके साथ इच्छित भोग पदार्थ देकर उनको सन्न करते हैं ॥५७॥ हे राजन् ! इन सब अभ्यागतोंके समागम और आवाजाई से गुंजारती हुई वह सभा बड़ा सुख देती है ॥५८॥ सकल तेजोंसे दिपती हुई, दिव्य, ब्रह्मर्षियोंसे सेवित और श्रम, को हरनेवाली वह सभा ब्रह्माजीकी शोभासे दीप्तिमान् और, श्रमहारिणी होकर परम शोभा पाती है ॥ ५९ ॥ हे महाराज ! जैसे तुम्हारी यह सभा मनुष्यलोकमें दुर्लभ है वैसे ही ब्रह्माजीकी सभा भी त्रिलोकीमें दुर्लभ वस्तु है ॥ ६० ॥ हे भरतकुलश्रेष्ठ मैंने देवलोकमें पहिले यह सब सभा देखी हैं इस समय मनुष्यलोकमें सबसे उत्तम इस तुम्हारी इस सभाको देखरहा हूं ॥६१॥ एकादश अध्याय समाप्त ॥ ११ ॥

युधिष्ठिरने कहा कि–हे परमोत्तम वक्ता नारदजी ! आपने मुझ

वैवस्वतसभायां तु यथा वदसि मे प्रभो ॥ १ ॥वरुणस्य सभायां तु नागास्ते कथिता विभो । दैत्येन्द्राश्चापि भूयिष्ठाः सरितः सागरास्तथा ॥ २ ॥ तथा धनपतेर्यक्षा गुह्यका राक्षसास्तथा । गन्धर्वाप्सरसश्चैव भगवांश्च वृषध्वजः ॥३॥ पितामहसभायां तु कथितास्ते महर्षयः । सर्वे देवनिकायाश्च सर्वशास्त्राणि चैव ह ॥ ४ ॥ शक्रस्य तु सभायां तु देवाः सङ्कीर्तिता मुने । उद्देशतश्च गन्धर्वा विविधाश्च महर्षयः ॥ ५ ॥ एक एव तु राजर्षिर्हरिश्चन्द्रो महामुने । कथितस्ते सभायां वै देवेन्द्रस्य महात्मनः ॥ किं कर्म तेनाचरितं तपो वा नियतव्रत । येनासौ सह शक्रेण स्पर्द्धते सुमहायशाः ॥ ७ ॥ पितृलोकगतश्चैव त्वया विप्र पिता मम । दृष्टः पाण्डुर्महाभागः कथं वापि समागतः ॥ ८ ॥ किमुक्तवांश्च भगवंस्तन्ममाचक्ष्व सुव्रत । त्वत्तः श्रोतुं सर्वमिदं परं कौतूहलं हि मे ॥ ९ ॥

से कहा, कि-प्रायः सबही राजे यमराजकी सभामें थे ॥ १ ॥ और हे प्रभो ! आपने वरुणकी सभामें अनेकों नाग, अनेकों बड़े बड़े दैत्य, नदियें और समुद्र कहे ॥ २ ॥ तथा कुबेरकी सभामें यक्ष, गुह्यक, राक्षस, गन्धर्व अप्सराएं और भगवान् शिवका विराजमान होना बताया ॥ ३ ॥ और ब्रह्माजीकी सभामें आपने सकल महर्षि और देवताओंके समूह और सकल शास्त्र बताये ॥ ४ ॥ और हे मुने ! इन्द्रकी सभामें आपने देवता और उनके साथमें कहीं २ गन्धर्व और अनेकों महर्षियोंका वर्णन किया ५ परन्तु हे महामुने ! आपने देवराज इंद्रकी सभामें राजर्षि एक हरिश्चंद्रका ही वर्णन किया ॥६॥ हे तपोधन ! राजा हरिश्चंद्रने कौनसा तप वा सत्कर्म किया था कि-जिसके प्रभावसे वह महायशस्वी इंद्रकी बरावरी करते हैं ॥ ७ ॥ हे विप्र ! पितृलोकमें गये हुए मेरे पिता महाभाग पांडुके साथ आपका साक्षात्कार कैसे हुआ ॥ ८ ॥ और हे भगवन् ! लौटते समय उन महापुरुषने आपसे क्या कहा ? यह सब आपसे विस्तारके साथ सुननेको मुझे बड़ा ही

नारद उवाच॥ यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र हरिश्चन्द्रं प्रति प्रभो। तत्तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि माहात्म्यं तस्य धीमतः ॥ १० ॥ स राजा बलवानासीत् सम्राट् सर्वमहीक्षिताम् । तस्य सर्वे महीपालाः शासनावनताः स्थिताः ॥ ११ ॥ तेनैकं रथमास्थाय जयं हेमविभूषितम् । शस्त्रप्रतापेन जिता द्वीपाः सप्त जनेश्वर ॥ १२ ॥ स निर्जित्य महीं कृत्स्नां सशैलवनकाननाम् । आजहार महाराज राजसूयं महाक्रतुम् ॥ १३ ॥ तस्य सर्वे महीपाला धनान्याजह्रुराज्ञया । द्विजानां परिवेष्टारस्तस्मिन् यज्ञे च तेऽभवन् ॥ १४ ॥ प्रादाच्च द्रविणं प्रीत्या याजकानां नरेश्वरः । यथोक्तवन्तस्ते तस्मिंस्ततः पञ्चगुणाधिकम्"१५॥अतर्पयच्च विविधैर्वसुभिर्ब्राह्मणांस्तदा । प्रसर्पकाले सम्प्राप्ते नाना दिग्भ्यः समागतान ॥१६॥ भक्ष्यभोज्यैश्च विविधैर्यथाकामपुरस्कृतैः । रत्नौघतर्पितैस्तुष्टैर्द्विजैश्च

कुतूहल हो रहा है॥ ९ ॥ नारदजीने कहा कि-हे महाराज युधिष्ठिर! आपने जो मुझसे राजेन्द्र हरिश्चन्द्रके विषयमें प्रश्न किया सो मैं आपसे उन राजर्षि हरिश्चंद्रका माहात्म्य कीर्त्तन करता हूं सुनो ॥ १० ॥ वह बली राजा हरिश्चंद्र सब भूपालोंके सम्राट् थे, भूमण्डलके सब राजे उनके शासनसे नमकर रहते थे ॥११॥ हे राजन् ! उन्होंने जयशील सुवर्णसे शोभित एक रथमें बैठकर अस्त्र शस्त्रोंके प्रतापसे सातों द्वीपोंको जीतलिया ॥ १२ ॥ हे महाराज उन्होंने पर्वत और वनों सहित सकल पृथ्वीको जीतकर राजसूय महायज्ञका अनुष्ठान किया ॥ १३ ॥ उनकी आज्ञा पाते ही सब राजे बहुत सा धन लाये और वेही उस यज्ञमें द्विजोंको भोजन परोसनेके कामपर नियुक्त हुए ॥ १४ ॥ उस यज्ञमें आये हुए याजकोंने जितना धन मांगा राजा हरिश्चंद्रने प्रसन्न होकर उससे पांच गुणा दिया ॥ १५ ॥ उस यज्ञमें चारों दिशाओंसे जो ब्राह्मण आये थे राजा हरिश्चंद्रने लौटनेके समय उनको अनेकों प्रकारके धनोंसे तृप्त करके विदा किया ॥ १६ ॥ इच्छानुसार परोसेहुए नाना प्रकारके भक्ष्य, भोज्य और रत्नोंसे तृप्त

समुदाहृतम् ॥ १७ ॥ तेजस्वी च यशस्वी च नृपेभ्योऽभ्यधिको-
ऽभवत् । एतस्मात् कारणाद्राजन् हरिश्चन्द्रो विराजते ॥१८॥तेभ्यो
राजसहस्रेभ्यस्तद्विद्धि भरतर्षभ । समाप्य च हरिश्चन्द्रो महायज्ञं
प्रतापवान् ॥ १९ ॥ अभिषिक्तश्च शुशुभे साम्राज्येन नराधिप ।
ये चान्ये च महीपाला राजसूयं महाक्रतुम् ॥ २० ॥ यजन्ते ते सहे-
न्द्रेण मोदन्ते भरतर्षभ । ये चापि निधनं प्राप्ताः संग्रामेष्वपलायिनः।
ते तत्सदनमासाद्य मोदन्ते भरतर्षभ । तपसा ये च तीव्रेण त्यज-
न्तीह कलेवरम् ॥ २२ ॥ ते तत्स्थानं समासाद्य श्रीमन्तो भान्ति
नित्यशः । पिता च त्वाह कौन्तेय पाण्डुः कौरवनन्दन ॥ २३ ॥
हरिश्चन्द्रे श्रियं दृष्ट्वा नृपतौ जातविस्मयः । विज्ञाय मानुषं लोक-
मायान्तं मां नराधिप ॥ २४ ॥ प्रोवाच प्रणतो भूत्वा वदेथास्त्वं

हुए ब्राह्मणोंने सन्तुष्ट होकर आशीर्वाद दिये ॥ १७ ॥ राजा हरिश्चंद्र यज्ञके फल और ब्राह्मणोंके आशीर्वादसे सब राजाओं की अपेक्षा अधिक तेजस्वी और कीर्त्तिमान् हुए हे युधिष्ठिर ! इसी कारणसे हरिश्चंद्र सहस्रों राजाओंसे ऊपर विराजमान हुए और प्रतापी राजा हरिश्चंद्र उस महायज्ञको समाप्त करके साम्राज्य पदपर अभिषिक्त हो परम शोभाको प्राप्त हुए । हे राजन् ! और भी जो राजे राजसूय यज्ञका ॥ १८-२० ॥ अनुष्ठान करते हैं वह बड़े आनन्दपूर्वक इन्द्रके साथ समयको बिताते हैं और जो युद्धमें पीठ न देकर रणभूमिमें प्राण देदेते हैं अथवा अतिकठोर तपस्या करके शरीरको त्यागते हैं वे भी इन्द्रलोकमें जाकर परमसुखसे समयको बिताते हैं ॥ २१-२२ ॥ वह इन्द्रलोकके भी पार होकर परम शोभाको धारण करते हुए दिपते हैं । हे कुन्तीनन्दन ! तुम्हारे पिता पांडु राजा हरिश्चन्द्रकी अलौकिक शोभाको देख आश्चर्यमें होगए और मुझे भूलोकमें आते देखकर विनयके साथ निवेदन किया, कि-हे महर्षे ! आप मनुष्य-लोकको जारहे हैं, वहां युधिष्ठिरसे कहना, कि-तुम भूमण्डलको

युधिष्ठिरम् । समर्थोऽसि महीं जेतुं भ्रातरस्ते स्थिता वशे ॥ २५॥ राजसूयं क्रतुश्रेष्ठमाहरस्वेति भारत । त्वय्यीष्टवति पुत्रेऽहं हरिश्चन्द्रवदाशु वै ॥२६॥ मोदिष्ये बहुलाः शश्वत् समाः शक्रस्य संसदि । एवमस्त्विति वक्ष्येऽहं तव पुत्रं नराधिपम् ॥ २७ ॥ भूर्लोकं यदि गच्छेयमिति पाण्डुमथाब्रवम् । तस्य त्वं पुरुषव्याघ्र सङ्कल्पं कुरु पांडव ॥ २८ ॥ गन्तासि त्वं महेन्द्रस्य पूर्वैः सह सलोकताम् । बहुविघ्नश्च नृपते क्रतुरेष स्मृतो महान् ॥ २९ ॥ छिद्राण्यस्य तु वाञ्छन्ति यज्ञघ्ना ब्रह्मराक्षसाः । युद्धञ्च क्षमशमनं पृथिवीक्षयकारणम् ॥ ३० ॥ किंचिदेव निमित्तञ्च भवत्यत्र क्षयावहम् । एतद् सञ्चिन्त्य राजेन्द्र यत्क्षेमं तत्समाचर ॥ ३१ ॥ अप्रमत्तोत्थितो

विजय करसकते हो क्योंकि चारों भाई तुम्हारे वशमें हैं॥२१-२५॥ हे राजन् ! उन्होंने कहा, कि—युधिष्ठिर सर्वोत्तम राजसूय यज्ञ कर, क्योंकि—तुझ पुत्रके यज्ञ करने पर मैं भी शीघ्र ही हरिश्चन्द्रकी समान ॥ २६ ॥ अनेकों वर्षों पर्यन्त निरन्तर सुख भोगता हुआ इन्द्रकी सभामें समयको बिताऊँगा, तब मैंने तुम्हारे पिता से कहा, कि—महाराज ! यदि मैं भूलोकमें जाऊँगा तो अवश्य ही तुम्हारे पुत्रसे कहदूंगा, सो हे भरतकुलभूषण पांडव ! अब तुम परम यत्न करके अपने पिताके मनोरथको सिद्ध करनेका संकल्प करो ॥ २७-२८ ॥ ऐसा करने पर निःसन्देह तुम भी अपने पूर्वपुरुषोंके साथ इन्द्रलोकमें पहुँचोगे, परन्तु हे राजन् ! कहते हैं कि- इस महायज्ञमें विघ्न बहुत हुआ करते हैं ॥ २९ ॥ इस यज्ञ का नाश करनेवाले ब्रह्मराक्षस सदा इसके छिद्रोंको खोजा करते हैं और इसके करनेमें क्षत्रियोंके नाशका तथा पृथिवीके क्षय तक का अवसर आजाता है ॥ ३० ॥ जरासा ही हेतु सबका क्षय कर डालता है और कोई न कोई निमित्त अवश्य ही होजाता है इसकारण इस सबका विचार करके जिसमें क्षेम होय सो करना ३१

नित्यं चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे। भव एधस्व मोदस्व धनैस्तर्पय च द्विजान् ॥ ३२ ॥ एतत्ते विस्तरेणोक्तं यन्मां त्वं परिपृच्छसि। आपृच्छे त्वां गमिष्यामि दाशार्हनगरीं प्रति ॥३३॥ वैशम्पायन उवाच। एवमाख्याय पार्थेभ्यो नारदो जनमेजय। जगाम तैर्वृतो राजन्नृषिभिर्यैः समागतः ॥ ३४॥ गते तु नारदे पार्थो भ्रातृभिः सह कौरव। राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिन्तयामास पार्थिवः ॥ ३५ ॥
इति सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि ब्रह्मप्रभावर्णनं नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२ ॥ समाप्तं लोकपालसभाख्यानपर्व ॥

॥ अथ राजसूयारम्भपर्व ॥

वैशम्पायन उवाच। ऋषेस्तद्वचनं श्रुत्वा निशश्वास युधिष्ठिरः। चिंतयन् राजसूयेष्टिं न लेभे शर्म भारत ॥१॥ राजर्षीणाञ्च तं श्रुत्वा महिमानं महात्मनाम्। यज्वनां कर्मभिः पुण्यैर्लोकप्राप्तिं समीक्ष्य

नित्य सावधानीसे रहकर चारों वर्णोंकी रक्षा करो, शरीरसे योगानुष्ठान तथा मनसे आमोद प्रमोद और ब्राह्मणोंको तृप्त करो ॥३२॥तुमने मुझसे जो कुछ बूझा था वह सब मैंने तुमसे विस्तारके साथ कहा, अब तुमसे विदा होता हूं,क्योंकि-अब मैं द्वारकापुरी को जाऊँगा ॥३३॥ वैशम्पायनजी कहते हैं कि-हे जनमेजय ! नारदजी पाण्डवोंसे ऐसा कहकर जिन ऋषियोंके साथ आये थे उनको लिये हुए तहांसे चलेगये ॥३४॥ हे जनमेजय ! नारदजी के चलेजानेपर राजा युधिष्ठिर अपने भ्राताओंके साथ परमोत्तम राजसूय यज्ञके विषयमें विचार करनेलगे ॥ ३५ ॥ द्वादश अध्याय समाप्त ॥ १२ ॥ * ॥ * ॥ *

वैशम्पायनजीने कहा, कि-हे भरतकुलतिलक जनमेजय ! महाराज युधिष्ठिरने महर्षि नारदजीकी इस बातको सुनकर लंबा सांस लिया और राजसूय यज्ञके विषयकी चिन्ता करतेहुए बहुत ही व्याकुल हुए ॥ १ ॥ उन्होंने महात्मा राजर्षियोंकी महिमा और पुण्यकर्मोंके द्वारा यज्ञ करनेवालोंको उत्तम लोककी प्राप्ति तथा

च ॥२॥ हरिश्चन्द्रश्च राजर्षिं रोचमानं विशेषतः। यज्वानं यज्ञमाहर्तुं राजसूयमियेष सः॥३॥ युधिष्ठिरस्तत सर्वानर्चयित्वा सभासदः। प्रत्यर्चितश्च तैः सर्वैर्यज्ञायैव मनो दधे॥ ४ ॥ स राजसूयं राजेन्द्र कुरूणामृषभस्तदा। आहर्तुं प्रवणश्चक्रे मनः संचिन्त्य चासकृत् ॥ ५ ॥ भूयश्चाद्भुतवीर्यौजा धर्ममेवानुचिन्तयन् किं हितं सर्वलोकानां भवेदिति मनो दधे॥६॥ अनुगृह्णन् प्रजाः सर्वाः सर्वधर्मभृताम्वरः। अविशेषेण सर्वेषां हितं चक्रे युधिष्ठिरः॥७॥ सर्वेषां दीयतां देयं मुष्णन् कोपमदावुभौ। साधु धर्मेति धर्मेति नान्यच्छ्रूयेत भाषितम् ॥८॥ एवं गते ततस्तस्मिन् पितरीवाश्वसन् जनाः। न तस्य विद्यते द्वेष्टा ततोऽस्या जातशत्रुता ॥९॥ परिग्रहान्नरेन्द्रस्य भीमस्य परिपालनात्। शत्रूणां क्षपणाच्चैव बीभत्सोः

विशेषकर तेजस्वी राजर्षि हरिश्चन्द्रके विषयकी आलोचना करके राजसूययज्ञ करनेकी मनमें इच्छा की ॥ २ ॥ ३ ॥ उस समय उन कुरुवंशावतंस पांडुकुमार युधिष्ठिरने सब राजासदोंकी पूजा करके और आपभी उनसे आदर पाकर बारंवार विचार करते हुए राजसूय यज्ञ करनेका दृढ़ निश्चय किया ॥ ४ ॥ ५ ॥ तदनन्तर वह अद्भुततेजा धर्मनन्दन युधिष्ठिर प्रजाओंके हितसाधनमें मनको लगाकर निष्पक्षभावसे सब लोगोंका उपकार करने लगे ॥ ६ ॥ ७ ॥ राजा युधिष्ठिर ने क्रोध और मद से रहित होकर सबोंका ऋण चुका देनेकी आज्ञा दी उनके राज्य में धर्म सबसे उत्तम है, धर्म सबसे उत्तम है इसके सिवाय और बात ही सुननेमें नहीं आती थी ॥ ८ ॥ इस प्रकार बर्त्ताव करने पर प्रजाके पुरुष उनमें पिताकी समान विश्वास करने लगे, कोई उनसे द्वेष करनेवाला हा नहीं रहा इसकारण वह अजातशत्रु कहलाने लगे ॥ ९ ॥ महाराज युधिष्ठिरके अपनानेसे भीमसेनके रक्षा करने मे भयदायक अर्जुनके शत्रुओंका नाश करनेसे

सव्यसाचिनः ॥ १० ॥ धीमतः सहदेवस्य धर्मेणामनुशासनात् । वैनयात् सर्वतश्चैव नकुलस्य स्वभावतः । अविग्रहा वीतभयाः स्वकर्मनिरताः सदा ॥ ११ ॥ निकामवर्षा स्फीताश्च आसन् जनपदास्तथा । वार्द्धुषी यज्ञसत्त्वानि गोरक्षं कर्षणं वणिक् ॥ १२ ॥ विशेषात्सर्वमेवैतत् संजज्ञे राजकर्मणा । अनुकर्षं च निष्कर्षं व्याधिपावकमूर्च्छनम् ॥१३॥ सर्वमेव न तत्रासीद्धर्मनित्ये युधिष्ठिरे । दस्युभ्यो वंचकेभ्यश्च राज्ञः प्रति परस्परम् ॥ १४ ॥ राजवल्लभभूतश्चैव नाश्रूयत मृषाकृतम् । प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वकर्मजम् ॥१५॥ अभिहर्तुं नृपाः षट्सु पृथग्जात्यैश्च नैगमैः॥ववृधे विषयस्तत्र धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ॥ कामतोऽप्युपयुञ्जानै राजसै-

बुद्धिमान् सहदेवके धर्मानुसार शासन करनेसे और नकुलके स्वाभाविक ही सबके साथ नम्र होनेसे उनके अधिकारमें जितना देश था उस सबमें कहीं लड़ाई झगड़े और भयका नाम भी नहीं रहा प्रजाके सब लोग सदा अपने २ कार्योंमें संलग्न रहते थे ॥१०॥११॥ मेघ ठीक समय पर वर्षा करने लगे प्रजाके सब ही लोग धन सम्पत्तिवाले होगये ब्याजकी जीविका यज्ञोंकी शक्तियें गोरक्षा खेती व्यापार आदि सब कार्योंमें बहुत कुछ उन्नति हुई राजकार्यका प्रबंध विशेषरूपसे ठीक किया गया निर्धनोंसे पिछले वर्षका कर माँगना प्रजाको पीड़ा देना और प्रजा पर कर बढ़ाना बंद करदिया गया रोग अग्निका भय मूर्छा यह कुछ भी नित्य धर्मानुष्ठान करने वाले युधिष्ठिरके राज्यमें नहीं था, चोर और ठगोंसे राज्यको व राजासे चोर और ठगोंको कुछ भय नहीं था ॥ १२—१४॥ जो राजाके प्रेमपात्र थे वह भी प्रजाओंको वृथा पीड़ा नहीं देते थे सब राजे महाराज युधिष्ठिरको प्रसन्न करने उनके पास बैठने वार्षिक कर देने और सन्धि विग्रह आदि छः गुणोंमें व्यापारियोंके समान होगए और उनके राज्यकी बड़ी वृद्धि हुई ॥ १५ ॥ ॥ १६ ॥ महाराज युधिष्ठिरने जिस २ देश

लोभिजैर्जनैः । सर्वव्यापी सर्वगुणी सर्वसाहः स सर्वराट् ॥ १७ ॥ यस्मिन्नधिकृतः सम्राड् भ्राजमानो महायशाः । यत्र राजन् दश दिशः पितृतो मातृतस्तथा । अनुरक्ताः प्रजा आसन्नागोपाल-द्विजातयः ॥ १८ ॥ वैशम्पायन उवाच । स मन्त्रिणः समानाय्य भ्रातॄंश्च वदतांवरः । राजसूयं प्रति तदा पुनः पुनरपृच्छत ॥१९॥ ते पृच्छ्यमानाः सहिता वचोऽर्थ्यं मन्त्रिणस्तदा । युधिष्ठिरं महाप्राज्ञं यियक्षुमिदमब्रुवन् ॥ २० ॥ येनाभिषिक्तो नृपतिर्वारुणं गुणमृच्छति । तेन राजापि तं कृत्स्नं सम्राड् गुणमभीप्सति ॥ २१ ॥ तस्य सम्राड्गुणार्हस्य भवतः कुरुनन्दन । राजसूयस्य समयं मन्यन्ते सुहृदस्तव ॥ २२ ॥ तस्य यज्ञस्य समयः स्वाधीन-

पर अधिकार किया तहांके राजे व्यापारी रजोगुणी लोभी पुरुष और साधारण जातियोंके पुरुष सब सब ही हर समय राजाके प्रिय काम देवोपासना और अपने २ प्रारब्धके अनुसार ऐश्वर्यों को भोगते थे, वह चक्रवर्ती राजा युधिष्ठिर सकल गुणोंसे भूषित सर्वसह सर्वव्यापी और महान् कीर्तिमान् थे द्विजातियोंसे ग्वालों पर्यन्त प्रजाके सब ही दिशाओंके लोग राजाके पिताके कर्त्तव्य नीतिशिक्षा देना आदि और माताका कर्त्तव्य वात्सल्यगुण आदि के द्वारा उपकार पाकर उनके बहुत ही प्रेमी होगये ॥ १७ ॥ ॥ १८ ॥ वह उत्तम वक्ता युधिष्ठिर अपने मन्त्री और भाइयोंको बुलाकर वारंवार राजसूय यज्ञकी बात बूझनेलगे ॥ १९॥ यज्ञा-नुष्ठान करनेके अभिलाषी परमबुद्धिमान् युधिष्ठिरकी तात्पर्य भरी बातको सुनकर वह सब एकसाथ प्रसन्न होते हुए कहनेलगे कि- ॥ २० ॥ राजसूय यज्ञके द्वारा अभिषेक होने पर राजा वरुणने सम्राट् पद पाया था इसकारण राजा भी राजसूय यज्ञके द्वारा सब भूमण्डलको जीतकर सम्राट् होना चाहै ॥२१॥ हे कुरुनंदन! आपके मित्रोंकी संमति है कि आप सम्राट् (चक्रवर्ती राजा) होने के योग्य हैं और अब आपके राजसूय यज्ञ करनेका समय आपहुंचा है ॥ २२ ॥ क्षत्रियकी सम्पत्तिरूप यज्ञ होनेसे तिस यज्ञके

[illegible]दा। साम्ना पठ्यन्तेयो यस्मिन्नीयन्ते शंसितव्रतैः ॥ २३ ॥ दर्वीहोमानुपादाय सर्वान्यः माप्नुते क्रतून् । अभिषेकं च यस्यान्ते सर्वजित्तेन सोच्यते ॥ २४ ॥ समर्थोऽसि महाबाहो सर्वे ते वशगा वयम् । अचिरात्त्वं महाराज राजसूयमवाप्स्यसि ॥ २५ ॥ अवि-चार्य्य महाराज राजसूये मनः कुरु । इत्येवं सुहृदः सर्वे पृथक्च सह चाब्रुवन् ॥ २६ ॥ स धर्म्यं पाण्डवस्तेषां वचः श्रुत्वा विशां-पते । धृष्टमिष्टं वरिष्ठं च जग्राह मनसारिहा ॥ २७ ॥ श्रुत्वा सुहृ-द्वचस्तच्च जानंश्चाप्यात्मनः क्षमम् । पुनः पुनर्मनो दध्रे राज-सूयाय भारत ॥२८॥स भ्रातृभिः पुनर्धीमानृत्विग्भिश्च महात्मभिः । मन्त्रिभिश्चापि सहितो धर्मराजो युधिष्ठिरः । धौम्यद्वैपायनाद्यैश्च मन्त्रयामास मन्त्रवित् ॥ २९ ॥ युधिष्ठिर उवाच । इय या राज-

करनेका समय अपने अधीन है इस यज्ञमें उत्तम व्रतधारी ब्राह्मण सामवेदके मंत्रोंका गान करके छः प्रकारकी अग्निको स्थापन किया करते हैं ॥ २३ ॥ इस यज्ञको करलेने पर अग्नि-होत्र आदि सब यज्ञोंका फल प्राप्त होता है और इस यज्ञके अन्त में अभिषेक होजाने पर लोकमें सर्वविजयी कहलाता है ॥ २४ ॥ हे महाराज ! आप राजसूय यज्ञ करनेकी शक्ति रखते हैं, हम सब ही आपके आज्ञाकारी हैं, इसकारण आप शीघ्र ही राजसूय यज्ञके फलको पासकोगे ॥ २५ ॥ हे महाराज ! अब आप कुछ विचार न करके राजसूय करनेका संकल्प कर लीजिये, इसप्रकार महाराज युधिष्ठिरके मित्रोंने अलग २ और इकट्ठे होकर कहा२६ शत्रुनाशक युधिष्ठिरने उनके मुखसे ऐसे अपनी इच्छानुसार धर्म-युक्त वाक्यको सुनकर स्वीकार करलिया ॥ २७ ॥ इसप्रकार मित्रोंके वचनको सुनकर और मन ही मनमें बार २ अपनी शक्ति को समझकर राजसूय यज्ञ करनेका निश्चय करलिया ॥ २८ ॥ तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने फिर अपने भ्राता, महात्मा ऋत्विक् मंत्रिमंडल और धौम्य व्यास आदिके साथ संमति की ॥ २९ ॥ युधिष्ठिरने कहा कि-हे मंत्रियो! मेरी इच्छा है, कि-चक्रवर्त्ती राजा

नृपस्य सम्राडर्हस्य सुकृतोः श्रद्दधानस्य वदत स्पृहा मे सा कथं भवेत् ॥ ३० ॥ वैशम्पायन उवाच। एवमुक्तास्तु ते तेन राज्ञा राजीवलोचनाः। इदमूचुर्वचः काले धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ३१ ॥ अर्हस्त्वमसि धर्मज्ञ राजसूयं महाक्रतुम्। अथैवमुक्ते नृपताहृत्विग्भिऋषिभिस्तथा ॥ ३२ ॥ मन्त्रिणो भ्रातरश्चास्य तद्वचः प्रत्यपूजयन्। स तु राजा महाप्राज्ञः पुनरेवात्मनात्मवान् ॥ ३३ ॥ भूयो विममृशे पार्थो लोकानां हितकाम्यया। सामर्थ्ययोगं संप्रेक्ष्य देशकालौ व्ययागमौ ॥ ३४ ॥ विमृश्य सम्यक् च धिया कुर्वन् प्राज्ञो न सीदति। न हि यज्ञसमारम्भः केवलात्मविनिश्चयात्॥३५॥ भवतीति समाज्ञाय यत्नतः कार्यमुद्वहन्। स निश्चयार्थं कार्यस्य कृष्णमेव जनार्दनम् ॥ ३६ ॥ सर्वलोकात्परं मत्वा जगाम मनसा हरिम्। अप्रमेयं महाबाहुं कामाज्जातमजं नृपु ॥ ३७ ॥ पाण्डव-

---

के योग्य राजसूय यज्ञ करूं, उस श्रेष्ठ यज्ञको करनेमें मेरी बड़ी ही श्रद्धा है, अतः बताओ कि-यह मेरी अभिलाषा कैसे सफल होगी? ॥३०॥ वैशम्पायन कहते हैं,कि हे कमललोचन जनमेजय ! धर्मराजके इस वाक्यको सुनकर ऋषि ऋत्विजोंने कहा, कि-हे धर्मराज ! आप राजसूय महायज्ञ करनेके योग्य हैं, अतः अवश्य करिये॥३१-३२॥उस समय उनके भ्राताओंने और मंत्रियोंने इस बातका अनुमोदन किया तब परमप्रवीण जितेन्द्रिय राजा युधिष्ठिर प्रजाओंका हित करनेकी इच्छासे फिर विचार करनेलगे। जो पुरुष अपनी शक्ति, संपत्ति, देश, काल, आमदनी और खर्चको भलीप्रकार बुद्धिसे विचारकर कार्य करता है उसको विपत्तिमें नहीं फँसना पड़ता है, महाराज युधिष्ठिर ने केवल अपनी ही बुद्धिसे अवश्य करना चाहिये ऐसा समझकर यज्ञका आरंभ करना अनुचित है यह विचारकर अप्रमेय महाबाहु सर्वलोकोत्तम जनार्दन श्रीकृष्णके साथ सम्मति करनेका निश्चय किया ॥ ३३-३६ ॥ उन्होंने विचारा कि-श्रीकृष्ण सर्वज्ञ तथा सब कुछ करसकनेमें समर्थ हैं और अजन्मा होकर भी अपनी इच्छासे मनुष्योंमें प्रकट

स्तर्कयामास धर्मभिर्देवसम्मतैः । नास्य किंचिदविज्ञातं नास्य किंचिदकर्मजम् ॥३८॥ न स किंचिन्न विषहेदिति कृष्णममन्यत । स तु तां नैष्ठिकीं बुद्धिं कृत्वा पार्थो युधिष्ठिरः ॥ ३९ ॥ गुरुवद्भूतगुरवे प्राहिणोद्दूतमञ्जसा । शीघ्रगेन रथेनाशु स दूतः प्राप्य यादवान् ॥ ४० ॥ द्वारकावासिनं कृष्णं द्वारवत्यां समासदत् । दर्शनाकांक्षिणं पार्थं दर्शनाकांक्षयाच्युतः ॥ ४१ ॥ इन्द्रसेनेन सहित इन्द्रप्रस्थमगात्तदा । व्यतीत्य विविधान्देशान् त्वरावान् क्षिप्रवाहनः ॥ ४२ ॥ इन्द्रप्रस्थगतं पार्थमभ्यगच्छज्जनार्दनः । स गृहे पितृवद्भ्रात्रा धर्मराजेन पूजितः ॥ ४३ ॥ भीमेन च ततोऽपश्यत् स्वसारं प्रीतिमान् पितुः । प्रीतः प्रीतेन सुहृदा रेमे स सहितस्तदा ॥४४॥ अर्जुनेन यमाभ्यां च गुरुवत् पर्युपासितः ।

होगये हैं, क्योंकि आजतक उन्होंने जितने काम किये उनको देवता के सिवाय कोई मनुष्य नहीं करसकता, इसकारण वह अवश्य ही मुझे ठीक सम्मति देंगे, ऐसा मनमें निश्चय करके कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने गुरुकी समान सकल प्राणियोंके मान्य श्रीकृष्णजीके पास तत्काल दूत भेजदिया ॥ ३८ ३९ ॥ वह शीघ्रगामी रथमें चढ़कर यादवोंकी द्वारकापुरीमें पहुंचकर द्वारकावासी श्रीकृष्णजी के पास गया ॥ ४० ॥ भगवान् चक्रपाणि दूतके मुखसे युधिष्ठिर की दर्शन करनेकी इच्छाको सुनकर इन्द्रसेन दूतको साथ लिये हुए इंद्रप्रस्थ (दिल्ली) को चलदिये और शीघ्रताके कारण शीघ्रगामी रथमें सवार हुए श्रीकृष्ण क्रम २ से अनेकों देशोंको लांघते हुए इंद्रप्रस्थमें युधिष्ठिरके पास पहुंचगये ॥ ४२ ॥ युधिष्ठिरने उनको अपने घर आया देख बड़े आदरके साथ पिता का समान पूजन किया, फिर भीम, अर्जुन और नकुल सहदेवने भी गुरुकी समान सत्कार किया तदनन्तर भगवान् वासुदेव अपनी फूफी कुन्तीसे मिलकर अन्य मित्रोंके साथ प्रसन्नतापूर्वक आमोद करने लगे ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ इस प्रकार सुखदायक स्थानमें कुछ

तं विश्रान्तं शुभे देशे क्षणिनं कल्यमच्युतम् । धर्मराजः समागम्य ज्ञापयत् स्वमयोजनम् ॥ ४५ ॥ युधिष्ठिर उवाच । प्रार्थितो राजसूयो मे न चासौ केवलेप्सया । प्राप्यते येन तत्ते हि विदितं कृष्ण सर्वशः ॥ ४६ ॥ यस्मिन् सर्वं सम्भवति यश्च सर्वत्र पूज्यते । यश्च सर्वेश्वरो राजा राजसूयं स विन्दति ॥ ४७ ॥ तं राजसूयं सुहृदः कार्य्यमाहुः समेत्य मे । तत्र मे निश्चिततमं तव कृष्ण गिरा भवेत् ॥ ४८ ॥ केचिद्धि सौहृदादेव न दोषं परिचक्षते । स्वार्थहेतोस्तथैवान्ये प्रियमेव वदन्त्युत ॥ ४९ ॥ प्रियमेव परीप्सन्ते केचिदात्मनि यद्धितम् । एवम्प्रायाश्च दृश्यन्ते जनवादाः प्रयोजने ॥ ५० ॥ त्वन्तु हेतूनतीत्यैतान् कामक्रोधौ व्युदस्य च । परमं यत्

देर विश्राम करलेनेपर धर्मराजने श्रीकृष्णजीके पास जाकर अपना प्रयोजन कहा ॥ ४५ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि-हे श्रीकृष्णजी ! मेरी इच्छा है, कि-राजसूय यज्ञ करूं परन्तु यह यज्ञ केवल इच्छा करने से ही पूर्ण नहीं होसकता और जिस प्रकार सिद्ध होसकता है सो सब तुम जानते ही हो ॥ ४६ ॥ देखिये जो पुरुष सब प्रकारकी सामग्री रखता हो, जिसको सर्वत्र पूजा होती हो, और जो राजा सब पृथिवीका अधिपति हो वह ही राजसूय करसकता है ॥ ४७ ॥ जो मेरे मित्र हैं वह तो इकट्ठे होकर यही कहते हैं, कि—राजसूय करना चाहिये परंतु हे कृष्ण ! इस विषयमें मैं आपकी बातको ही परम निश्चय मानूंगा ॥ ४८ ॥ कोई तो मित्रता के कारण से कोई स्वार्थवश प्यारी २ बातें कहदेते हैं, यह नहीं बताते, कि- इस यज्ञको करनेके विषयमें मुझमें कोई कमी तो नहीं है ॥ ४९ ॥ और कोई ऐसे हैं कि-जिसमें अपना हित हो उसको ही मित्र समझते हैं, हे महात्मन् ! इस विषयमें हमारी हां में हां मिलाने वाले लोग ही अधिक हैं ॥ ५० ॥ सो आप इन सब कारणोंको और काम क्रोधको त्यागकर जो बात ठीक हो

क्षमं लोके यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ ५१ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि
वासुदेवागमने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

श्रीकृष्ण उवाच । सर्वैर्गुणैर्महाराज राजसूयं त्वमर्हसि । जानतस्त्वेव ते सर्वं किंचिद् वक्ष्यामि भारत ॥१॥ जामदग्न्येन रामेण क्षत्रं यदवशेषितम् । तस्मादवरजं लोके यदिदं क्षत्रसंज्ञितम् ॥ २॥ कृतोऽयं कुलसङ्कल्पः क्षत्रियैर्वसुधाधिप । निदेशवाग्भिस्तत्ते हि विदितं भरतर्षभ ॥ ३ ॥ ऐलस्येक्ष्वाकुवंशस्य प्रकृतिं परिचक्षते । राजानः श्रेणिबद्धाश्च तथान्ये क्षत्रिया भुवि ॥ ४ ॥ ऐलवंश्याश्च ये राजंस्तथैवेक्ष्वाकवो नृपाः । तानि चैकशतं विद्धि कुलानि भरतर्षभ ॥ ५ ॥ ययातेस्त्वेव भोजानां विस्तरो गुणतो महान् ।

और तुमसे होसके सो ठीक २ बतलाइये ॥ ५१ ॥ त्रयोदश अध्याय समाप्त ॥ १३ ॥ छ ॥ छ ॥

श्रीकृष्णने कहा, कि-हे महाराज! तुममें सब गुण हैं, इस कारण राजसूय यज्ञ करना तुम्हारे लिये कुछ अनुचित नहीं है,तुम सब प्रकारसे राजसूय करनेके अधिकारी हो। यह सब तुम जानते ही हो तथापि तुमसे कुछ कहता हूं सुनो ॥ १ ॥ पहिले जमदग्नि-कुमार परशुरामने पृथिवीको निःक्षत्रिय किया था उसके अनन्तर जो क्षत्रियकुलोंमें जन्मे हैं वह वास्तविक क्षत्रिय नहीं हैं किन्तु क्षत्रियोंकेसा आचार व्यवहार करते हैं ॥ २ ॥ हे राजन् ! यह भी तुम्हें मालूम ही है कि—उस समय जिन आज्ञाकारियोंको परशु-रामजीने नहीं मारा था उन्होंने इकट्ठे होकर संकल्प किया कि-इनमें से जो सबको जीतलेगा वह सम्राट् होगा, बहुतसे राजे और क्षत्रिय ऐलवंश और इक्ष्वाकुवंशको फिर भूतलपर क्षत्रियों का मूलवंश कहते हैं ॥ ३ ॥ ४ ॥ हे युधिष्ठिर ! जिन राजाओंने ऐलवंश और इक्ष्वाकुवंशमें जन्म धारण किया उनसे एकसौ कुल उत्पन्न हुए हैं ॥ ५ ॥ हे राजन् उनमेंसे भोजकुलके राजा

भजतेऽद्य महाराज विस्तरं स चतुर्दिशम् ॥ ६ ॥ तेषां तथैव तां लक्ष्मीं सर्वक्षत्रमुपासते । इदानीमेव वै राजन् जरासन्धो महीपतिः । अभिभूय श्रियं तेषां कुलानामभिषेचितः ॥ ७ ॥ स्थितो मूर्ध्नि नरेन्द्राणामोजसाक्रम्य सर्वशः । सोऽवनिं मध्यमां भुक्त्वा मिथो भेदममन्यत ॥८॥ प्रभुर्यस्तु परो राजा यस्मिन्नेकवशे जगत् । स साम्राज्यं महाराज प्राप्तो भवति योगतः॥९॥ तं स राजा जरासन्धः संश्रित्य किल सर्वशः । राजन् सेनापतिर्जातः शिशुपालः प्रताप-वान् ॥ १० ॥ तमेव च महाराज शिष्यवत् समुपस्थितः । वक्रः करूषाधिपतिर्मायायोधी महाबलः ॥ ११ ॥ अपरौ च महावीर्यौ महात्मानौ समाश्रितौ । जरासन्धं महावीर्यं तौ हंसडिम्भकावुभौ ॥१२॥ दन्तवक्रः करूषश्च करभो मेघवाहनः । मूर्ध्ना दिव्यमणिं

ययातिका वंश अपने गुणोंसे भूमण्डलमें चारों ओर फैलरहा है ॥ ६ ॥ और वह क्षत्रिय अपने २ वंशकी राजलक्ष्मी पर अधिकार करते आरहे हैं इस समय राजा जरासन्ध अपने बाहुबलसे सकल राजाओंको जीतकर अपने देशमें ले आया और उनसे अपनी सेवा कराता हुआ सकल भूमण्डल पर एकछत्र राज्य कर रहा है उसने मध्यम देशोंमें राज्य करते हुए अपनेमें कमी समझी ॥ ७ ॥ ८ ॥ क्योंकि-हे महाराज ! जो राजा सबका प्रभु होता है और सब जगत् जिसके वशमें होता है नियमानुसार वह ही चक्रवर्ती पदको पाता है ॥९॥ हे राजन् ! देखो वह प्रतापवान् शिशुपाल भी सबप्रकारसे उस राजा जरासन्धका ही आश्रय लेकर उसका सेनापति बनगया है ॥ १० ॥ हे महाराज ! मायाके द्वारा युद्ध करनेवाला पराक्रमी करूष देशका राजा दन्तवक्र भी शिष्य की समान पास रहकर उसकी सेवा करता है ॥ ११ ॥ दूसरे उन प्रसिद्ध महाबली महात्मा हंस और डिम्भने भी महाबली जरासंधका ही आश्रय लेलिया है ॥ १२ ॥ मस्तक पर मणियोंको धारण किये दन्तवक्र, करूष, करभ और मेघवाहन उस जरासंध

बिभ्रत्यद्भुतमणिं विदुः ॥ १३ ॥ मुरञ्च नरकं चैव शास्ति यो यवनाधिपः । अपर्यन्तबलो राजा प्रतीच्यां वरुणो यथा ॥ १४॥ भगदत्तो महाराज वृद्धस्तव पितुः सखा । स वाचा प्रणतस्तस्य कर्मणा च विशेषतः ॥ १५ ॥ स्नेहबद्धश्च मनसा पितृवद्भक्तिमांस्त्वयि । प्रतीच्यां दक्षिणञ्चान्तं पृथिव्याः प्रति यो नृपः ॥ १६ ॥ मातुलो भवतः शूरः पुरुजित् कुन्तिवर्द्धनः । स ते सन्नतिमानेक स्नेहतः शत्रुसूदनः ॥ १७ ॥ जरासन्धं गतस्त्वेव पुरा यो न मया हतः । पुरुषोत्तमविज्ञातो योऽसौ चेदिषु दुर्मतिः ॥ १८ ॥ आत्मानं प्रतिजानाति लोकेऽस्मिन् पुरुषोत्तमम् । आदत्ते सततं मोहाद्यः स चिन्हञ्च मामकम् ॥ १९ ॥ वङ्गपुण्ड्रकिरातेषु राजा बलसमन्वितः । पौण्ड्रको वासुदेवेति योऽसौ लोकेऽभिविश्रुतः ॥ २० ॥ चतुर्थभाक् महाराज भोज इन्द्रसखो बली । विद्याबलाद्यो व्यजयत् स-

---

को अपना मुकुटमणि मानते हैं ॥ १३ ॥ मूर और नरक देशका शासन करनेवाला यवनाधिपति, जो कि पश्चिममें वरुणकी समान अगाधबल मानाजाता है वह भी इसके वशमें है ॥ १४ ॥ हे महाराज ! तुम्हारे पिताके मित्र वृद्ध भगदत्त जरासंधसे बात करनेमें भी नम्र रहते हैं और राजकार्य तो उससे बहुत ही दबकर करते हैं १५ जो चित्तसे तुम्हारे प्रेमी हैं और तुममें पिताकी समान भक्ति करते हैं जो पश्चिम और दक्षिण सीमाके स्वामी हैं ॥ १६ ॥ और जो प्रेमवश सदा तुमसे नम्र रहते हैं वह कुन्तीवंशवर्द्धन शत्रुनाशक तुम्हारे मामा पुरुजित् भी उस जरासंधके अनुगामी हैं ॥ १७ ॥ जो दुष्टात्मा चेदिदेशमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध है, जो सदा अज्ञानवश मेरे चिन्होंको धारण करे रहता है, जो वंग पुण्ड्र और किरात देशका स्वामी है जो भूमण्डल पर वासुदेव नामसे प्रसिद्ध है, जो इस लोकमें अपनेको पुरुषोत्तम जानता है और जिसको पहिले मैंने मारनेसे छोड़दिया था उस महाबली परम पराक्रमी पौंड्रकने भी इस समय जरासंधकाही आश्रय लेलिया है ॥ १८–२० ॥

पाण्ड्यक्रथकैशिकान् ॥२१॥ भ्राता यस्याकृतिः शूरो जामदग्न्यसमोऽभवत् । स भक्तो मागधं राजा भीष्मकः परवीरहा ॥ २२ ॥ प्रियाण्याचरतः प्रह्वान् सदा सम्बन्धिनस्ततः । भजतो न भजत्यस्मानप्रियेषु व्यवस्थितः ॥ २३ ॥ न कुलं न बलं राजन्नभ्यजानात्तथात्मनः । पश्यमानो यशो दीप्तं जरासन्धमुपस्थितः ॥२४॥ उदीच्याश्च तथा भोजाः कुलान्यष्टादश प्रभो । जरासन्धभयादेव प्रतीचीं दिशमाश्रिताः ॥ २५ ॥ शूरसेना भद्रकारा बोधाः शाल्वाः पटच्चराः । सुस्थलाश्च सुकुट्टाश्च कुलिन्दाः कुन्तिभिः सह ॥२६॥ शाल्वायनाश्च राजानः सोदर्यानुचरैः सह । दक्षिणा ये च पाञ्चालाः पूर्वाः कुन्तिषु कोशलाः ॥ २७ ॥ तथोत्तरां दिशं चापि परित्यज्य भयार्दिता । मत्स्याः संन्यस्तपादाश्च दक्षिणां दिशमाश्रिताः ॥ २८ ॥

हे महाराज !,जो चौथाई पृथिवीको भोगता है, भोज और देवराज इंद्र जिसके मित्र हैं, जिस बलीने पांड्य, क्रथ और कैशिक देशों का विजय किया है, परशुरामकी समान तेजस्वी आकृति जिसका भ्राता है वह विद्याबलसम्पन्न शत्रुनिसूदन राजा भीष्मक भी जरासंधके वशमें है ॥ २१-२२ ॥ भीष्मक हमारा संबंधी है, हम सदा उसका प्रियकार्यही करते हैं और विनीतभावसे अनुगामी रहते हैं परंतु तो भी वह हमसे मेल नहीं रखता, वह जरासंधकी कीर्तिको सुन मुग्ध हुआ अपने कुलाभिमान और बलाभिमान सबको तिलांजलि देकर जरासंधकी ही शरणमें रहता है ॥२३-२४॥ हे राजन् ! उत्तर देशके राजे और अठारह भोजकुल जरासंधके ही भयसे पश्चिम दिशाको भाग गये हैं ॥ २५ ॥ शूरसेन, भद्रकार, बोध, शाल्व, पटच्चर, सुस्थल, सुकुट्ट, कुलिंद, कुन्ति, शाल्वायन वंशके राजे, दक्षिण, पांचालदेशके राजे और पूर्वकोशल देशके राजे अपने परिवार और अनुचरों सहित पश्चिम दिशाको भाग गये तथा मत्स्य और संन्यस्तपाद देशके राजे भी जरासंधके भयसे उत्तरदिशाको छोड़कर दक्षिणमें चले

तथैव सर्वपांचाला जरासन्धभयार्दिताः । स्वराज्यं सम्परित्यज्य विद्रुताः सर्वतो दिशम् ॥ २९ ॥ कस्यचित्त्वथ कालस्य कंसो निर्मथ्य यादवान् । बार्हद्रथसुते देव्यावुपागच्छद्‌वृथामतिः ॥ ३० ॥ अस्तिः प्राप्तिश्च नाम्ना ते सहदेवानुजेऽबले । बलेन तेन स्वज्ञातीनभिभूय वृथामतिः ॥ ३१ ॥ श्रैष्ठ्यं प्राप्तः स तस्यासीदतीवाप-नयो महान् । भोजराजन्यवृद्धैश्च पीड्यमानैर्दुरात्मना ॥ ३२ ॥ ज्ञातित्राणमभीप्सद्भिरस्मत्सम्भावना कृता । दत्त्वाक्रूराय सुतनुं तामाहुकसुतां तदा ॥ ३३ ॥ सङ्कर्षणद्वितीयेन ज्ञातिकार्यं मया कृतम् । हतौ कंससुनामानौ मया रामेण चाप्युत ॥ ३४ ॥ भये तु समतिक्रान्ते जरासन्धे समुद्यते । मन्त्रोऽयं मन्त्रितो राजन् कुलैरष्टादशावरैः ॥ ३५ ॥ अनारमन्तो निघ्नन्तो महास्त्रैः शत्रुघातिभिः । न हन्यामो वयन्तस्य त्रिभिर्वर्षशतैर्बलम् ॥ ३६ ॥ तस्य

गए हैं ॥ २६—२८ ॥ तैसे ही पांचालदेशके सब राजे भी जरासंधके भयसे अपने२ राज्यको छोड़कर इधर उधर भागगए हैं२९ कुछ ही समय बीता कि—दानवराज कंस यादवोंका पराजय करके अस्ति और प्राप्ति नामक सहदेवकी बहिनें बार्हद्रथ की दोनों कन्याओंको विवाहकर लेगया था और वह दुष्टात्मा अपने बाहुबलसे अपनी जातिवालोंको दबाकर सबसे प्रधान बनबैठा था,जब उस की अनीति बहुत बढ़गई तब भोजवंशके वृद्ध क्षत्रियों ने मूढ़मति कंसकी दुष्टतासे अत्यन्त ही दुःखित हो जातिवालों की रक्षाके लिये मुझसे कहा मैंने उस समय अक्रूरको आहुक की कन्या देदी और जातिवालोंका हित करनेके लिये मैंने बलराम को साथमें लेकर कंस और सुनामका बध किया ॥ ३०–३४ ॥ हे राजन् ! ऐसा करनेपर कंसका भय तो जाता रहा, परन्तु कुछ ही दिनोंमें जरासन्ध प्रबलपराक्रमी होउठा, तब मैंने जाति बान्धवों के साथ बैठकर सम्मतिकी कि—यदि हम शत्रुनाशक अस्त्रोंसे तीनसौ वर्ष पर्यन्त निरन्तर जरासन्धकी सेनाका संहार करेंगे

छमरसङ्काशौ नलेन बलिनौम्वशौ । मामभ्यां हंसडिम्भावशस्त्रनिधनावुभौ ॥ ३७ ॥ तावुभौ सहितौ वीरौ जरासन्धश्च वीर्यवान् त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्य्याप्ता इति मे मतिः ॥ ३८ ॥ नहि केवलमस्माकं यावन्तोऽन्ये च पार्थिवाः । तथैव तेषामासीच्च बुद्धिर्बुद्धिमतांवर ॥ ३९ ॥ अथ हंस इति ख्यातः कश्चिदासीनमहान्नृपः । रामेण स हतस्तत्र संग्रामेऽष्टादशावरे ॥ ४० ॥ हतो हंस इति प्रोक्तमथ केनापि भारत । तच्छ्रुत्वा डिम्भको राजन् यमुनाम्भस्यमज्जत ॥ ४१ ॥ विना हंसेन लोकेऽस्मिन्नाहं जीवितुमुत्सहे । इत्येतां मतिमास्थाय डिम्भको निधनं गतः ॥ ४२ ॥ तथा तु डिम्भकं श्रुत्वा हंसः परपुरञ्जयः । प्रपेदे यमुनामेव सोऽपि तस्यां न्यमज्जत ॥ ४३ ॥ तौ स राजा जरासन्धः श्रुत्वा च निधनं गतौ । पुरं शून्येन मनसा प्रययौ भरतर्षभ

तब भी निःशेष नहीं कर सकेंगे देवतुल्य तेजस्वी महाबली परमपराक्रमी हंस और डिंभ नामक दो वीर उसके अनुगामी हैं वह शस्त्रके आघातसे कदापि मारे ही नहीं जायँगे ॥ ३५-३७ ॥ मेरी समझमें यह दोनों वीर और पराक्रमी जरासन्ध तीनों मिलकर निःसन्देह त्रिलोकीकी विजय करसकते हैं ॥ ३८ ॥ हे धर्मराज! यह विचार केवल मेराही नहीं है किंतु और भी जितने राजे हैं उनका भी ऐसा ही निश्चय है ॥३९॥ हंस नामक एक बड़ा प्रसिद्ध राजा था वह किसी संग्राममें बलरामजीके हाथसे मारा गया ॥ ४० ॥ डिम्भक लोगोंसे यह सुनकर, कि-हंस मारागया अपने साथी हंसके मारेजानेका अनुमान करके यमुनामें डूबनेको गया ॥ ४१ ॥ फिर हंसके विना मुझको जीवित रहनेकी इच्छा नहीं है ऐसा विचारकर उसने यमुनामें डूबकर प्राण खोदिये ॥ ४२ ॥ हे राजन्! उधर उसका साथी हंस भी अपने प्रेमी डिंभकका अपनी मृत्युके झूठे समाचारसे प्राणत्याग करना सुनकर यमुना पर गया और उसमें डूबकर अपने प्राण देदिये ॥ ४३ ॥ राजा जरासन्ध इन दोनों वीर पुरुषोंके मरणका समाचार पाकर मन

॥ ४४ ॥ ततो वयमविध्न तस्मिन् प्रतिगते नृपे । पुनरानन्दिनः सर्वे मथुरायां वसामहे ॥४५॥ यदा त्वभ्येत्य पितरं सा वै राजीव लोचना । कंसभार्या जरासन्धं दुहिता मागधं नृपम् ॥ ४६ ॥ चोदयत्येव राजेन्द्र पतिव्यसनदुःखिता । पतिघ्नं मे जहीत्येवं पुनः पुनररिन्दम ॥ ४७ ॥ ततो वयं महाराज तम्मंत्रं पूर्वमंत्रितम् । संस्मरंतो विमनसो व्यपयाता नराधिप ॥ ४८ ॥ पृथक्त्वेन महाराज संक्षिप्य महतीं श्रियम् । पलायामो भयात्तस्य सद्धुत-ज्ञातिबान्धवाः ॥४९॥ इति सञ्चिन्त्य सर्वे स्म प्रतीचीं दिशमाश्रिताः। कुशस्थलीं पुरीं रम्यां रैवतेनोपशोभिताम् ॥ ५० ॥ ततो निवेशं तस्यां च कृतवंतो वयं नृप । तथैव दुर्गसंस्कारं देवैरपि दुरासदम् ॥ ५१ ॥ स्त्रियोऽपि यस्यां युध्येयुः किमु वृष्णिमहारथाः । तस्यां

मनमें बहुतही उदास होता हुआ अपने नगरको लौटआया ॥४४॥ हे शत्रुनाशन ! उस जरासंधके लौट जानेपर हम सब भी फिर मथुरामें आकर आनंदके साथ रहने लगे ॥ ४५ ॥ हे महाराज ! कुछ दिनोंके अनन्तर पतिके वियोगसे दुःखित हुई जरासंधकी दोनों पुत्रियें कमलनयनी कंसकी स्त्रियें अपने पिता जरासंधके पास आकर वारंवार कहने लगी, कि-हमारे पतिका वध करनेवाले को मारो ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ हे राजन् ! जरासन्धके बल विक्रमका हमको पहिलेसे ही निश्चय था, इस समय उसको यादकरके बहुत ही चिंतामें पड़े और अपनी बड़ीभारी संपदाके विभाग करके सब थोड़ी २ लेकर चलेंगे ऐसा निश्चय कर हम सब जरासंधके भय से अपने स्थानको त्याग पुत्र जाति बांधवों सहित भागकर पश्चिम-दिशामें चले गए तहां रैवत पर्वतसे शोभायमान कुशस्थली नामक नगरीमें रहने लगे ॥ ४८-५० ॥ वहां हमने रहनेका स्थान ठीक करके ऐसा किला बना लिया है, कि-उसमें देवता भी नहीं पहुंच सकते ॥ ५१ ॥ हे राजन् ! तहां रहकर वृष्णि वंशी महारथियोंकी तो बातही दूर है, किन्तु स्त्रियें भी अनायास वहीं युद्ध करसकती हैं, हे महाराज ! उस नगरीमें हम निर्भय

यतमभिघ्नन् नित्यशोऽकुतोभयाः ॥ ५२ ॥ आलोच्यं गिरिमुख्यं तं मागधं तीर्णमेव च। माधवाः कुरुशार्दूल परां मुदमवाप्नुवन्॥५३॥ एवं वयं जरासंधादभितः कृतकिल्बिषाः। सामर्थ्यवंतः संबन्धाद पर्वतं समुपाश्रिताः ॥ ५४ ॥ त्रियोजनायतं सद्म त्रिस्कंधं योजनावधि। योजनांते शतद्वारं वीरविक्रमतोरणम् ॥ ५५ ॥ अष्टादशावरैर्नद्धं क्षत्रियैर्युद्धदुर्मदैः। अष्टादश सहस्राणि भ्रातॄणां संति नः कुले ॥ ॥ ५६ ॥ आहुकस्य शतं पुत्रा एकैकस्त्रिदशोपमः। चारुदेष्णः सह भ्रात्रा चक्रदेवोऽथ सात्यकिः ॥ ५७ ॥ अहञ्च रौहिणेयश्च सांबः प्रद्युम्न एव च। एवमेते रथाः सप्त राजन्नन्यान्निबोध मे ॥ ५८ ॥ कृतवर्मा ह्यनाधृष्टिः समीकः समितिंजयः। कङ्कः शंकुश्च कुंतिश्च सप्तैते वै महारथाः ॥ ५९॥ पुत्रौ चांधकभोजस्य वृद्धो राजा च ते दश। वज्रसंहनना वीरा वीर्यवंतो महारथाः ॥ ६० ॥ स्मरन्तो मध्यमं देशं वृष्णिमध्ये व्यवस्थिताः। स त्वं सम्रा

होकर रहते हैं ॥ ५२ ॥ हे महाराज ! माधव मगधदेशव्यापी रैवतक पर्वतको देखकर बड़े ही प्रसन्न हुए ॥ ५३ ॥ हे राजन् ! हम सामर्थ्यवाले होकर भी जरासंधके उपद्रवके भयसे पर्वतका आश्रय करके रहते हैं ॥ ५४ ॥ यह पर्वत तीन योजन लंबा, एक योजन से भी बड़े २ इक्कीस शिखरों वाला, एक २ योजनके अनंतर सौ २ द्वार और अति ऊँचे तोरणों वाला है ॥ ५५ ॥ युद्धके मतवाले महाबली पराक्रमी क्षत्रिय उसमें रहते हैं, हे राजन् ! हमारे कुलमें अठारह सहस्र भाई हैं ॥ ५६ ॥ आहुकके एकसौ पुत्र हैं, उनमें हर एक देवताकी समान है, चारुदेष्ण और उसका भ्राता चक्रदेव तथा सात्यकी ॥ ५७ ॥ मैं, बलदेव, युद्धमें विष्णुकी समान सांब, यह हम सातों रथी हैं, हे राजन ! औरोंको भी मुझ से सुनिये ॥ ५८ ॥ कृतवर्मा, अनाधृष्टि, समीक, समितिञ्जय, कङ्क, शङ्कु और कुन्ती यह सात महारथी ॥ ५९ ॥ और अंधक भोजके दोनों बूढ़े पुत्र तथा राजा उग्रसेन यह महाबल-पराक्रमी दृढ़ शरीर वाले दशों महावीर और महारथी हैं ॥ ६० ॥ हे युधिष्ठिर ! यह

स्तुरशैर्युक्तः सदा भरतसत्तम ॥ ६१ ॥ त्वं सम्राजमात्मानं कर्तुमर्हसि भारत । न तु शक्यं जरासन्धे जीवमाने महाबले ॥ ६२ ॥ राजसूयस्त्वयावाप्तुमेषा राजन्मतिर्मम । तेन रुद्धा हि राजानः सर्वे जित्वा गिरिव्रजे ॥ ६३ ॥ कन्दरे पर्वतेन्द्रस्य सिंहेनेव महाद्विपाः । स हि राजा जरासन्धो यियक्षुर्वसुधाधिपैः ॥ ६४ ॥ महादेवं महात्मानमुमापतिमरिन्दमम् । आराध्य तपसोग्रेण निर्जितास्तेन पार्थिवाः ॥ ६५ ॥ प्रतिज्ञायाश्च पारं स गतः पार्थिवसत्तम । स हि निर्जित्य निर्जित्य पार्थिवान् पृतनागतान् ॥६६ ॥ पुरमानीय बध्वा च चकार पुरुषव्रजम् । वयञ्चैव महाराज जरासन्धभयात्तदा ॥ ६७ ॥ मथुरां संपरित्यज्य गता द्वारवतीं पुरीम् । यदि त्वेनं महाराज यज्ञ प्राप्तुमभीप्ससि ॥ ६८ ॥ यतस्व तेषां मोक्षाय

सब ही जरासंधके अधिकारमेंके मध्यम देशका स्मरण करके यदुवंशियोंमें मिल गए हैं, सो हे भरतकुलभूषण ! तुम चक्रवर्त्ती राजाके तुल्य संपत्तिवाले हो, इसकारण क्षत्रियसमूहमें आपको अवश्य ही सम्राट् बनना चाहिये, परन्तु महाबली राजा जरासंधके जीते हुए मेरी समझमें राजसूय यज्ञ करनेमें तुम सफल मनोरथ नहीं होसकते. उसने अपने बाहुबलसे सब राजाओंको जीतकर जैसे सिंह पर्वतकी गुफामें हाथियोंको रखता है तैसे ही उनको पहाड़ी किलेमें बंद करके रक्खा है, उस राजा जरासंधकी इच्छा है कि इन से राजसूययज्ञ करै ॥ ६१—६४ ॥ इसीकारण हे राजन् ! उसने कठोर तपस्यासे पार्वतीसहित महात्मा शिवकी उपासना करके सब राजाओंको जीता है॥६५॥उस राजा जरासंधने अपनी प्रतिज्ञा पूरी करली,सेनाके सहित राजाओंको जीतकर अपने नगरमें ले आया और सबको कैद कररक्खा है हे महाराज!उस समयसे हम जरासंधके भयसे मथुरापुरीको छोड़कर द्वारकापुरीमें आगये हैं, हे महाराज! यदि आपको राजसूय यज्ञ करनेकी इच्छा है ६६-६८

जरासन्धवधाय च । समारंभो न शक्योऽयमन्यथा कुरुनन्दन॥६६॥ राजसूयस्य कात्स्न्र्येन कर्तुं मतिमतां वर । इत्येषा मे मती राजन्यथा वा मन्यसेऽनघ । एवं गते ममाचक्ष्व स्वयं निश्चित्य हेतुभिः॥७०

इति सभापर्वणि राजसूयारंभपर्वणि कृष्णवाक्ये चतुर्दशोध्यायः ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच । उक्तं त्वया बुद्धिमता यन्नान्यो वक्तुमर्हति। संशयानां हि निर्मोक्ता त्वं नान्यो विद्यते भुवि १ गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियङ्कराः । न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट्शब्दो हि कृच्छ्रभाक् ॥२॥ कथं परानुभावज्ञः स्वं प्रशंसितुमर्हति । परेण समवेतस्तु यः प्रशस्यः स पूज्यते ॥ ३ ॥ विशाला बहुला भूमिर्बहुरत्नसमाचिता । दूरं गत्वा विजानाति श्रेयो वृष्णिकुलोद्वह ॥ ४ ॥

तो पहिले जरासंधके पकड़े हुए राजाओंको छुड़ानेका और जरासंधके वधका यत्न करो, नहीं तो हे कुरुनंदन ! तुम किसी प्रकार भी राजसूय यज्ञको सुसिद्ध नहीं करसकोगे ॥ ६६ ॥ हे चतुरशिरोमणे ! राजसूययज्ञको करनेमें मेरा तो यह मत है, अब तुम ने इस विषयमें सब ओरके विचारसे जो कुछ निश्चय किया हो उसको कहो ॥ ७० ॥ चतुर्दश अध्याय समाप्त ॥ १४ ॥

युधिष्ठिरने कहा, कि-हे धीमन् ! तुमने मुझे जैसी सम्मति दी दूसरा कोई भी ऐसी संमति नहीं देसकता, क्योंकि-भूतल पर सन्देहोंको दूर करनेवाला तुम्हारे समान कोई नहीं है ॥ १ ॥ इस भूतलपर अपना प्रिय कार्य करनेवाले घर २ अनेकों राजे हैं उन में से साम्राज्य किसीने नहीं पाया क्यों कि-सम्राट्पद बड़ी कठिनतासे प्राप्त होता है ॥ २ ॥ जो पुरुष दूसरोंकी मर्यादाको जानता है वह अपनी प्रशंसा कभी नहीं करता क्योंकि—दूसरे जिसकी प्रशंसा करते हैं वही पूज्य होता है ॥ ३ ॥ हे कृष्ण ! यह पृथ्वी बहुत बड़ी है और अनेकों बहुमूल्य रत्नोंसे भरी हुई है, हे वृष्णिवंशावतंस ! लोकमें प्रवीणताके बिना कल्याणप्राप्ति कभी

शममेव परं मन्ये शमात् क्षेमं भवेन्मम। आरम्भे पारमेष्ठ्यन्तु न प्राप्यमिति मे मतिः ॥ ५ ॥ एवमेते हि जानन्ति कुले जाता मनस्विनः। कश्चित् कदाचिदेतेषां भवेच्छ्रेष्ठो जनार्दन ॥ ६ ॥ वयञ्चैव महाभाग जरासन्धभयाचदा। शङ्किताः स्म महाभाग दौरात्म्यात्तस्य चानय ॥ ७ ॥ अहं हि तव दुर्द्धर्ष भुजवीर्याश्रयः प्रभो। नात्मानं बलिनं मन्ये त्वयि तस्माद्विशङ्किते ॥ ८ ॥ त्वत्सकाशाच्च रामाच्च भीमसेनाच्च माधव। अर्जुनाद्वा महाबाहो हन्तुं शक्यो न वेति वै ॥ ९ ॥ एवं जानन्हि वार्ष्णेय विमृशामि पुनः पुनः। त्वं मे प्रमाणभूतोऽसि सर्वकार्य्येषु केशव। तच्छ्रुत्वा चाब्रवीद्भीमो वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ १० ॥ भीम उवाच। अनारम्भपरो राजा वाल्मीक इव सीदति। दुर्बलश्चानुपायेन बलिनं योऽधि-

---

नहीं होती ॥४॥ मेरी समझमें शान्ति ही सबसे अच्छी है शान्ति से ही मंगल होता है, युद्ध आदिसे उत्तम फलकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥ ५ ॥ हमारे कुलके जितने शूरवीर हैं उन सब का भी यही मत है, हे जनार्दन! प्रतीत होता है कि-इनमें कोईभी सर्वविजयी नहीं होसकता ॥ ६ ॥ हे महाभाग! इस दशामें तो उस दुष्टात्मा जरासंधसे हमको भी संदेह ही है ॥ ७ ॥ क्योंकि-हमको तो बड़ाभारी बल और भरोसा आपके ही भुजबलका है जब आपही उससे भयभीत होरहे हैं तब उसके सामने मैं अपने को बलवान् कैसे मानसकता हूं ॥ ८ ॥ हे महाबाहो माधव! आप बलराम, भीमसेन और अर्जुन इन चारोंमेंसे कोई उसका वध करसकेगा या नहीं ॥ ९ ॥ हे कृष्ण! बार २ ध्यान देकर मैं इस बातका ही विचार करता हूं अब हे केशव! आप अपनी संमति बताइये क्योंकि—मैं आपकी संमतिसे ही सब कामोंको किया करता हूं राजा युधिष्ठिरकी इस बातको सुनकर बात करनेमें प्रवीण भीमसेन बोल उठे॥ १०॥ भीमसेनने कहा, कि—जो राजा युद्धके आरंभसे मुख मोड़ता है और जो दुर्बल या उपाय

तिष्ठति ॥ ११ ॥ अतन्द्रितश्च प्रायेण दुर्बलो बलिनं रिपुम् । जयेत्
सम्यक् प्रयोगेण नीत्यार्थानात्मनो हितान् ॥ १२ ॥ कृष्णे नयो
मयि बलं जय पार्थे धनञ्जये । मागधं साधयिष्यामि इष्टिं त्रय
इवाग्नय ॥ १३ ॥ श्रीकृष्ण उवाच । अर्थानारभते बालो नानु-
बन्धमवेक्षते । तस्मादरिं न मृष्यन्ति बालमर्थपरायणम् ॥ १४ ॥
जित्वा जय्यान्यौवनाश्वः पालनाच्च भगीरथः । कार्त्तवीर्य्यस्तपो-
वीर्याद्बलात्तु भरतो विभुः ॥ १५ ॥ ऋद्धया मरुत्तस्तान् पञ्च
सम्राजस्त्वनुशुश्रुम । साम्राज्यमिच्छतस्ते तु सर्वाकारं युधिष्ठिर
॥१६॥ मन्वान् धरयानन्नुमूपाम्नेवमेव सतां युगे । निग्राह्य राजयां

हीन होकर बलवान्के साथ युद्ध करनेको चढाई करता है वह
दोनों कहाते हैं ॥ ११ ॥ जो राजा दुर्बल होते हुए भी आलस्य-
रहित होता है वह भले प्रकार युद्ध आदिके द्वारा बलवान्
शत्रुको भी जीत सकता है और नीतिके द्वारा अपने हितकारी
पदार्थोंको पाजाता है ॥ १२ ॥ देखो श्रीकृष्णमें नीति है मुझ
में बल है और धनञ्जय अर्जुनमें विजय पानेकी योग्यता है इस
कारण जैसे तीन अग्नियोंसे यज्ञ सिद्ध होजाता है तैसे ही हम
तीनों इकट्ठे होकर जरासंधके वधका काम सिद्ध करलेंगे ॥ १३ ॥
यह सुनकर श्रीकृष्णजीने कहा, कि–हे युधिष्ठिर ! अज्ञानी
पुरुष परिणामका विचार बिना किये ही कार्यका आरंभ करदेता
है इसकारण स्वार्थपरायण मूर्ख शत्रुको नहीं सहते हैं॥१४॥ पहिले
महाराज यौवनाश्व जीतनेयोग्य राजाओंको जीतकर भगीरथ
प्रजापालन करके कार्त्तवीर्य तपोबलसे भरत बाहुबलसे और मरुत
धनबलसे चक्रवर्ती हुए थे, ऐसा सुनते हैं, परन्तु हे युधिष्ठिर ! इस
समय सम्राट् होनेकी इच्छा करनेवाले आपमें तो सब ही गुण
हैं ॥ १५—१६ ॥ हे राजन् ! इन बताये हुए सब राजाओंने
सुखसाध्य मंत्रके अनुसार ही धर्म, अर्थ और नीतिके साथ
साम्राज्यको पाया था, इस समय बृहद्रथका पुत्र जरासंध सम्राट्

प्राप्तिर्धर्मार्थनयलक्षणः। बार्हद्रथो जरासन्धस्तद्विद्धि भरतर्षभ १७
न चैतमनुरुध्यन्ते कुलान्येकशतं नृपाः। तस्मादिह बलादेव सा-
म्राज्यं कुरुते हि सः ॥ १८ ॥ रत्नभाजो हि राजानो जरा
सन्धमुपासते। न च तुष्यति तेनापि बाल्यादनयमास्थितः ॥१९॥
मूर्द्धाभिषिक्तं नृपतिं प्रधानपुरुषो बलात्। आदत्ते न च नो दृष्टो-
ऽभागः पुरुषतः क्वचित् ॥ २० ॥ एवं सर्वान् वशे चक्रे जरा-
सन्धः शतावरान्। तं दुर्बलतरो राजा कथं पार्थ उपैष्यति ॥२१॥
प्रोक्षितानां प्रमृष्टानां राज्ञां पशुपतेर्गृहे। पशूनामिव का प्रीतिर्जी-
विते भरतर्षभ ॥ २२ ॥ क्षत्रियः शस्त्रमरणो यदा भवति स
त्कृतः। ततः स्म मागधं संख्ये प्रतिबाधेम यद्वयम् ॥ २३ ॥ षड-
शीतिः समानीताः शेषा राजंश्चतुर्दश। जरासन्धेन राजानस्ततः

हुआ है ॥ १७ ॥ राजाओंके एकसौ कुल उसके सामने नहीं पड़ते हैं इसकारण उसने बलात्कारसे साम्राज्य पद पर अधिकार कर लिया है ॥ १८ रत्नरूप पदार्थोंको भोगनेवाले राजे निरंतर उसकी उपासना करते हैं, परन्तु वह नीतिके विरुद्ध वर्त्ताव करने वाला जरासंध मूर्खतावश इससे भी संतुष्ट नहीं होता है ॥ १९ ॥ वह बड़े २ राजाओंको बलात्कारसे पकड़कर वशमें करता है, हमने तो उसको किसीसे हारते नहीं देखा है ॥ २० ॥ इसप्रकार कुछ कम सौ राजाओंको जरासंधने वशमें करलिया है, हे कुन्तीनन्दन ! तुम दुर्बल होकर उसके साथ कैसे युद्ध करोगे ? ॥ २१ ॥ हे भरतवंशावतंस ! बलि देनेके लिये लायेहुए राजे प्रोक्षित और संस्कार किये जाकर पशुओंकी समान पशुपतिके घरमें निवास करते हुए बड़े कष्टसे जीवनको बितारहे हैं ॥२२॥ क्षत्रिय शस्त्रसे माराजाय यही उसका सत्कार है, इसीकारण हम जरासंधको युद्धमें मारना चाहते हैं॥२३ ॥ वह जरासंध छियासी राजाओंको तो लेआया, चौदह राजाओंकी कमी रही है, सो

क्रूरं प्रचरस्यते ॥ २४ ॥ प्राप्नुयात् स यशो दीप्तं तत्र यो विघ्न-माचरेत् । जयेचश्च जरासन्धं स सम्राट् नियतं भवेत् ॥ २५ ॥

इति सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि कृष्णवाक्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर उवाच । सम्राड्गुणमभीप्सन् वै युष्मान् स्वार्थपरायणः । कथं प्रहिणुयां कृष्ण सोऽहं केवलसाहसात् ॥ १ ॥ भीमार्जुनावुभौ नेत्रे मनो मन्ये जनार्दनम् । मनश्चक्षुर्विहीनस्य कीदृशं जीवितं भवेत् ॥ २ ॥ जरासन्धबलं प्राप्य दुष्पारं भीमविक्रमम् । यमोपि न विजेताजौ तत्र वः किं विचेष्टितम् ॥ ३ ॥ अस्मिंस्त्वर्थान्तरं युक्तमनर्थः प्रतिपद्यते । तस्मान्न प्रतिपत्तिस्तु कार्य्या युक्ता मता मम ॥४॥ यथाहं विमृशाम्येकस्तत्तावच्छ्रूयतां मम । सन्न्यासं

चौदह राजाओंको लाते ही सबको वध करडालेगा ॥ २४ ॥ हे धर्मराज ! अब जो पुरुष दुरात्मा जरासंधके इस क्रूरकर्ममें विघ्न डालसकेगा, उसका यश भूमण्डलभरमें फैल जायगा और जो जरासंधको जीतसकेगा वह निश्चय ही चक्रवर्त्ती राजा होगा २५ पञ्चदश अध्याय समाप्त ॥ १५ ॥ ॥

युधिष्ठिर कहने लगे, कि–हे कृष्ण ! मैं साम्राज्य पानेकीही इच्छासे केवल साहसमात्र करके परम स्वार्थी पुरुषकी समान तुम्हें तहां कैसे भेजदूं ॥ १ ॥ हे देव ! भीम और अर्जुन मेरे दो नेत्र रूप हैं और आप साक्षात् मेरा मन हो, अतएव मैं तुम तीनोंको तहां भेजकर मनोहीन और नेत्रहीन हो कैसे जीवित रहसकूंगा ? ।२। विशेषकर जरासन्धकी महाबलवाली पराक्रमी दुर्जय सेनाको तो संग्राममें यमराज भी नहीं जीतसकते, फिर तुम युद्ध करके उसका क्या करसकोगे? ॥३॥ हे जनार्दन! जब स्पष्ट मालूम होता है, कि–इस काममें हाथ डालनेसे अनर्थ ही होगा, तब मेरी समझमें तो इस काममें प्रवृत्त होना अनुचित है ॥ ४॥ इस समय अकेले मैंने जो विचार किया है उसको सुनो हे जनार्दन! इस कामके विचारका

रोचये साधु कर्त्तव्यस्याद्य जनार्दन। प्रतिहन्ति मनो मेऽद्य राजसूयो दुराहरः॥ ५॥ वैशम्पायन उवाच। पार्थः प्राप्य धनुः श्रेष्ठमक्षय्यौ च महेषुधी। रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत॥ ६॥ अर्जुन उवाच। धनुः शस्त्रं शरा वीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम्। प्राप्तमेतन्मया राजन् दुष्प्रापं यदभीप्सितम्॥ ७॥ कुले जन्म प्रशंसन्ति वैद्याः साधुसु निष्ठिताः। बलेन सदृशं नास्ति वीर्यं तु मम रोचते॥ ८॥ कृतवीर्यकुले जातो निर्वीर्यः किं करिष्यति निर्वीर्ये तु कुले जातो वीर्यवांस्तु विशिष्यते॥ ९॥ क्षत्रियः सर्वशो राजन्यस्य वृत्तिर्द्विषज्जये। सर्वैस्तु खैर्विहीनोऽपि वीर्यवान् हि तरेद्रिपून्॥१०॥ सर्वैरपि गुणैर्युक्तो निर्वीर्यः किं करिष्यति। गुणीभूता गुणाः सर्वे तिष्ठन्ति हि पराक्रमे॥ ११॥ जयस्य हेतुः

तो एक साथ त्यागदेना ही ठीक है इस समय मेरे मनमें तो दुष्कर राजसूय यज्ञका विचार धक्कासा लगाता है॥ ५॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-जिस अर्जुनने पहिले उत्तम धनुष, अक्षय भाथे, रथ और ध्वजा पाई थी वह सभामें जाकर युधिष्ठिरसे कहने लगा, ॥ ६॥ अर्जुनने कहा, कि-हे राजन्! धनुष, शस्त्र, बाण, वीर्य अपने पक्षके सहायक कार्यका निश्चय यश और बल यह सब बड़ी कठिनतासे मिलता है परन्तु हमको यह सब पदार्थ इच्छानुसार मिल गये हैं॥७॥ विद्वान् पूर्ण अनुभवी पुरुष श्रेष्ठकुलमें जन्मकी प्रशंसा करते हैं परन्तु मेरी समझमें तो जो पुरुष बल रखता हो और बल के समान ही वीरता दिखा सकता हो वह ही वास्तव में प्रशंसा के योग्य है॥ ८॥ देखो वीर्यवानोंके कुलमें उत्पन्न होकर भी दुर्बल पुरुष क्या करसकता है? परन्तु निर्वीर्य कुलमें भी उत्पन्न हुआ वीर पुरुष प्रतिष्ठा पाता है॥९॥ शत्रुओंको जीतनेपर जिसकी उन्नति होती है वास्तवमें वह ही क्षत्रिय है,वीर पुरुष और सब गुणों से हीन होनेपर भी शत्रुओंको जीतसकता है॥१०॥ सकल गुणसंपन्न होनेपर भी निर्वीर्य पुरुषसे कोई काम सिद्ध नहीं होसकता पराक्रम होनेपर ही और गुण भी गुण रूपसे प्रसिद्ध होते हैं॥११॥

सिद्धिर्हि कर्म दैवञ्च संश्रितम् । संयुक्तो हि बलैः कश्चित् प्रमादान्नोपयुज्यते ॥ १२ ॥ तेन द्वारेण शत्रुभ्यः क्षीयते सबलो रिपुः । दैन्यं यथा बलवति तथा मोहो बलान्विते । तावुभौ नाशकौ हेतू राज्ञा त्याज्यौ जयार्थिना ॥ १३ ॥ जरासन्धविनाशश्च राज्ञाञ्च परिरक्षणम् । यदि कुर्य्याम यज्ञार्थं किन्ततः परमं भवेत् ॥ १४ ॥ अनारम्भे हि नियतो भवेदगुणनिश्चयः । गुणान्निःसंशयाद्राजन्नैर्गुण्यं मन्यसे कथम् ॥१५॥ काषायः सुलभः पश्चान्मुनीनां शमःमिच्छताम् । साम्राज्यन्तु भवेच्छक्यं वयं योत्स्यामहे परान ॥१६॥

इति सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासन्धवधमन्त्रणे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

वासुदेव उवाच । जातस्य भारते वंशे तथा कुन्त्याः सुतस्य च ।

उत्साह जयका हेतु है यह कर्म और प्रारब्ध दोनोंके अधीन है जो पुरुष बलवान् होकर भी प्रमाद के कारण कार्यके समय उदासीनता धारण करलेता है वह सेना सहित, शत्रुसे पराजय पाता है इसमें संदेह नहीं है, जैसे निर्बल शत्रुके ऊपर दया दिखाना हानिकारक है तैसे ही बलवान् शत्रुसे असावधान रहना भी हानिकारक है इसकारण जो राजा अपनी विजय चाहता हो उसको विनाश करनेवाली इन दो बातोंको त्यागदेना चाहिये ॥ १२-१३ ॥ देखो यदि हम यज्ञ करनेके निमित्तसे जरासंधका वध और अन्य राजाओंकी रक्षा करलें तो इससे अच्छी और कौन बात होगी१४ युद्धादिकी चेष्टा न करनेवालेको लोग गुणहीन समझते हैं तो आप किस कारणसे गुणका पक्ष न लेकर गुणहीन बनना चाहते हैं? ॥ १५ ॥ जो लोकमें निकम्मे कहलाकर मुनियोंकेसी शांति चाहते हैं उनको तो गेरुआ वस्त्र पहरके वनमें चलेजाना अच्छा है, इसलिये हमतो ऐसा न करके साम्राज्यके लिये शत्रुओंके साथ संग्राम करेंगे ॥ १६ ॥ षोडश अध्याय समाप्त ॥ १६ ॥

यह सुनकर श्रीकृष्णजी कहनेलगे, कि-भरतवंशमें उत्पन्न हुए

या वै युक्ता मतिः सेयमर्जुनेन प्रदर्शिता ॥ १ ॥ न स्म मृत्युं वयं विद्म रात्रौ वा यदि वा दिवा । न चापि कश्चिदमरमयुद्धेनानुशुश्रुम ॥ २ ॥ एतावदेव पुरुषैः कार्य्यं हृदयतोषणम् । नयेन विधिदृष्टेन यदुपक्रमते परान् ॥ ३ ॥ सुनयस्यानपायस्य संयोगे परमः क्रमः । सङ्गत्या जायतेऽसाम्य साम्यञ्च न भवेद्द्वयोः ॥ ४ ॥ अनयस्यानुपायस्य संयुगे परमः क्षयः । संशयो जायतेसाम्याज्जयश्च न भवेद्द्वयो ॥ ५ ॥ ते वय नयमास्थाय शत्रुदेहसमीपगा । कथमन्तं न गच्छेम वृक्षस्येव नदीरयाः । पररन्ध्रे समाक्रान्ताः स्वरन्ध्रावरणे स्थिता ॥६ ॥ व्यूढानीकैरतिबलैर्न युध्येदरिभिः सह । इति बुद्धिमतां नीतिस्तन्ममापीह रोचते ॥ ७ ॥ अनवद्या ह्यसम्बुद्धाः प्रविष्टाः

कुन्तीके पुत्रको जैसी बुद्धि होना चाहिये, महानुभाव अर्जुनमें वह स्पष्ट दीखती है ॥ १ ॥ हमें नहीं मालूम कि मृत्यु दिनमें होगी या रातमें और कोई पुरुष युद्ध न करनेसे अमर होगया हो यह भी हमने नहीं सुना ॥ २ ॥ इसकारण पुरुषको अपने हृदयके सन्तोषके लिये इतना तो करही लेना चाहिये, कि-विधिके अनुसार नीति पूर्वक शत्रुओंके ऊपर चढ़ाई करे ॥ ३ ॥ जिसको किसी प्रकार की बाधा न हो और जो नीतिसे चलरहा हो उसको चाहिये,कि-शत्रुके ऊपर चढ़ाई करे युद्धमें एक की उन्नति और दूसरेकी अवनति अवश्य ही होती है, दोनोंकी समता कभी नहीं होती ॥ ४ ॥ और जो पुरुष न नीतिसे चलता है और न उपाय ही करता है संग्राममें अवश्य ही उसका क्षय होता है और दोनों पक्ष समान पराक्रमी होने पर संशय ही रहता है, विजय दोनोंमेंसे किसीकी नहीं होती ॥ ५ ॥ अतएव हम नीतिमार्गके अनुसार अपने छिद्रों को ढककर शत्रुके छिद्रपर आक्रमण करेंगे तो जैसे नदीके वेग वृक्षको उखाड डालते हैं तैसे ही हम शत्रुके शरीरके पास पहुंचकर विजय क्यों नहीं पावेंगे ? ॥ ६ ॥ बुद्धिमानोंकी नीति है कि-जो शत्रु बहुतसी संनद्ध सेनाका स्वामी और बलवान हो उसके साथ युद्ध नहीं करना चाहिये, इस बातको मैं भी मानता हूं ॥ ७ ॥

शत्रुसद्म तत्। शत्रुदेहमुपाक्रम्य तं कामं प्राप्नुयामहे ॥ ८ ॥ एको ह्येव श्रियं नित्यं बिभर्ति पुरुषर्षभ। अंतरात्मेव भूतानां तत्क्षयं नैव लक्षये ॥ ९ ॥ अथवैनं निहत्याजौ शेषेणापि समाहताः। प्राप्नुयाम ततः स्वर्गं ज्ञातित्राणपरायणाः ॥ १० ॥ युधिष्ठिर उवाच॥ कृष्ण कोऽयं जरासन्धः किंवीर्य्यः किंपराक्रमः। यस्त्वां स्पृष्ट्वाग्निसदृशं न दग्धः शलभो यथा ॥ ११ ॥ श्रीकृष्ण उवाच। शृणु राजन् जरासन्धो यद्वीर्य्यो यत्पराक्रमः। यथा चोपेक्षितोऽस्माभिर्बहुशः कृतविप्रियः ॥ १२ ॥ अक्षौहिणीनां तिसृणां पतिः समरदर्पितः। राजा बृहद्रथो नाम मगधाधिपतिर्बली ॥ १३ ॥ रूपवान्वीर्यसंपन्नः श्रीमानतुलविक्रमः। नित्यं दीक्षाकिततनुः शतक्रतुरिवापरः १४

हम गुप्तरूपसे शत्रुके घरमें घुसकर उसके ऊपर आक्रमण करतेहुए अपना काम सिद्ध करलेंगे ॥ ८ ॥ दुष्टात्मा जरासंध सबसे श्रेष्ठ बनकर अकेला ही प्राणियोंके अन्तरात्माकी समान नित्य राजलक्ष्मीको भोगता है मैंने उसका वध करना ही कर्त्तव्य समझा है ॥ ९ ॥ यदि हम युद्धमें उस दुष्टात्माका संहार करके उसके अन्य साथियोंके हाथसे मारे भी गये तो उसके कारागारमें बंदी होकर पड़ेहुए क्षात्रियांधवोंकी रक्षा होनेसे अवश्य ही स्वर्गगति पावेंगे१० यह सुनकर युधिष्ठिरने कहा, कि हे कृष्ण ! यह जरासंध कौन है इसकी क्या वीरता है और कैसा पराक्रम है ? जो दुष्टात्मा तुमसे शत्रुता करके प्रज्वलित अग्निका स्पर्श करनेवाले पतंगेकी समान भस्म नहीं हुआ ॥ ११ ॥ श्रीकृष्णने कहा, कि–हे राजन् ! जरासंध जैसी वीरता और पराक्रमवाला है तथा जिसकारण से उसके अनेकों बार हमारे प्रतिकूल व्यवहार करनेपर भी हमने उसपर ध्यान नहीं दिया है सो सुनो ॥ १२ ॥ पहिले समयमें तीन अक्षौहिणियोंका स्वामी,युद्धका घमण्डी,रूपवान्, धनसम्पन्न महाबली,परम पराक्रमी, नित्य दीक्षित इंद्रकी समान बृहद्रथ नाम-

तेजसा सूर्यसङ्काशः क्षमया पृथिवीसमः । यमान्तकसमः क्रोधे श्रिया वैश्रवणोपमः ॥ १५ ॥ तस्याभिजनसंयुक्तैर्गुणैर्भरतसत्तम ! व्याप्तेयं पृथिवी सर्वा सूर्य्यस्येव गभस्तिभिः ॥ १६ ॥ स काशिराजस्य सुते यमजे भरतर्षभ । उपयेमे महावीर्यो रूपद्रविणसंयुते ॥ १७ ॥ तयोश्चकार समयं मिथः स पुरुषर्षभः । नातिवर्तिष्य इत्येवं पत्नीभ्यां सन्निधौ तदा ॥ १८ ॥ स ताभ्यां शुशुभे राजा पत्नीभ्यां वसुधाधिपः । प्रियाभ्यामनुरूपाभ्यां करेणुभ्यामिव द्विपः ॥ १९ ॥ तयोर्मध्यगतश्चापि रराज वसुधाधिपः । गङ्गायमुनयोर्मध्ये मूर्तिमानिव सागरः ॥२०॥ विषयेषु निमग्नस्य तस्य यौवनमभ्यगात् । न च वंशकरः पुत्रस्तस्याजायत कश्चन ॥ २१ ॥ मङ्गलैर्बहुभिर्होमैः पुत्रकामाभिरिष्टिभिः । नाससाद नृपश्रेष्ठः पुत्रं

वालाराजा मगधदेशमें राज्य करता था ॥१३-१४॥ यह राजा तेज में सूर्यकी समान, क्षमामें पृथ्वीकी तुल्य, क्रोधमें कालान्तक यमकी समान और ऐश्वर्यमें कुवेरकी समान था ॥ १५ ॥ हे भरतवंश भूषण ! उसके श्रेष्ठगुणों से सूर्यकी किरणोंसे जैसे, यह पृथ्वी मंडलव्याप्त होगया ॥ १६ ॥ हे युधिष्ठिर ! उस महावीर राजाने काशिराजकी रूपधनवती दो कन्याओंके साथ विवाह किया १७ राजाने उस समय उन दोनों स्त्रियोंसे प्रतिज्ञा करली थी; कि-मैं दोनोंसे एकसा प्रेम रक्खूंगा ॥ १८ ॥ राजा उन दोनों प्रेम वती स्त्रियोंके मध्यमें होकर दो हथिनियोंके मध्यमें गजराजकी समान और गंगा यमुनाके मध्यमें मूर्तिमान् समुद्रकी समान शोभा को प्राप्त हुआ ॥ १९ ॥ २० ॥ उसने विषयोंमें निमग्न होकर अपनी युवावस्था विताढी परन्तु उसके कोइ वंशको चलानेवाला पुत्र नहीं हुआ ॥ २१ ॥ राजाने अनेकों मांगलिक होम और पुत्र कामेष्टि नामक यज्ञ किये, परन्तु किसी प्रकार भी कुलको बढ़ाने वाला पुत्र नहीं पाया, उस राजाने एक समय सुना, कि-महात्मा

कुलविवर्द्धनम् ॥ २२ ॥ अथ काक्षीवतः पुत्र गौतमस्य महात्मनः । शुश्राव तपसि श्रान्तमुदारं चण्डकौशिकम् ॥२३॥ यदृच्छयागतं तन्तु वृक्षमूलमुपाश्रितम् पत्नीभ्यां सहितो राजा सर्वरत्नैरतोषयत् ॥२४॥ तमब्रवीत् सत्यधृतिः सत्यवागृषिसत्तमः । परितुष्टोऽस्मि राजेन्द्र वरं वरय सुव्रत ॥ २५॥ ततः सभार्यः प्रणतस्तमुवाच बृहद्रथः । पुत्रदर्शननैराश्याद्बाष्पसन्दिग्धया गिरा ॥ २६ ॥ राजोवाच । भगवन् राज्यमुत्सृज्य प्रस्थितोऽहं तपोवनम् । किं वरेणाल्पभाग्यस्य किं राज्येनाप्रजस्य मे ॥२७॥ श्रीकृष्ण उवाच । एतच्छ्रुत्वा मुनिर्ध्यानमगमत् क्षुभितेन्द्रियः । तस्यैव चाम्रवृक्षस्य छायायां समुपाविशत्॥२८॥तस्योपविष्टस्य मुनेरुत्सङ्गे निपपात ह । अवातमशुकादष्टमेकमाम्रफलं किल ॥ २९ ॥ तत् प्रगृह्य मुनिश्रेष्ठो

कक्षीवान् गौतमपुत्र उदारस्वभाव भगवान् चण्डकौशिक तपस्या में परिश्रम उठा अपनी इच्छासे आकर एक वृक्षके नीचे ठहरे हैं उस समय राजा दोनों स्त्रियों सहित उनके पास गया और उनको अनेकों रत्न पदार्थ समर्पण करके सन्तुष्ट किया ॥ २३ ॥ २४ ॥ सच्चे धैर्य और सत्यवचन वाले ऋषिश्रेष्ठ चण्डकौशिक राजाके भक्तिभावसे प्रसन्न होकर कहनेलगे कि—हे राजेन्द्र ! मैं तेरी श्रद्धा को देखकर प्रसन्न हूं अब तू कुछ वर मांग ॥ २५ ॥ उस समय दोनों स्त्रियों सहित महाराज बृहद्रथने महर्षिको प्रणाम किया और पुत्रदर्शनकी निराशासे नेत्रोंमें आंसू भरकर गद्गद वाणी में कहने लगे ॥ २६ ॥ राजाने कहा, कि–हे भगवन् मैं सन्तानहीन बड़ा अभागा हूं राज्यको छोड़कर तपोवनमें चलाआया हूं इस समय मैं वर मांगकर क्या करूंगा ?॥ २७ ॥ श्रीकृष्ण कहते हैं कि—हे युधिष्ठिर ! वह महर्षि राजाके ऐसे कातर वचनको सुनकर दयालु हो उस आमके वृक्षके नीचे ही बैठकर ध्यान करने लगे ॥२८॥उसी समय तोतेका न खाया हुआ एक सरस आमका फल वृक्षमेंसे अचानक उनकी गोदमें गिरा ॥ २९ ॥ महर्षिने पुत्रकी

हृदयेनाभिमंत्र्य च । राज्ञे ददावप्रतिमं पुत्रसम्प्राप्तिकारणम् ॥३०॥ उवाच च महाप्राज्ञस्तं राजानं महामुनिः । गच्छ राजन् कृतार्थोऽसि निवर्त्तस्व नराधिप ॥ ३१ ॥ एतच्छ्रुत्वा मुनेर्वाक्यं शिरसा प्रणिपत्य च । मुनेः पादौ महाप्राज्ञः स नृपः स्वगृहं गतः ॥ ३२॥ यथासमयमाज्ञाय तदा स नृपसत्तम । द्वाभ्यामेकं फलं प्रादात् पत्नीभ्यां भरतर्षभ ॥ ३३ ॥ ते तदाम्रं द्विधा कृत्वा भक्षयामासतुः शुभे । भावित्वादपि चार्थस्य सत्यवाक्यतया मुने ॥३४॥ तयोः सम भवद् गर्भः फलप्राशनसम्भवः । ते च दृष्ट्वा स नृपतिः परां मुदमवाप ह ॥ ३५ ॥ अथ काले महाप्राज्ञ यथासमयमागते । प्रजायेतामुभे राजन् शरीरशकले तदा ॥ ३६ ॥ एकाक्षिबाहुचरणे

प्राप्तिका कारणभूत परमरमणीय आम्रफल लेकर कुछ समय मन ही मनमें विचार करके राजाको देदिया ॥ ३० ॥ और उन ज्ञानी महामुनिने कहा, कि–हे राजन् ! अब तुम अपने घरको लौट जाओ, तुम्हारा मनोरथ पूरा हुआ, अबतुम शीघ्र ही पुत्रका मुख देखोगे ॥ ३१ ॥ उस परमप्रवीण राजा बृहद्रथने महर्षिकी इस बातको सुनकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया और रानियों सहित अपने घरको चला आया ॥३२॥ हे युधिष्ठिर ! तदनन्तर राजा ने शुभ मुहूर्त्त विचार कर वह एक ही फल दोनों रानियोंको दिया ॥ ३३ ॥ उन्होंने उस फलके दो टुकड़े करके आपसमें एक एक टुकड़ा बाँटकर खालिया उस फलका खानेके अनन्तर भावी के बलवान् होनेसे और महर्षिके सत्यवादीपनके प्रभावसे उन दोनोंके ही गर्भ रहगया, दोनों रानियोंको गर्भवती देखकर वह राजा बड़ाही प्रसन्न हुआ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ हे राजन् ! तदनंतर कुछ दिनोंमें प्रसवकाल आने पर दोनों रानियोंने शरीरके दो टुकड़े पैदा किये ॥ ३६ ॥ उन दोनों टुकड़ोंमें एक २ नेत्र, एक२ बाहु एक २ चरण, आधा २ पेट आधा २ मुख और आधी २

अर्द्धोदरमुखस्फिचे । दृष्ट्वा शरीरशकले प्रवेपथुरुभे भृशम् ॥३७॥ उद्विग्ने सह सम्मन्त्र्य ते भगिन्यौ तदाबले । सजीवे प्राणिशकले तत्यजाते सुदुःखिते ॥ ३८ ॥ तयोर्धात्र्यौ सुसम्वीते कृत्वा ते गर्भसंप्लवे । निर्गम्यान्तःपुरद्वारात् समुत्सृज्याभिजग्मतुः ॥३९॥ ते चतुष्पथनिक्षिप्ते जरा नामाथ राक्षसी । जग्राह मनुजव्याघ्र मांस-शोणितभोजना ॥ ४० ॥ कर्त्तुकामा सुखवहे शकले सा तु राक्षसी । संयोजयामास तदा विधानबलचोदिता ॥ ४१ ॥ ते समानीतमात्रे तु शकले पुरुषर्षभ । एकमूर्त्तिधरो वीरः कुमारः समपद्यत ॥ ४२ ॥ ततः सा राक्षसी राजन् विस्मयोत्फुल्ल-लोचना । न शशाक समुद्वोढुं वज्रसारमयं शिशुम् ॥४३॥ बाल-स्ताम्रतलं मुष्टिं कृत्वा चास्ये निधाय सः । प्राक्रोशदतिसंरब्धः

कमर थी उन शरीरके टुकड़ोंको देखकर दोनों रानियें बहुत ही भयभीत हुईं ॥ ३७ ॥ उन घबड़ाई हुई दोनों बहिनोंने उससमय सम्मति करके बड़ी दुःखित हो तिन दोनों सजीव शरीर खण्डों को त्यागदेनेका निश्चय किया ॥३८॥ उन दोनोंकी धाइयें आज्ञा पाते ही तत्कालके उत्पन्न हुए उन दोनों शरीरखण्डोंको भले प्रकारसे ढकेहुए रणवासमें से बाहर जा डालकर चली आईं ३९ हे राजन् ! तदनन्तर रुधिर मांसका भोजन करनेवाली एक जरा नामक राक्षसीने चौराहेमें पड़ेहुए उन शरीरके दो टुकड़ोंको उठा लिया ॥ ४० ॥ होनहारकी कैसी अकथनीय महिमा है, कि-वह राक्षसी दैवकी प्रेरणासे इन शरीरके दोनों टुकड़ोंको सुभीते के साथ लेजानेके लिये जोड़ने लगी ॥ ४१ ॥ हे राजन् ! उन टुकड़ोंको ज्योंही मिलाया वह उसी समय एक मूर्त्ति होकर महाबली परमपराक्रमी कुमार बनगया ॥ ४२ ॥ तब तो हे राजन! वह राक्षसी भी अचंभेमें हो टकटकी लगाकर देखनेलगी और उस वज्रके समान दृढ शरीरवाले बालकको उठा भी न सकी ॥ ४३ ॥ वह बालक लाल २ हथेलीवाली मुट्ठीको मुखमें देकर सजल घनघटा

सतोय इव तोयदः ॥ ४४ ॥ तेन शब्देन सम्भ्रान्तः सहसाऽन्तः-
पुरे जनः । निर्जगाम नरव्याघ्र राज्ञा सह परन्तप ॥ ४५ ॥ ते
चावले परिम्लाने पयःपूर्णपयोधरे । निराशे पुत्रलाभाय सह
सैवाभ्यगच्छताम् ॥ ४६ ॥ तेऽथ दृष्ट्वा तथाभूते राजानं चेष्ट-
सन्ततिम् । तञ्च बालं सुबलिनं चिन्तयामास राक्षसी ॥ ४७ ॥
नार्हामि विषये राज्ञो वसन्ती पुत्रगृद्धिनः । बालं पुत्रमिमं हन्तुं
धार्मिकस्य महात्मनः ॥ ४८ ॥ सा तं बालमुपादाय मेघलेखेव
भास्करम् । कृत्वा च मानुषं रूपमुवाच वसुधाधिपम् ॥ ४९ ॥
राक्षस्युवाच । बृहद्रथ सुतस्तेऽयं मया दत्तः प्रगृह्यताम् । तव पत्नी-
द्वये जातो द्विजातिवरशासनात् । धात्रीजनपरित्यक्तो मयायं परि-
रक्षितः ॥ ५० ॥ श्रीकृष्ण उवाच । ततस्ते भरतश्रेष्ठ काशिराज-

के गर्जनेकी समान गभीर स्वरसे रोने लगा ॥ ४४ ॥ हे युधि-
ष्ठिर ! रणवासके सबलोग उस अचानक गभीर रोदनके शब्दको
सुनकर अचंभेमें हुएसे राजाके सहित बाहर निकल आये ॥ ४५॥
दूधभरे स्तनोंके बोझसेनमीहुई मलिनमुखी वह निराश दोनों
रानियें भी पुत्रको पाने के लिये शीघ्र ही बाहर आगईं ॥ ४६ ॥
वह राक्षसी उन दोनों रानियोंको ऐसी दशामें और राजाको
पुत्रका अभिलाषी तथा उस परमबली बालकको देखकर चिन्ता
करनेलगी, कि—॥ ४७ ॥ मैं इस राजाके देशमें बसती हूं इस
राजाको सन्तानकी बड़ी अभिलाषा है तथा यह परमधार्मिक और
महात्मा है अतः इसकी इस बालक संतानको नष्ट करना बहुत ही
अनुचित है ॥ ४८ ॥ मन ही मनमें ऐसा विचार करके मनुष्यका
रूप धारण कर उस बालकको लिये हुए राजाके समीप चलीगई
और कहनेलगी ॥ ४९ ॥ राक्षसीने कहा, कि—हे राजन् बृहद्रथ!
यह बालक तुम्हारा पुत्र है मेरे दिये हुए इसको ग्रहणकरो यह ब्राह्म
णके वरदानके प्रभावसे तुम्हारी दोनों रानियोंके गर्भसे उत्पन्नहुआ
है धाइयें इस को डाल आई थीं मैंने इसकी रक्षाकी है ॥ ५० ॥

सुते शुभे। तं बालमभिपद्याशु प्रस्नवैरभ्यषिञ्चताम् ॥ ५१ ॥ ततः स राजा संहृष्टः सर्वं तदुपलभ्य च। अपृच्छद्धेमगर्भाभां राक्षसीं तामराक्षसीम् ॥ ५२ ॥ राजोवाच। का त्वं कमलगर्भाभे मम पुत्रप्रदायिनी। कथय ब्रूहि कल्याणि देवता प्रतिभासि मे ५३

इति सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासन्धोत्पत्तौ सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

राक्षस्युवाच। जरा नामास्मि भद्रं ते राक्षसी कामरूपिणी। तव वेश्मनि राजेन्द्र पूजिता न्यवसं सुखम् ॥ १ ॥ गृहे गृहे मनुष्याणां नित्यं तिष्ठामि राक्षसी। गृहदेवीति नाम्ना वै पुरा सृष्टा स्वयम्भुवा ॥ २ ॥ दानवानां विनाशाय स्थापिता दिव्यरूपिणी। यो मां भक्त्या लिखेत् कुड्ये सपुत्रां यौवनान्विताम् ॥ ३ ॥ गृहे तस्य भवेद्वृद्धिरन्यथा क्षयमाप्नुयात्। त्वद्गृहे तिष्ठमानाहं पूजिताहं

श्रीकृष्ण कहते हैं कि–हे युधिष्ठिर! काशिराजकी पुत्री उन दोनों रानियोंने तत्काल आनन्दभरे चित्तसे उस बालकको लेकर स्तनों के दूधसे अभिषिक्त किया ॥ ५१ ॥ तदनन्तर वह राजा सकल समाचार सहित पुत्रको पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उस सर्वाङ्गसुंदरी मनुष्य रूपधारिणी राक्षसीसे पूछा ॥ ५२ ॥ राजाने कहा, कि—हे शुभे! हे परम कान्तिवाली! तूने मुझे पुत्र दिया है अब यह तो बता कि—तू कौन है मुझे तो देवता मालूम होती है ॥ ५३ ॥ सप्तदश अध्याय समाप्त ॥ १७ ॥

राक्षसीने कहा, कि-हे राजेन्द्र! तुम्हारा मंगल हो, मैं कामरूपा राक्षसी हूं,मैं बड़े आदरके साथ सुखपूर्वक आपके घरमें रहती हूं ॥ १ ॥ मैं मनुष्योंके प्रत्येक घरमें नित्य निवास करती हूं भगवान् ब्रह्माजीने मुझ राक्षसीको रचकर मेरा नाम गृहदेवी रखदिया है २ मैं दिव्यरूपवाली दानवोंके विनाशके लिये स्थापित हुई हूं, जो पुरुष अपने घरकी दीवार पर भक्तिके साथ मेरी नवयौवनवाली पुत्रवती मूर्त्ति लिखेगा, उसके घरमें सदा धन धान्य पुत्रादि

सदा विभो ॥ ४ ॥ लिखिता चैव कुड्येषु पुत्रैर्बहुभिरावृता । गन्धपुष्पैस्तथा धूपैर्भक्ष्यैर्भोज्यैः सुपूजिता ॥ ५ ॥ साहं प्रत्युपकारार्थं चिन्तयाम्यनिशं तव । तवेमे पुत्रशकले दृष्टवत्यस्मि धार्मिक ॥ ६ ॥ संश्लेषिते मया दैवात्कुमारः समपद्यत । तव भाग्यान्महाराज हेतुमात्रमहं त्विह ॥ ७ ॥ मेरुं वा खादितुं शक्ता किं पुनस्तव बालकम् । गृहसंपूजनात्तुष्टया मया प्रत्यर्पितस्तव ॥ ८ ॥ श्रीकृष्ण उवाच । एवमुक्त्वा तु सा राजंस्तत्रैवान्तरधीयत । स संगृह्य कुमारं तं प्राविशत गृहं नृपः ॥ ९ ॥ तस्य बालस्य यत् कृत्यं तच्चकार नृपस्तदा । आज्ञापयच्च राक्षस्या मगधेषु महोत्सवम् ॥१०॥ तस्य नामाकरोच्चैव पितामहसमः पिता । जरया संधितो

की वृद्धि होगी और ऐसा न करनेसे अवश्य ही अमङ्गल होगा, हे राजन् ! तुम्हारे घरमें मैं सदा पूजित होकर रहती हूं ॥३॥४॥ तुम्हारे घरकी भीतोंपर अनेकों पुत्रोंसे युक्त मेरी मूर्त्ति लिखीहुई है, और गंध, पुष्प, धूप, भक्ष्य, भोज्य आदिसे सदा मेरी पूजा होती है ॥५॥ इस कारणसे मैं निरन्तर चिंता करती हूं कि-किस प्रकार आपका उपकार करू,हे धर्मात्मन् ! आज दैववश मैंने तुम्हारे पुत्रके शरीरके दो टुकड़े देखपाये ॥ ६ ॥ उनको लेकर ज्यों ही मैंने मिलाया, कि-यह एक कुमार बनगया हे महाराज ! यह अचरजकी बात आपके ही भाग्यसे हुई है, मै इसमें निमित्तमात्र हूं॥७ हे राजन् ! मैं राक्षसी हूं, सुमेरुको भी भक्षण कर सकती हूं, फिर तुम्हारे बालकको भक्षण करना तो बात ही क्या थी ? केवल निरंतर आपके घर पूजित होती हूं इसीसे तुम्हारा पुत्र तुम्हें अर्पण करदिया है ॥ ८ ॥ श्रीकृष्ण कहते हैं, कि-हे युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर वह राक्षसी तहां ही अन्तर्धान होगई और वह बृहद्रथ राजा कुमारको लेकर महलमें चलागया ॥ ९ ॥ तदनन्तर राजाने उस बालकका जातकर्मादि जो कुछ संस्कार करना था वह किया और अपने राज्यके सब देशोंमें जरा राक्षसीका महोत्सव करनेकी आज्ञा दी ॥ १० ॥ तदनन्तर पितामहकी समान उस

यस्माज्जरासन्धो भवत्वयम् ॥ ११ ॥ सोऽवर्द्धत महातेजा मागधाधिपतेः सुतः । प्रमाणबलसम्पन्नो हुताहुतिरिवानलः । मातापित्रोर्नन्दिकरः शुक्लपक्षे यथा शशी ॥ १२ ॥ ॥

इति सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासन्धोत्पत्तौ अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

श्रीकृष्ण उवाच । कस्यचित्त्वथ कालस्य पुनरेव महातपाः । मगधेषूपचक्राम भगवांश्चण्डकौशिकः ॥ १ ॥ तस्यागमनसंहृष्टः सामात्यः सपुरःसरः । सभार्य्यः सह पुत्रेण निर्जगाम बृहद्रथः ॥ २ ॥ पाद्यार्घ्याचमनीयैस्तमर्चयामास भारत । स नृपो राज्यसहितं पुत्रं तस्मै न्यवेदयत् ॥ ३ ॥ प्रतिगृह्य च तां पूजां पार्थिवाद्भगवानृषिः । उवाच मागधं राजन् प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ४ ॥ सर्वमेतन्मया ज्ञातं राजन् दिव्येन चक्षुषा । पुत्रस्तु शृणु राजेन्द्र

बृहद्रथने, क्योंकि उसके पुत्रको जरानामक राक्षसीने संधित अर्थात् मिलाकर जोड़ा था इसकारण उसका नाम जरासंध रक्खा ११ जरासंध अपने पिता बृहद्रथके घर होमेहुए अग्निकी समान और शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी समान दिन २ अपने शरीरके अनुसार बलसहित बढ़नेलगा, यह देखकर उसके माता पिताके आनन्द की सीमा न रही ॥ १२ ॥ अष्टादश अध्याय समाप्त ॥ १८ ॥

श्रीकृष्णने कहा, कि-हे राजन् ! इसके अनन्तर कुछ दिनों बाद भगवान् चण्डकौशिक ऋषि विचरते २ फिर मगधदेशमें आये ॥१॥ महाराज बृहद्रथ उनके आनेसे परम प्रसन्न हो मंत्री, सेवक, दोनों रानियें और पुत्रसहित उनके पास गया ॥ २ ॥ हे राजन् ! उस राजा बृहद्रथने पाद्य, अर्घ और आचमनके द्वारा पूजा कर राज्यसहित अपना पुत्र उनको निवेदन किया ॥ ३ ॥ हे राजन् ! भगवान् चण्डकौशिक ऋषि राजाकी पूजाको ग्रहण करनेके अनन्तर मनमें प्रसन्न होकर कहनेलगे, कि-॥ ४ ॥ हे राजन् ! मैंने दिव्यदृष्टिके द्वारा यह सब वृत्तांत जानलिया है,

यादृशोऽयं भविष्यति ॥ ५ ॥ अस्य रूपञ्च सत्त्वञ्च बलमूर्जितमेव च । एष श्रिया समुदितः पुत्रस्तव न संशयः ॥ ६ ॥ प्रापयिष्यति तत्सर्वं विक्रमेण समन्वितः । अस्य वीर्यवतो वीर्यं नानुयास्यन्ति पार्थिवाः ॥ ७ ॥ पतत्रो वैनतेयस्य गतिमन्ये यथा खगाः । विनाशमुपयास्यन्ति ये चास्य परिपन्थिनः ॥ ८ ॥ देवैरपि विसृष्टानि शस्त्राण्यस्य महीपते । न रुजं जनयिष्यन्ति गिरेरिव नदीरयाः ॥ ९ ॥ सर्वमूर्द्धाभिषिक्तानामेष मूर्ध्नि ज्वलिष्यति । प्रभाहराऽयं सर्वेषां ज्योतिषामिव भास्करः ॥ १० ॥ एनमासाद्य राजानः समृद्धबलवाहनाः । विनाशमुपयास्यन्ति शलभा इव पावकम् ॥ ११ ॥ एष श्रियः समुदिताः सर्वराज्ञां ग्रहीष्यति । वर्षास्विवोदीर्णजला नदीर्नदनदीपतिः ॥ १२ ॥ एष धारयिता सम्यक् चातुर्वर्ण्यं महाबलः । शुभाशुभमिव स्फीता

हे राजेन्द्र ! तुम्हारा यह पुत्र जैसा सौभाग्यशाली होगा सो सुनो॥५॥ तुम्हारा यह कुमार रूपवान्, वीर, बली, पराक्रमी और अतुल ऐश्वर्यवाला होगा, इसमें संदेह नहीं है ॥ ६ ॥ यह अपने पराक्रमसे सकल ऐश्वर्यको पावेगा, जैसे अन्य पक्षी उड़तेहुए पक्षिराज गरुड़का पीछा नहीं करसकते तैसे ही कोई भी राजे इस वीर्यवान् कुमारके पराक्रमकी बराबरी नहीं करसकेंगे और जो इससे शत्रुता करेंगे वह अवश्य नाशको प्राप्त होजायंगे ॥ ७-८ ॥ हे राजन् ! जैसे नदीकी तरंगोंसे पर्वतको कुछ भी हानि नहीं होती तैसे ही देवताओंके शस्त्रप्रहारसे भी इसको कुछ पीड़ा नहीं होगी॥९॥ यह सकल क्षत्रिय राजाओंके शिरपर शोभा पावेगा, जैसे सूर्य अन्य सकल ज्योतियोंकी प्रभाको कम करदेता है तैसे ही यह कुमार सबोंके तेजको नष्ट करदेगा ॥ १० ॥ जैसे पतंगे अग्निमें नष्ट होजाते हैं तैसे ही धन और वाहनोंवाले ऐश्वर्यवान् राजे युद्धमें इसके हाथसे मारेजायंगे ॥ ११ ॥ जैसे वर्षाकालमें समुद्र अगाध जलवाली सकल नदियोंको ग्रहण करलेता है तैसे ही यह सकल राजाओंके ऐश्वर्योंको ग्रहण करेगा ॥ १२ ॥ जैसे

सर्वसस्यधरां धरां ॥ १३ ॥ अस्याज्ञावशगाः सर्वे भविष्यन्ति नराधिपाः । सर्वभूतात्मभूतस्य वायोरिव शरीरिणः ॥ १४ ॥ एष रुद्रं महादेवं त्रिपुरान्तकरं हरम् । सर्वलोकेष्वतिबलः साक्षाद् द्रक्ष्यति मागधः ॥ १५ ॥ एवं ब्रुवन्नेव मुनिः स्वकार्यमिव चिन्तयन् । विसर्जयामास नृपं बृहद्रथमथारिहन् ॥ १६ ॥ प्रविश्य नगरीञ्चापि ज्ञातिसम्बन्धिभिर्वृतः । अभिषिच्य जरासन्धं मगधाधिपतिस्तदा ॥ १७ ॥ बृहद्रथो नरपतिः परां निर्वृतिमाययौ । अभिषिक्ते जरासन्धे तदा राजा बृहद्रथः । पत्नीद्वयेनानुगतस्तपोवनचरोऽभवत् ॥ १८ ॥ ततो वनस्थे पितरि मातृभ्यां च विशांपते । जरासन्धः स्ववीर्येण पार्थिवानकरोद्वशे ॥ १९ ॥ वैशम्पायन उवाच । अथ दीर्घस्य कालस्य तपोवनचरो नृपः । सभार्य्यः स्वग-

---

सकल अन्नोंको धारण करनेवाली वसुन्धरा क्या भले क्या बुरे सबको ही धारण करती है, तैसे ही यह महाबली चारों वर्णोंका भले प्रकार पालन करैगा ॥ १३ ॥ जैसे संपूर्ण प्राणी सकल जगत् के आत्मारूप वायुके वशमें हैं तैसे ही सब राजे इसकी आज्ञाके अधीन होंगे ॥ १४ ॥ सकल लोकोंमें महाबली यह जरासंध त्रिपुरांतकारी भक्तभयहारी रुद्ररूप महादेवका साक्षात् दर्शन पावेगा ॥ १५ ॥ हे राजन् ! इस प्रकार कहते २ भगवान चंडकौशिक मुनिने अपने नित्यकर्मकी चिंतासी करते हुए राजा बृहद्रथको विदा करदिया ॥ १६ ॥ मगधराजने नगरमें प्रवेश करके जाति-बांधवोंके साथमें जरासंधका राज्याभिषेक करदिया उस समय राजा बहुत ही संतुष्ट हुआ और पुत्रके हाथमें सब राज्यभार दे कर दोनों रानियों सहित तपोवनमें चला गया हे राजन् ! पिता और दोनों माताओंके तपोवनमे चलेजाने पर जरासंधने अपने भुजबलसे सब राजाओंको वशमें करलिया ॥ १७-१९ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-राजा बृहद्रथ दोनों रानियों सहित बहुत

मगमत्तपस्तप्त्वा बृहद्रथः ॥ २० ॥ जरासन्धोऽपि नृपतिर्यथोक्तं कौशिकेन तत् । वरप्रदानमखिलं प्राप्य राज्यमपालयत् ॥ २१ ॥ निहते वासुदेवेन तदा कंसे महीपतौ । जातो वै वैरनिर्बन्धः कृष्णेन सह तस्य वै ॥ २२ ॥ भ्रामयित्वा शतगुणमेकोनं येन भारत । गदा क्षिप्ता बलवता मागधेन गिरिव्रजात् ॥२३॥ तिष्ठतो मथुरायां वै कृष्णस्याद्भुतकर्मणः । एकोनयोजनशते सा पपात गदा शुभा ॥२४॥ दृष्ट्वा पौरास्तदा सम्यक् गदा चैव निवेदिता । गदावसानं तत् ख्यातं मथुरायाः समीपतः ॥ २५ ॥ तस्यास्तां हंसडिम्भकावशस्त्रनिधनावुभौ । मन्त्रे मतिमतां श्रेष्ठौ नीतिशास्त्रे विशारदौ ॥ २६ ॥ यौ तौ मया ते कथितौ पूर्वमेव महाबलौ । त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ॥ २७ ॥ एवमेष

दिनोंतक तपोवनमें तपस्या करके स्वर्गवासी होगया ॥ २० ॥ उस का पुत्र जरासंध भी चंडकौशिक ऋषिके कथनानुसार सकल वरदानोंको पाकर निष्कंटक राज्य करनेलगा ॥२१॥ इसी समय भगवान् वासुदेवने राजा कंसका संहार किया इसकारण कृष्णके साथ जरासंधकी घोर शत्रुता होगई।२२॥हे जनमेजय! महाबली परमपराक्रमी जरासंधने गिरिव्रजमें खड़ेहोकर कृष्णको वध करनेके लिये एक बड़ीभारी गदाको निन्यानवे वार घुमाकर फेंका॥२३॥वह सुन्दर गदा एककम सौ योजनपर मथुरामें, जहां कि-अद्भुतकर्मा श्रीकृष्णजी रहते थे आकर गिरी॥२४॥ उस गदाको देखकर नगर-निवासियोंने उसका समाचार श्रीकृष्णको सुनाया तबसे वह मथुरा के समीपका स्थान गदावसान नामसे प्रसिद्ध हुआ॥२५॥हंस और डिंभ नामवाले दो महाबली परमपराक्रमी वीर पुरुष जरासंधके सहायक थे, वह नीतिशास्त्रमें पारदर्शी, संमति देनेमें परमप्रवीण बुद्धिमान् और शस्त्रसे अवध्य थे ॥ २६ ॥ इनके विषयमें मैं अभी तुमसे कहचुका हूं, कि-यह दोनों और तीसरा जरासंध, तीनों मिलकर मेरी सम्मतमें-त्रिलोकीका विजय करसकते हैं ॥ २७ ॥

तथा वीर बलिभिः कुक्कुरान्धकैः। वृष्णिभिश्च महाराज नीतिहेतो-रुपेक्षितः ॥ २८ ॥

इति सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासन्धप्रशंसायां एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

समाप्तञ्च राजसूयारम्भपर्व ॥

॥ अथ जरासन्धवधपर्व ॥

वासुदेव उवाच ॥ पतितौ हंसडिम्भकौ कंसश्च सगणो हतः। जरासंधस्य निधने कालोऽयं समुपागतः ॥ १ ॥ न शक्योऽसौ रणे जेतुं सर्वैरपि सुरासुरैः। प्राणयुद्धेन जेतव्यः स इत्युपलभामहे ॥ २ ॥ मयि नीतिर्बलं भीमे रक्षिता चावयोर्जुनः। मागधं साधयिष्यामि इष्टिं त्रय इवाग्नयः ॥ ३ ॥ त्रिभिरासादितोऽस्माभिर्विजने स नराधिपः। न सन्देहो यथा युद्धमेकेनाप्युपयास्यति ॥ ४ ॥ अवमानाच्च लोभाच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः। भीमसेनेन युद्धाय

हे महाराज! इस प्रकार कुक्कुर अंधक और वृष्णियोंने "दुर्बल पुरुषको बलवान्के साथ स्पर्धा नहीं करनी चाहिये" इस नीतिके अनुसार उस समय जरासंधसे युद्ध नहीं ठाना था॥ २८ ॥ एकोनविंशति अध्याय समाप्त ॥ १९ ॥

श्रीकृष्णने कहा, कि—हे युधिष्ठिर! हंस और डिंभक मारे गए, तथा साथियों सहित कंस भी मारागया अब जरासंधके मरणका समय आगया है ॥ १॥ सब देव दानव इकट्ठे होकर भी युद्धमें जरासंधको नहीं हरासकते, इससे मेरी समझमें उसको प्राणयुद्धमें जीतना चाहिये॥ २ ॥ देखो मैं नीति जानता हूं, भीमसेनमें बल है और अर्जुन हमारा रक्षक है अतः जैसे तीन अग्नियें इकट्ठी होकर यज्ञको सिद्ध करती हैं तैसे हम तीनों इकट्ठे होकर जरासंध के वधको सिद्ध करेंगे ॥ ३ ॥ जब हम तीनों जने एकांतमें उसके ऊपर आक्रमण करेंगे तो जरासंध अवश्य ही हम तीनोंमेंसे एक के साथ युद्ध करेगा ॥ ४ ॥ वह अपमान, लोभ और भुजबलसे

ध्रुवमप्युपपास्यति ॥ ५ ॥ अलं तस्य महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः । लोकस्य समुदीर्णस्य निधनायान्तको यथा ॥ ६ ॥ यदि मे हृदयं वेत्सि यदि ते प्रत्ययो मयि । भीमसेनार्जुनौ शीघ्रं न्यासभूतौ प्रयच्छ मे ॥ ७ ॥ वैशम्पायन उवाच ॥ एवमुक्तो भगवता प्रत्युवाच युधिष्ठिरः । भीमार्जुनौ समालोक्य संप्रहृष्टमुखौ स्थितौ ॥८॥ युधिष्ठिर उवाच ॥ अच्युताच्युत मा मैवं व्याहरामित्रकर्षण । पाण्डवानां भवान्नाथो भवन्तं चाश्रिता वयम् ॥ ९ ॥ यथा वदसि गोविन्द सर्वं तदुपपद्यते । न हि त्वमग्रतस्तेषां येषां लक्ष्मीः पराङ्मुखी ॥ १० ॥ निहतश्च जरासन्धो मोक्षिताश्च महीक्षितः । राजसूयश्च मे लब्धो निदेशे तव तिष्ठतः ॥ ११ ॥ क्षिप्रमेव यथा त्वेतत्

उत्तेजित होकर निःसंदेह भीमसेनके साथ युद्ध करलेना स्वीकार करलेगा ॥ ५ ॥ जैसे यमराज उद्धत प्राणियोंका विनाश कर सकता है तैसे ही महाबली महाबाहु भीमसेन जरासंधका वध कर ही डालेगा॥६॥ इस कारण यदि तुम मेरे हृदयको जानते हो और यदि मेरे ऊपर तुम्हारा विश्वास है तो शीघ्रही भीमसेन तथा अर्जुन को धरोहड़ रूपसे मुझे देदीजिये ॥ ७ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि--हे राजन् ! भगवान् कृष्णके वाक्य सुननेके अनंतर युधिष्ठिर प्रसन्न मुख बैठेहुए भीम और अर्जुनकी ओर देखकर कहनेलगे ८ धर्मराजने कहा, कि--हे शत्रुनाशन मधुसूदन ! आप ऐसा मुझसे कदापि न कहैं, तुम पाण्डवोंके स्वामी हो और हम आपके ही आश्रित हैं, ॥ ९ ॥ हे गोविन्द ! आपने जो कुछ कहा वह सब ही ठीक है, लक्ष्मी जिनके प्रतिकूल हो उनके पास आप कभी नहीं रहसकते ॥ १० ॥ जब मैं आपकी आज्ञामें चलता हूं तब मानो जरासंध मारागया, राजे छूटगए और मैंने राजसूयका फल पालिया ॥ ११ ॥ हे नरोत्तम ! हे जगन्नाथ ! अब जिसप्रकार

तदा वीर चक्रिभिः कुकुरान्धकैः। वृष्णिभिश्च महाराज नीतिहेतो-रुपेक्षितः ॥ २८ ॥ ॥ ॥

इति सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासन्धप्रशंसायां एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

समाप्तञ्च राजसूयारम्भपर्व ॥

॥ अथ जरासन्धवधपर्व ॥

वासुदेव उवाच ॥ पतितौ हंसडिम्भकौ कंसश्च सगणो हतः। जरासंधस्य निधने कालोऽयं समुपागतः ॥ १ ॥ न शक्योऽसौ रणे जेतुं सर्वैरपि सुरासुरैः। प्राणयुद्धेन जेतव्यः स इत्युपलभामहे ॥ २ ॥ मयि नीतिर्बलं भीमे रक्षिता चावयोर्जुनः। मागधं साधयिष्यामि इष्टिं त्रय इवाग्नयः ॥ ३ ॥ त्रिभिरासादितोऽस्माभिर्विजने स नराधिपः। न सन्देहो यथा युद्धमेकेनाप्युपयास्यति ॥ ४ ॥ अवमानाच्च लोभाच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः। भीमसेनेन युद्धाय

हे महाराज! इस प्रकार कुकुर अंधक और वृष्णियोंने "दुर्बल पुरुषको बलवान्के साथ स्पर्धा नहीं करनी चाहिये" इस नीतिके अनुसार उस समय जरासंधसे युद्ध नहीं ठाना था॥ २८ ॥ एकोनविंशति अध्याय समाप्त ॥ १९ ॥

श्रीकृष्णने कहा, कि–हे युधिष्ठिर! हंस और डिंभक मारे गए, तथा साथियों सहित कंस भी मारागया अब जरासंधके मरणका समय आगया है ॥ १॥ सब देव दानव इकट्ठे होकर भी युद्धमें जरासंधको नहीं हरासकते, इससे मेरी समझमें उसको प्राणयुद्धमें जीतना चाहिये॥ २ ॥ देखो मैं नीति जानता हूं, भीमसेनमें बल है और अर्जुन हमारा रक्षक है अत: जैसे तीन अग्नियें इकट्ठी होकर यज्ञको सिद्ध करती हैं तैसे हम तीनों इकट्ठे होकर जरासंध के वधको सिद्ध करेंगे ॥ ३ ॥ जब हम तीनों जने एकांतमें उसके ऊपर आक्रमण करेंगे तो जरासंध अवश्य ही हम तीनोंमेंसे एक के साथ युद्ध करेगा ॥ ४ ॥ वह अपमान, लोभ और भुजबलसे

ध्रुवमप्युपयास्यति ॥ ५ ॥ अलं तस्य महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः।
लोकस्य समुदीर्णस्य निधनायान्तको यथा ॥ ६ ॥ यदि मे हृदयं
वेत्सि यदि ते प्रत्ययो मयि । भीमसेनार्जुनौ शीघ्रं न्यासभूतौ
प्रयच्छ मे ॥ ७ ॥ वैशम्पायन उवाच ॥ एवमुक्तौ भगवता प्रत्यु-
वाच युधिष्ठिरः । भीमार्जुनौ समालोक्य संप्रहृष्टमुखौ स्थितौ ।८।
युधिष्ठिर उवाच ॥ अच्युताच्युत मा मैवं व्याहरामित्रकर्षण । पाण्ड-
वानां भवान्नाथो भवन्तं चाश्रिता वयम् ॥ ९ ॥ यथा वदसि
गोविन्द सर्वं तदुपपद्यते । न हि त्वमग्रतस्तेषां येषां लक्ष्मीः पराङ्-
मुखी ॥ १० ॥ निहतश्च जरासन्धो मोक्षिताश्च महीक्षितः । राज-
सूयश्च मे लब्धो निदेशे तव तिष्ठतः ॥ ११ ॥ क्षिप्रमेव यथा त्वेतत्

उत्तेजित होकर निःसंदेह भीमसेनके साथ युद्ध करलेना स्वीकार
करलेगा ॥ ५ ॥ जैसे यमराज उद्धत प्राणियोंका विनाश कर
सकता है तैसे ही महाबली महाबाहु भीमसेन जरासंधका वध कर
ही डालेगा॥६॥ इस कारण यदि तुम मेरे हृदयको जानते हो और
यदि मेरे ऊपर तुम्हारा विश्वास है तो शीघ्रही भीमसेन तथा अर्जुन
को धरोहड़ रूपसे मुझे देदीजिये ॥ ७ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं,
कि--हे राजन् ! भगवान् कृष्णके वाक्य सुननेके अनंतर युधिष्ठिर
प्रसन्न मुख बैठेहुए भीम और अर्जुनकी ओर देखकर कहनेलगे ८
धर्मराजने कहा, कि--हे शत्रुनाशन मधुसूदन ! आप ऐसा मुझसे
कदापि न कहैं, तुम पाण्डवोंके स्वामी हो और हम आपके ही
आश्रित हैं, ॥ ९ ॥ हे गोविन्द ! आपने जो कुछ कहा वह सब
ही ठीक है, लक्ष्मी जिनके प्रतिकूल हो उनके पास आप कभी
नहीं रहसकते ॥ १० ॥ अब मैं आपकी आज्ञामें चलता हूं तब मानो
जरासंध मारागया, राजे छूटगए और मैंने राजसूयका फल
पालिया ॥ ११ ॥ हे नरोत्तम ! हे जगन्नाथ ! अब जिसप्रकार

कार्य्यं सम्प्रपद्यते । अप्रमत्तो जगन्नाथ तथा कुरु नरोत्तम ॥१२॥ त्रिभिर्भवद्भिर्हि विना नाहं जीवितुमुत्सहे। धर्मार्थकामरहितो रोगार्त्त इव दुःखितः । १३ ॥ न शौरिणा विना पार्थो न शौरिः पांडवं विना । नाजेयोऽस्त्यनयोर्लोके कृष्णयोरिति मे मतिः ॥ १४ ॥ अयञ्च बलिनां श्रेष्ठः श्रीमानपि वृकोदरः । युवाभ्यां सहितो वीर किं न कुर्यान्महायशाः ॥ १५ ॥ सुप्रणीतो बलौघो हि कुरुते कार्य्यमुत्तमम् । अन्धं बलं जडं प्राहुः प्रणेतव्यं विचक्षणैः ॥ १६ ॥ यतो हि निम्नं भवति नयन्ति हि ततो जलम् । यतश्छिद्रं ततश्चापि नयन्ते धीवरा जलम् ॥ १७ ॥ तस्मान्नयविधानज्ञं पुरुषं लोकविश्रुतम् । वयमाश्रित्य गोविन्दं यतामः कार्य्यसिद्धये ॥१८॥ एवं प्रज्ञानयबलक्रियोपायसमन्वितम् । पुरस्कुर्वीत कार्येषु

यह सब कार्य सिद्ध हों सावधानीके साथ वही करिये ॥ १२ ॥ मैं तुम तीनों जनोंके बिना धर्मार्थ कामसे रहित और रोगपीडितकी समान दुःखितहो जीवित ही नहीं रहसकता ॥ १३ ॥ अर्जुन तुम्हारे बिना जीवन धारण नहीं करसकते, मेरी समझमें इस भूमण्डल पर ऐसा कोई है ही नहीं जिसको तुम दोनों न जीतसको ॥१४॥ और यह महावीर श्रीमान् वृकोदर भीमसेन तुम दोनोंके साथ रह कर कौनसा काम नहीं करसकता है ? ॥ १५ ॥ सेना भलेप्रकार सीखीहुई हो तो उत्तम काम करती है, अशिक्षित मूर्ख सेना निकम्मी और अंध होती है इसलिये उसको शिक्षा देना बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है ॥ १६ ॥ जैसे धीवर, जिधरको छिद्र व नीचा होता है उधरको ही जल निकालकर अपने अभिलषित स्थान पर लेजाते हैं, तैसे ही बुद्धिमान् पुरुष उपद्रव हीन स्थानमें ही जड़ सेनाको लेजाते हैं, बलवान्के पास कभी नहीं लेजाते? अतएव हम नीतिविधानके ज्ञाता, लोकप्रसिद्ध गोविन्दका आश्रय करके कार्य-सिद्धिका यत्न करते हैं ॥१८॥ तुम बुद्धि नीति, बल, क्रिया और उपायसंपन्नहो ऐसे आपको ही कार्यसिद्धिके लिये आगे करना

कृष्णं कार्यार्थसिद्धये ॥ १९ ॥ एवमेव यदुश्रेष्ठ यावत्कार्यार्थसिद्धये । अर्जुनः कृष्णमन्वेतु भीमोऽन्वेतु धनञ्जयम् । नयो जयो बलश्चैव विक्रमे सिद्धिमेष्यति ॥ २० ॥ वैशम्पायन उवाच ॥ एवमुक्तास्ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः । वार्ष्णेयः पाण्डवेयौ च प्रतस्थुर्मागधं प्रति ॥ २१ ॥ वर्चस्विनां ब्राह्मणानां स्नातकानां परिच्छदम् । आच्छाद्य सुहृदां वाक्यैर्मनोज्ञैरभिनन्दिताः ॥ २२ ॥ अमर्षादभितप्तानां ज्ञात्यर्थं मुख्यतेजसाम् । रविसोमाग्निवपुषां दीप्तमासीत्तदा वपुः ॥२३॥ हतं मेने जरासन्धं दृष्ट्वा भीमपुरोगमौ । एककार्यसमुद्यन्तौ कृष्णौ युद्धेऽपराजितौ ॥ २४ ॥ ईशौ हि तौ महात्मानौ सर्वकार्यप्रवर्त्तिनौ । धर्मकामार्थकार्याणां लोकानां च प्रवर्त्तकौ ॥ २५ ॥ कुरुभ्यः प्रस्थितास्ते तु मध्येन कुरुजाङ्गलम् ।

चाहिये ॥ १९ ॥ सो हे यदुवंशावतंस ! सकल कार्योंकी सिद्धि के लिये अर्जुन आपका अनुगामी होगा और भीम अर्जुनका अनुगामी होगा ऐसा होनेसे निःसंदेह पराक्रम करनेपर नीति, जय और बलकी सिद्धि होगी ॥ २० ॥ वैशंपायनजी कहते हैं, कि—जब युधिष्ठिरने ऐसा कहा तब वह परमतेजस्वी सब भाई श्रीकृष्ण अर्जुन और भीमसेन तपस्वियोंका वेष धारण करके मगध देशको चल दिये इस बातसे उनकी सब मित्रोंने मनोहर वाक्योंसे प्रशंसा की ॥ २१ ॥ २२ ॥ क्रोधसे तपेहुए ज्ञाति बांधवों का हित करनेके लिये परम उत्कंठित तथा चन्द्रमा सूर्य और अग्निका समान तेजस्वी उन तीनोंका शरीर उस समय अधिक दमक उठा ॥ २३ ॥ आगे २ भीमसेन उनके पीछे संग्राममें पराजय न पानेवाले धर्म-अर्थ कामके प्रवर्त्तक महात्मा श्रीकृष्ण और उनके पीछे अर्जुनको जाते हुए देखकर सबने मनमें विचारा कि-अब,यह एक कामके साधनेको उद्यत हुए हैं जो जरासंध अवश्य ही मारा जावेगा क्योंकि कृष्ण अर्जुन यह दोनों तो जगत् के सब ही कार्योंकी प्रवृत्तिके ईश हैं ॥ २४ ॥ २५ ॥ यह कृष्ण भीम और अर्जुन कुरुदेशसे निकलकर कुरुजांगल देशमें होते हुए

रम्यं पद्मसरो गत्वा कालकूटमतीत्य च ॥ २६ ॥ गण्डकीं च महाशोणं सदानीरान्तथैव च । एकपर्वतके नद्यः क्रमेणैत्याव्रजन्त ते ॥ २७ ॥ उत्तीर्य्य सरयूं रम्यां दृष्ट्वा पूर्वांश्च कोशलान् । अतीत्य जग्मुर्मिथिलां मालाञ्चर्मण्वतीं नदीम् ॥२८॥ अतीत्य गङ्गां शोणञ्च त्रयस्ते प्राङ्मुखास्तदा । कुशचीरच्छदा जग्मुर्मागधं क्षेत्रमच्युताः ॥२६ ॥ ते शश्वद्गोधनाकीर्णमम्बुमन्तं शुभद्रुमम् । गोरथं गिरिमासाद्य ददृशुर्मागधं पुरम् ॥ ३० ॥

इति सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि कृष्णपाण्डवमागध-यात्रायां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

श्रीवासुदेव उवाच । एष पार्थ महान् भाति पशुमान्नित्यमम्बुमान् । निरामयः सुवेश्माढ्यो निवेशो मागधः शुभः ॥१ ॥ वैहारो विपुलः शैलो वराहो वृषभस्तथा । तथा ऋषिगिरिस्तात शुभा-

रमणीय पद्मसर पर पहुंचे फिर कालकूटको लांघकर गण्डकी महा शोण सदानीरा और एक पर्वतपरकी सब नदियोंको क्रम २ से उतरकर चले ॥ २६ ॥२७॥ तदनन्तर रमणीय सरयूके पार हो पूर्वकोशला नगरीको देखा तहांसे मिथिलामें और मिथिलासे मालामें जाकर चर्मण्वती नदीके पार हुए॥ २८ ॥ तदनन्तर गंगा और शोणनदके पार होकर वल्कलवस्त्रधारी तीनोंजने पूर्वकी ओर को मुख किये हुए मगधदेशमें जानेलगे ॥ २६ ॥ वह कुछ ही समयमें गोधनसे भरे ताल सरोवर आदिसे युक्त नानाप्रकारके [illegible] नगरीमें प्रवेश

थैस्यकपश्चमाः ॥ २ ॥ पने पञ्च महाशृङ्गाः पर्वताः शीतलद्रुमाः । रक्षन्तीवाभिसंहत्य संहताङ्गा गिरिव्रजम् ॥३ ॥ पुष्पवेष्टितशाखाग्रैर्गन्धवद्भिर्मनोरमैः । निगूढा इव लोध्राणां वनैः कामिजनप्रियैः ॥४ ॥ शूद्रायां गौतमो यत्र महात्मा संशितव्रतः । औशीनर्यामजनयत् काक्षीवाद्यान् सुतान्मुनिः ॥ ५ ॥ गौतमस्य क्षयात्तस्माद्यथासौ तत्र सद्मनि । भजते मागधं वंशं स नृपाणामनुग्रहः ॥ ६ ॥ अङ्गवङ्गादयश्चैव राजानः सुमहाबलाः । गौतमक्षयमभ्येत्य रमन्ते स्म पुरार्जुन ॥ ७ ॥ वनराजीस्तु पश्येमाः पिप्पलानां मनोरमाः । लोध्राणाञ्च शुभाः पार्थ गौतमौकः समीपजाः ॥ ८ ॥ अर्बुदः शक्रवापी च पन्नगौ शत्रुतापनौ । स्वस्तिकस्यालयश्चात्र मणिनागस्य चोत्तमः ॥ ९ ॥ अपरिहार्या मेघानां

पाँच पर्वत हैं ॥ २ ॥ यह शीतल वृक्षोंसे शोभित ऊँचे २ शिखरोंवाले सकल पर्वत परस्पर मिलेहुए मानो गिरिव्रजकी रक्षा कररहे हैं ॥ ३ ॥ सुंदर फूलोंवाली शाखाओंसे शोभित कामी पुरुषोंकी प्यारी मनोहर लोधके वृक्षोंकी पंक्ति मानो उनकी रक्षा कर रही हैं ॥ ४ ॥ यहां पर प्रशंसनीय व्रत धारण करनेवाले महात्मा गौतम ऋषिने क्षत्रियोंके ऊपर अनुग्रह करते हुए एक शूद्रा स्त्री और राजा उशीनरकी पुत्रीमें काक्षीव आदि पुत्रोंको उत्पन्न किया था ॥५॥ गौतम ऋषिके तिस आश्रमके समीप जो यह महल बनाकर रहता है सो यह मनुवंशी राजाओंके ऊपर उनका अनुग्रह है ॥ ६ ॥ हे अर्जुन ! पहिले अंग वंग आदिके महाबली पराक्रमी राजे भी गौतमके आश्रममें आकर परम उत्सव किया करते थे ॥ ७ ॥ हे अर्जुन देखो ! गौतमके आश्रमके समीप परम रमणीय पीपल और लोधके वृक्षोंकी पंक्तियें लगरही हैं ॥ ८ ॥ यह देखो अर्बुद पर्वत है, शक्रवापी और मर्कंड दो सर्प रहते हैं जोकि-शत्रुओंको कष्ट देते हैं यहां स्वस्तिक और मणिनाग का उत्तम स्थान है ॥ ९ ॥ मनुजी मगधराज्यको ऐसा करगये

मागधा मनुना कृताः। कौशिको मणिमांश्चैव चक्राते चाप्यनुग्रहम् ॥ १० ॥ एवं प्राप्य पुरं रम्यं दुराधर्षं समन्ततः । अर्थसिद्धिन्त्वनुपमां जरासन्धोऽभिमन्यते । वयमासादने तस्य दर्पमद्य हरेमहि ॥ ११ ॥ वैशम्पायन उवाच ॥ एवमुक्तास्ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजस । वार्ष्णेयः पाण्डवौ चैव प्रतस्थुर्मागधं पुरम् ॥ १२ ॥ हृष्टपुष्टजनोपेतं चातुर्वर्ण्यसमाकुलम् । स्फीतोत्सवमनाधृष्यमासेदुश्च गिरिव्रजम् ॥ १३ ॥ ततो द्वारमनासाद्य पुरस्य गिरिमुच्छ्रितम् । बार्हद्रथैः पूज्यमानं तथा नगरवासिभिः । मागधानान्तु रुचिरं चैत्यकान्तरमाद्रवन् ॥ १४ ॥ यत्र मांसादमृषभमाससाद बृहद्रथः । तं हत्वा माषतालाभिस्तिस्रो भेरीरकारयत् ॥ १५ ॥ स्वपुरे स्थापयामास तेन चानह्य चर्मणा । यत्र ताः प्राणदन् भेर्यो दिव्य

हैं, कि-मेघ यहां सदा वर्षा करते हैं और चण्डकौशिक ऋषि तथा मणिमान जरासंधके ऊपर अनुग्रह कर गये हैं ॥ १० ॥ दुरात्मा जरासंध ऐसे चारों ओरसे सुरक्षित रमणीय नगरका राजा से कर अभिमान रखता है, कि-मैं जो काम करूँगा वही सिद्ध होगा सो आज हम इसके घरपर ही इसके अभिमानको तोड़ेंगे ॥११॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-तदनन्तर इसप्रकार कहकर वह सब तेजस्वी भ्राता, श्रीकृष्ण भीमसेन अर्जुन मगध नगरमें गये १२ जहांके रहनेवाले हृष्ट पुष्ट थे चारों वर्णकी प्रजा थी और जिसमें अनेकों प्रकारके उत्सव थे ऐसे सुरक्षित गिरिव्रजमें जापहुंचे ॥१३ ॥ तदनन्तर द्वारपर पहुंचकर बृहद्रथवंशके सकल पुरुष तथा अन्य सब नगरनिवासियोंके पूजने योग्य मगध राज्यकी शोभादेनेवाले नगरके समीप चैत्यपर्वत पर शीघ्रतासे पहुंचे १४ जहां महाराज बृहद्रथने मांसभक्षी बैलका रूप धारण करनेवाले दैत्यका वध करके उसके चमड़ेसे तीन नगाड़े बनवाये थे इन नगाड़ों पर एकवार चोट देनेसे एक महीनेतक गंभीर ध्वनि होती रहती थी महाराज बृहद्रथने इन तीनों नगाड़ोंको अपने नगरमें रखदिया

पुष्पावचूर्णिताः॥१६॥भङ्क्त्वा भेरीत्रयं तेऽपि चैत्यप्राकारमाद्रवन्। द्वारतोऽभिमुखाः सर्वे ययुर्नानायुधास्तदा ॥ १७ ॥ मागधानां सुरुचिरं चैत्यकान्तं समाद्रवन्। शिरसीव समाघ्नन्तो जरासन्धं जिघांसवः ॥ १८ ॥ स्थिरं सुविपुलं शृङ्गं सुमहत्तत् पुरातनम्। अर्चितं गन्धमाल्यैश्च सततं सुप्रतिष्ठितम् ॥ १९ ॥ विपुलैर्बाहुभिर्वीरास्तेऽभिहत्याभ्यपातयन्। ततस्ते मागधं हृष्टाः पुरं प्रविविशुस्तदा ॥ २० ॥ एतस्मिन्नेव काले तु ब्राह्मणा वेदपारगाः। दृष्ट्वा तु दुर्निमित्तानि जरासन्धमदर्शयन् ॥ २१ ॥ पर्यग्न्यकुर्वंश्च नृपं द्विरदस्थं पुरोहिताः। ततस्तच्छान्तये राजा जरासन्धः प्रतापवान् ॥ २२॥ दीक्षितो नियमस्थोऽसावुपवासपरोऽभवत्। स्नातकव्रतिनस्ते तु बाहुशस्त्रा निरायुधाः ॥ २३ ॥ युयुत्सवः प्रविविशुर्जरासन्धेन भारत। भक्ष्यमाल्यापणानाञ्च ददृशुः श्रियमुत्तमाम् ।२४।

था, वह नगाड़े दिव्य पुष्पोंकी वर्षाके साथ बजाये जाते थे ॥ १५ ॥ १६ ॥ श्रीकृष्ण अर्जुन और भीमसेनने उन तीनों नगाड़ों को तोड़डाला और नानाप्रकारके अस्त्र धारण कर द्वारदेशसे ही मानों जरासंधके मस्तक पर प्रहार करते हुए शीघ्रताके साथ चैत्य के परकोटेके समीप जाकर अतिदृढ़ भुजाओंसे उस निरंतर गंध-मालाओंसे पूजित परम प्रतिष्ठित पुराने चैत्य पर्वतके शिखरोंको तोड़कर गिरादिया और प्रसन्न चित्तसे मगधपुरीमें घुसगए१७-२० उसी समय वेदके पारगामी ब्राह्मणोंने कुशकुन देखकर जरासंध को सूचित किया ॥ २१ ॥ पुरोहितोंने उसको हाथी पर चढ़ाकर अग्निकी प्रदक्षिणा करवाई, प्रतापी राजा जरासंधने इन कुलक्षणों की शान्तिके लिये दीक्षित और नियममें स्थित होकर उपवास किया, इधर तपस्वीका वेष धारण किये कृष्ण, भीम और अर्जुन सब अस्त्र शस्त्रोंको त्यागकर जरासंधके साथ बाहुयुद्ध करनेकी इच्छासे नगरमें घुसे, वह राजमार्गमें चलते २ नानाप्रकारके खाने के पदार्थ, मालाएं और दुकानों तथा अनेकों शोभायमान पदार्थों

स्फीतां सर्वगुणोपेतां सर्वकामसमृद्धिनीम् । तान्तु दृष्ट्वा समृद्धिं ते वीथ्यां तस्यां नरोत्तमाः ॥ २४ ॥ राजमार्गेण गच्छन्तः कृष्णभीमधनञ्जयाः । बलाद् गृहीत्वा माल्यानि मालाकारान्महाबलाः ।२६। विरागवसनाः सर्वे स्रग्विणो मृष्टकुण्डलाः । निवेशनमथाजग्मुर्जरासन्धस्य धीमतः ॥ २७ ॥ गोवासमिव वीक्षन्तः सिंहा हैमवता यथा । शालस्तम्भनिभास्तेषां चन्दनागरुरूषिताः ॥ २८ ॥ अशोभन्त महाराज बाहवो युद्धशालिनाम् । तान्दृष्ट्वा द्विरदप्रख्यान् शालस्कन्धानिवोद्गतान् ॥ २९ ॥ व्यूढोरस्कान्मागधानां विस्मयः समपद्यत । ते त्वतीत्य जनाकीर्णाः कक्ष्यास्तिस्रो नरर्षभाः॥३०॥ अहङ्कारेण राजानमुपतस्थुर्गतव्यथाः । तान् पाद्यमधुपर्कार्हान् गवार्हान् सत्कृति गतान् ॥३१॥ प्रत्युत्थाय जरासन्ध उपतस्थे यथाविधि । उवाच चैतान् राजाऽसौ स्वागतं वोऽस्त्विति प्रभुः ॥ ३२॥ मौनमासीत्तदा पार्थभीमयोर्जनमेजय । तेषां मध्ये महाबुद्धिः कृष्णो वचनमब्रवीत् ॥ ३३ ॥ वक्तुं नायाति राजेन्द्र एतयोर्नियमस्थयोः।

को देखनेलगे ॥ २२-२४ ॥ उन महाबलियोंने मालियोंसे बलपूर्वक मालायें छीनलीं, उन दिव्य माला और दिव्य कुण्डलोंको धारणकिये कृष्ण भीम और अर्जुन जैसे हिमालयके सिंह गोशाला को देखतेर जाते हैं तैसे ही जरासंधके महलकी ओरको देखतेहुए चलनेलगे उस समय चदन अगरसे चर्चित उन तीनों वीरोंके भुजदण्ड शालके खंभोंकी समान शोभा पाते थे॥२५-२९॥मगधनगरीके निवासी खड़ेहुए शालके खंभेकी समान और मदमत्त हाथीकीसमान उन तीनोंको देखकर आश्चर्यमें होगये वह क्रमसे अनेकों पुरुषोंसे भरीं तीन ड्यौढ़ियोंको लांघ कर अपना अहंकार दिखातेहुए जरासंधके पास पहुंचगए महाराज जरासंध उनको देखतेही खड़ा होगया और पाद्य मधुपर्क आदिके द्वारा पूजन करके स्वागत पूछने लगा ॥३०-३२॥ हे जन्मेजय ! भीम और अर्जुन उस समय मौन रहे बुद्धिमान् श्रीकृष्णने कहा कि-॥३३॥ हे राजेन्द्र इन्होंने मौनव्रत

अर्द्धनिशीथात् परतस्त्वया सार्द्धं वदिष्यतः ॥३४॥ यज्ञागारे स्थापयित्वा राजा राजगृहं गतः । ततोऽर्द्धरात्रे सम्प्राप्ते यातो यत्र स्थिता द्विजाः ॥३५॥ तस्य ह्येतद्व्रतं राजन् बभूव भुवि विश्रुतम् । स्नातकान् ब्राह्मणान् प्राप्तान् श्रुत्वा स समितिञ्जयः ॥३६॥ अप्यर्द्धरात्रे नृपतिः प्रत्युद्गच्छति भारत । तांस्त्वपूर्वेण वेशेन दृष्ट्वा स नृपसत्तमः ॥ ३७ ॥ उपतस्थे जरासन्धो विस्मितश्चाभवत्तदा । ते तु दृष्ट्वैव राजानं जरासन्धं नरर्षभाः ॥३८॥ इदमूचुरमित्रघ्नाः सर्वे भरतसत्तम । स्वस्त्यस्तु कुशलं राजन्निति तत्र व्यवस्थिताः ॥३९॥ तं नृपं नृपशार्दूलं प्रेक्षमाणा परस्परम् । तानब्रवीज्जरासन्धस्तथा पाण्डवयादवान् ॥४०॥ आस्यतामिति राजेन्द्र ब्राह्मणच्छद्मसंवृतान् । अथोपविविशुः सर्वे त्रयस्ते पुरुषर्षभाः ॥ ४१॥ सम्पदीप्तास्त्रयो लक्ष्म्या महाध्वर इवाग्नयः । तानुवाच जरासन्धः

धारण किया है, यह इस समय नहीं बोलेंगे आधी रात बीतजाने पर यह तुम्हारे साथ बातचीत करेंगे, राजा जरासंध श्रीकृष्णकी इस बात को सुन उनको यज्ञशालामें ठहराकर अपने मन्दिरमें चलागया और आधीरात बीतने पर जहां वह द्विज ठहरे थे तहां फिर आया ॥३५॥ हे राजन्! मगधराज जरासंधका यह जगत्में प्रसिद्ध नियम था कि-यदि कोई स्नातक आधीरातके समय आजाय तब भी वह उसी समय जाकर उसका स्वागत करता था, उन तीनोंके पास जाकर उसने पूजन किया और उनके अपूर्व वेषको देखकर आश्चर्यमें होगया, उन्होंने राजाको देखते ही "स्वस्ति अस्तु" कहकर आशीर्वाद देतेहुए कुशल बूझा ॥३९॥ राजा जरासंधने उन ब्राह्मणवेषधारी तीनो वीरोंसे बैठनेको कहा वह भी जरासंधके कथनानुसार यज्ञशालामें बैठकर यज्ञमें स्थित तीन अग्नियोंका समान शोभा पानेलगे हे जनमेजय! उस समय महाराज सत्यप्रतिज्ञ जरासंध उनके वेशको देख अचंभेमें हुआ

सत्यसन्धो नराधिपः ॥ ४२ ॥ विगर्हमाणः कौरव्य वेशग्रहण-वैकृतान् । न स्नातकव्रता विप्रा बहिर्माल्यानुलेपनाः ॥४३ ॥ भव न्तीति नृलोकेऽस्मिन् विदितं मम सर्वशः । के यूयं पुष्पवन्तश्च भुजै-र्ज्याकृतलक्षणैः ॥४४॥ बिभ्रतः क्षात्रमोजश्च ब्राह्मण्यं प्रतिजानथ । एवं विरागवसना बहिर्माल्यानुलेपनाः ॥४५॥ सत्यं वदत के यूयं सत्यं राजसु शोभते । चैत्यकस्य गिरेः शृङ्गं भित्त्वा किमिह छद्मना ॥ ४६ ॥ अद्वारेण प्रविष्टाः स्थ निर्भया राजकिल्बिषात् । वदध्वं वाचि वीर्यञ्च ब्राह्मणस्य विशेषतः ॥ ४७ ॥ कर्म चैतद्विलिंगस्थं किं वोऽद्य प्रसमीक्षितम् । एवञ्च मामुपास्थाय कस्माच्च विधिनार्ह-णाम् ॥ ४८ ॥ प्रणीतान्नानुगृह्णीत कार्यं किंवास्मदागमे। एव

कहने लगा कि—॥ ४०-४२॥ हे ब्राह्मणों ! मैं जानता हूं कि-स्नातक ब्रह्मचारी सभामें जानेके समयके सिवाय और किसी समय माला या चंदन धारण नहीं करते हैं, कहिये आप कौन हैं ? आपके वस्त्र लाल हैं, ? अंग पर पुष्पमाला और अनु-लेपन शोभा देरहा है तथा आपकी भुजाओंमें मत्यंचाके चिह्न मालूम होते हैं॥ ४३-४४ ॥ परन्तु आप अपनेको ब्राह्मण बताते हैं और आपके आकारको देखने पर स्पष्ट क्षत्रियका तेज झलक रहा है, अतः सत्य कहो ऐसे गेरुआ वस्त्र पहिरे माला और चंदन, को धारण किये तुम कौन हो ? राजाके सामने सत्यबोलना ही अच्छा होता है, आप किस कारण द्वारसे होकर नहीं आये आर निर्भय चैत्यक पर्वतके शिखरोंको तोड़कर घुसआये ॥४५-४६॥ ब्राह्मण वाक्यसे वीरता दिखाते हैं किंतु आप कार्यसे वीरता दिखा ठीक द्वारसे नहीं आये, यह तुमने राजाका अपराध किया है ४७ यह तुम्हारा काम इस वेषके प्रतिकूल है, इस समय तुम्हारी अभि-लाषा क्या है, आप मेरे यहां आये हैं और मैंने भी तुम्हारी विधि पूर्वक पूजाकी परन्तु आपने मेरी पूजाको ग्रहण क्यों नहीं किया? अथवा जो कुछ भी हो अब यह कहिये कि-आप यहां क्यों आये

मुक्ते ततः कृष्णः प्रत्युवाच महामनाः। स्निग्धगम्भीरया वाचा वाक्यं वाक्यविशारदः॥ ४९॥ श्रीकृष्ण उवाच॥ स्नातकान् ब्राह्मणान् राजन् विद्ध्यस्मांस्त्वं नराधिप। स्नातकव्रतिनो राजन् ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः॥ ५०॥ विशेषनियमाश्चैषामविशेषाश्च सन्त्युत। विशेषवांश्च सततं क्षत्रियः श्रियमृच्छति॥ ५१॥ पुष्पवत्सु ध्रुवा श्रीश्च पुष्पवन्तस्ततो वयम्। क्षत्रियो बाहुवीर्यस्तु न तथा वाक्यवीर्यवान्॥ ५२॥ अप्रगल्भं वचस्तस्य तस्माद्बार्हद्रथेरितम्। स्ववीर्यं क्षत्रियाणान्तु बाह्वोर्धाता न्यवेशयत्॥॥ ५३॥ तद्दिदृक्षसि चेद्राजन् द्रष्टास्यद्य न संशयः। अद्वारेण रिपोर्गेहं द्वारेण सुहृदो गृहान्॥ ५४॥ प्रविशंति नरा धीरा द्वाराण्येतानि

हैं, राजा जरासंधके ऐसा कहने पर महामना परमप्रवीण श्रीकृष्ण जी स्निग्धगंभीर वाणीमें कहनेलगे ४८-४९ श्रीकृष्णजीने कहा कि—हे राजन्! तुम हमको स्नातक ब्राह्मण समझते हो, परन्तु हे नरेन्द्र! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यह तीनों ही स्नातकव्रतको धारण करते हैं॥ ५०॥ इनमें साधारण और विशेष दोनों प्रकार के नियम हैं, क्षत्रिय विशेष नियमवाला होकर भी संपत्तिमान् होता है॥ ५१॥ पुष्प धारण करनेवाले निश्चय ही श्रीमान् होते हैं, इसकारण हमने पुष्पमाला धारण करी हैं, क्षत्रिय भुजबलसे ही पराक्रमी होते हैं, वाणीकी वीरता नहीं दिखाते हैं॥ ५२॥ इस कारण हे राजन्! क्षत्रियको अप्रगल्भ वचन कहनेवाला निश्चय किया है, विधाताने क्षत्रियोंकी भुजाओं में ही अपना बल दिया है॥५३॥ हे राजन! यदि तुम हमारा बाहुबल देखना चाहो तो निःसंदेह अब ही देखसकोगे, हे बृहद्रथनन्दन! धीर पुरुष शत्रु के घरमें छुपकर और मित्रके घरमें प्रकाशरूपसे प्रवेश करते हैं, हे राजन! हम अपना काम साधनेके लिये शत्रुके घर आकर

धर्मतः । कार्यवन्तो गृहानेत्य शत्रुतो नार्हणां वयम् । प्रतिगृह्णीम तद्विद्धि एतन्नः शाश्वतं व्रतम् ॥ ५५ ॥ च ॥

इति सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि कृष्णजरासन्ध-संवादे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

जरासन्ध उवाच । न स्मरामि कदा वैरं कृतं युष्माभिरित्युत । चिन्तयंश्च न पश्यामि भवतां प्रति वैकृतम् ॥ १ ॥ वैकृते चासति कथं मन्यध्वं मामनागसम् । अरिं वै ब्रूत हे विप्राः सतां समय एव हि ॥ २ ॥ अर्थधर्मोपघाताद्धि मनः समुपतप्यते । योऽत्रामसि प्रसज्जति क्षत्रियो हि न संशयः ॥ ३ ॥ अतोऽन्यथा चरंल्लोके धर्मज्ञः सन्महारथः । वृजिनां गतिमाप्नोति श्रेयसोऽप्युपहन्ति च ।४। त्रैलोक्ये क्षत्रधर्मो हि श्रेयान्वै साधुचारिणाम् । नान्यं धर्मं प्रशंसन्ति ये च धर्मविदो जनाः ॥ ५ ॥ तस्य मेऽद्य स्थितस्येह

शत्रुकी दी हुई पूजाको ग्रहण नहीं करते हैं, यह हमारा नित्यका नियम है॥ ५४ ॥ ५५ ॥ इति एकविंश अध्याय समाप्त ॥ २१ ॥

जरासन्धने कहा, कि—मैंने किस समय तुम्हारे साथ शत्रुता या तुम्हारा अपकार किया है, यह मुझे ध्यान देनेपर भी याद नहीं आता ॥ १ ॥ फिर तुम किस कारणसे मुझ निरपराधको अपना शत्रु समझते हो, हे विप्रो ! क्या सत्पुरुषोंका यही नियम है ? ॥ २ ॥ धर्म या कार्यसिद्धि में बाधा पड़नेसे ही मनमें पीड़ा होती है, परन्तु जो पुरुष क्षत्रियकुल में जन्म लेकर और धर्मका ज्ञाता होकर बिना अपराध ही किसीके धर्माधर्ममें बाधा डालता है उसको इस लोकमें निःसंदेह अमंगल और परलोकमें नरकगति होती है ॥ ३ ॥ ४ ॥ और देखो त्रिलोकी में सन्मार्ग से चलनेवालोंके लिये क्षत्रियधर्म ही श्रेष्ठ है, धर्मज्ञ पुरुष केवल क्षत्रियधर्मकी ही प्रशंसा करते हैं ॥५॥ मैं अपने धर्ममें तत्पर रहता हूं प्रजाओंका कुछ अपकार नहीं करता, फिर तुमने इस समय मुझे शत्रु कैसे मान लिया है

स्वधर्मे नियतात्मनः । अनागसं प्रजानां च प्रमादादिव जल्पथ ॥६॥ श्रीकृष्ण उवाच । कुलकार्य्यं महाबाहो कश्चिदेकः कुलोद्वहः । वहते यस्तन्नियोगाद्वयमभ्युद्यतास्त्वयि ॥ ७ ॥ त्वया चोपहृता राजन् क्षत्रिया लोकवासिनः । तदागः क्रूरमुत्पाद्य मन्यसे किम नागसम् ॥ ८ ॥ राजा राज्ञः कथं साधून् हिंस्यान्नृपतिसत्तम । तद्राज्ञः सन्निगृह्य त्वं रुद्रायोपजिहीर्षसि ॥ ९ ॥ अस्मांस्तदेनो गच्छेद्धि कृतं बार्हद्रथ त्वया । वयं हि शक्ता धर्मस्य रक्षणे धर्मचारिणः ॥ १० ॥ मनुष्याणां समालम्भो न च दृष्टः कदाचन । स कथं मानुषैर्देवं यष्टुमिच्छसि शङ्करम् ॥ ११ ॥ सवर्णा हि सवर्णानां पशुसंज्ञां करिष्यसि । कोऽन्य एवं यथाहि त्वं जरासन्ध वृथामतिः॥१२॥यस्यां यस्यामवस्थायां यद्यत् कर्म करोति यः। तस्यां

मालूम होता है कि-तुम्हें उन्माद हो गया है,जो ऐसा कहरहे हो ॥ ६ ॥ श्रीकृष्णजी कहते है, कि—हे महाबाहो ! जो कुलदीपक अकेला ही कुलके कार्योंका भार धारण किये हुए है उसका ही आज्ञासे हम तुम्हारे यहां उद्यत होकर आये हैं ॥७॥ हे राजन् ! तूने क्षत्रियोंको पूजामें बलि देनेका विचार किया है, ऐसा क्रूरकर्मरूप घोर अपराध करके भी क्या तू अपनेको निरपराध मानता है ॥ ८ ॥ हे राजसत्तम ! अनेकों निरपराध राजाओंका वध करना क्या राजा का काम है ? तब तूने किस कारण से राजाओं को लाकर महादेवजीके सामने बलिदान करनेका विचार किया है ? ॥ ९ ॥ हे बृहद्रथकुमार ! हमको भी तेरे किये हुए अपराध का अपराधी होना पड़ेगा, क्योंकि हम धर्माचरण करनेवाले और धर्मकी रक्षा करनेम समर्थ हैं ॥ १० ॥ हमने कभी मनुष्योंका बलिदान होता नहीं देखा है फिर तू किस आधार पर नरबलि देकर भगवान् रुद्रदेवकी पूजा करना चाहता है ? ॥ ११ ॥ हे वृथामति जरासंध ! तेरे सिवाय और कौन पुरुष अपने समान वर्णके मनुष्योंको पशु बनाना चाहेगा॥१२॥ देख जो पुरुष जिस२

धर्मतः। कार्यवन्तो गृहानेत्य शत्रुतो नार्हणां वयम्। प्रतिगृह्णीम तद्विद्धि एतन्नः शाश्वतं व्रतम् ॥ ५५ ॥ ❀ ॥

इति सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि कृष्णजरासन्ध-संवादे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

जरासन्ध उवाच। न स्मरामि कदा वैरं कृतं युष्माभिरित्युत। चिन्तयंश्च न पश्यामि भवतां प्रति वैकृतम् ॥ १ ॥ वैकृते चासति कथं मन्यध्वं मामनागसम्। अरिं वै ब्रूत हे विप्राः सतां समय एष हि ॥ २ ॥ अर्थधर्मोपघाताद्धि मनः समुपतप्यते। योऽनागसि प्रसज्यति क्षत्रियो हि न संशयः ॥ ३ ॥ अतोऽन्यथा चरंल्लोके धर्मज्ञः सन्महारथः। वृजिनां गतिमाप्नोति श्रेयसोऽप्युपहन्ति च ॥४॥ त्रैलोक्ये क्षत्रधर्मो हि श्रेयान्वै साधुचारिणाम्। नान्यं धर्मं प्रशंसन्ति ये च धर्मविदो जनाः ॥ ५ ॥ तस्य मेऽद्य स्थितस्येह

शत्रुकी दी हुई पूजाको ग्रहण नहीं करते हैं, यह हमारा नित्यका नियम है ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ इति एकविंश अध्याय समाप्त ॥ २१ ॥

जरासन्धने कहा, कि—मैंने किस समय तुम्हारे साथ शत्रुता या तुम्हारा अपकार किया है,यह मुझे ध्यान देनेपर भी याद नहीं आता ॥ १ ॥ फिर तुम किस कारणसे मुझ निरपराधको अपना शत्रु समझते हो, हे विप्रो ! क्या सत्पुरुषोंका यही नियम है ? ॥ २ ॥ धर्म या कार्यसिद्धि में बाधा पड़नेसे ही मनमें पीड़ा होती है, परन्तु जो पुरुष क्षत्रियकुल में जन्म लेकर और धर्मका ज्ञाता होकर बिना अपराध ही किसीके धर्मार्थमें बाधा डालता है उसका इस लोकमें निःसंदेह अमंगल और परलोकमें नरकगति होती है ॥ ३ ॥ ४ ॥ और देखो त्रिलोकी में सन्मार्ग से चलनेवालोंके लिये क्षत्रियधर्म ही श्रेष्ठ है, धर्मज्ञ पुरुष केवल क्षत्रियधर्मकी प्रशंसा करते हैं ॥ ५ ॥ मैं अपने धर्ममें तत्पर रहता हूं प्रजाओंका कुछ अपकार नहीं करता, फिर तुमने इस समय मुझे शत्रु कैसे मान लिया है

स्वधर्मे नियतात्मनः । अनागसं प्रजानाञ्च प्रमादादिव जल्पथ ॥६॥ श्रीकृष्ण उवाच । कुलकार्य्यं महाबाहो कश्चिदेकः कुलोद्वहः । वहते यस्तन्नियोगाद्वयमभ्युद्यतास्त्वयि ॥ ७ ॥ त्वया चोपहृता राजन् क्षत्रिया लोकवासिनः । तदागः क्रूरमुत्पाद्य मन्यसे किम नागसम् ॥ ८ ॥ राजा राज्ञः कथं साधून् हिंस्यान्नृपतिसत्तम । तद्राज्ञः सन्निगृह्य त्वं रुद्रायोपजिहीर्षसि ॥ ९ ॥ अस्मांस्तदेनो गच्छेद्धि कृतं बार्हद्रथ त्वया । वयं हि शक्ता धर्मस्य रक्षणे धर्मचारिणः ॥ १० ॥ मनुष्याणां समालम्भो न च दृष्टः कदाचन । स कथं मानुषैर्देवं यष्टुमिच्छसि शङ्करम् ॥ ११ ॥ सवर्णो हि सवर्णानां पशुसंज्ञां करिष्यसि । कोऽन्य एवं यथाहि त्वं जरासन्ध वृथामतिः॥१२॥यस्यां यस्यामवस्थायां यद्यत् कर्म करोति यः। तस्यां

मालूम होता है कि-तुम्हें उन्माद हो गया है,जो ऐसा कहरहे हो ॥ ६ ॥ श्रीकृष्णजी कहते हैं, कि—हे महाबाहो ! जो कुलदीपक अकेला ही कुलके कार्योंका भार धारण किये हुए है उसका ही आज्ञासे हम तुम्हारे यहां उद्यत होकर आये हैं ॥७॥ हे राजन् ! तूने क्षत्रियोंको पूजामें बलि देनेका विचार किया है, ऐसा क्रूरकर्मरूप घोर अपराध करके भी क्या तू अपनेको निरपराध मानता है ॥ ८ ॥ हे राजसत्तम ! अनेकों निरपराध राजाओंका वध करना क्या राजा का काम है ? तव तूने किस कारण से राजाओं को लाकर महादेवजीके सामने बलिदान करनेका विचार किया है ? ॥ ९ ॥ हे बृहद्रथकुमार ! हमको भी तेरे किये हुए अपराध का अपराधी होना पड़ेगा, क्योंकि हम धर्माचरण करनेवाले और धर्मकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं ॥ १० ॥ हमने कभी मनुष्योंका बलिदान होता नहीं देखा है फिर तू किस आधार पर नरबलि देकर भगवान् रुद्रदेवकी पूजा करना चाहता है ? ॥ ११ ॥ हे नृपापति जरासंध ! तेरे सिवाय और कौन पुरुष अपने समान वर्णके मनुष्योंको पशु बनाना चाहेगा॥१२॥ देख जो पुरुष जिस२

तस्यामवस्थायां तत् फलं समवाप्नुयात् ॥ १३ ॥ ते त्वां ज्ञातिक्षयकरं वयमार्तानुसारिणः । ज्ञातिवृद्धिनिमित्तार्थं विनिहन्तुमिहागताः ॥ १४ ॥ नास्ति लोके पुमानन्यः क्षत्रियेष्विति चैव यत् । मन्यसे स च ते राजन् सुमहान् बुद्धिविप्लवः ॥ १५ ॥ को हि जानन्नभिजनमात्मवान् क्षत्रियो नृप । नाविशेत् स्वर्गमतुलं रणानन्तरमव्ययम् ॥ १६ ॥ स्वर्गं ह्यवसमास्थाय रणयज्ञेषु दीक्षिताः जयन्ति क्षत्रिया लोकांस्तद्विद्धि मनुजर्षभ ॥ १७ ॥ स्वर्गयोनिर्महद्ब्रह्म स्वर्गयोनिर्महद्यशः । स्वर्गयोनिस्तपो युद्धे मृत्युः सोऽव्यभिचारवान् ॥ १८ ॥ एष ह्यैन्द्रो वैजयन्तो गुणैर्नित्यं समाहितः । येनासुरान् पराजित्य जगत्पाति शतक्रतुः ॥ १९ ॥ स्वर्गमार्गाय कस्य स्याद्विग्रहो वै यथा तव । मागधैर्विपुलैः सैन्यैर्बाहुल्यबलद-

---

अवस्था में जो जो कर्म करता है वह उस उस अवस्थामें ही पड़कर उसके फलको भोगता है॥१३॥ हम दुःखियोंकी सहायता करते हैं और तू जातिका नाश करना चाहता है इसकारण अब हम जातिकी वृद्धिके लिये तेरा प्राणान्त करनेको यहां आये हैं ॥ १४ ॥ हे राजन् ! तूने मन ही मनमें निश्चय करलिया है, कि—भूमंडल भरके क्षत्रियोंमें मेरी समान बलधारी दूसरा कोई है ही नहीं, यह केवल तेरी बुद्धिका भ्रम है ॥ १५ ॥ कौनसा अपनी जातिका पक्षपाती क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुआ राजा अपने संबंधियोंकी रक्षाके लिये युद्धमें प्राण देकर अतुल स्वर्गसुखको भोगना नहीं चाहेगा ? ॥ १६ ॥ हे राजन् ! देख क्षत्रिय स्वर्गमें रहकर भी रणयज्ञकी दीक्षा धारण करके लोकोंको जीतते हैं॥ १७ ॥ वेदका पढ़ना स्वर्गके लिये है बड़ा भारी यश स्वर्गके लिये है तपस्या करना स्वर्गके लिये है और युद्धमें प्राण देना भी स्वर्गके लिये ही है ॥ १८ ॥ परंतु नियमके साथ वेदाध्ययन आदि बिना किये स्वर्ग नहीं मिलता किंतु युद्धमें प्राण देने से स्वर्गलाभ अवश्यही होगा, देखो स्वर्गपति इन्द्र अपने गुणवान् पुत्र वैजयन्तके प्रभावसे असुरोंको जीतकर जगत्की रक्षा करता है ॥ १९ ॥ जो

पितिः ॥ २०॥ मात्मस्थाः परानाजन्नस्ति वीर्य्यं नरे नर। समन्तेजास्त्वया चैव विशिष्टं वा नरेश्वर॥२१॥ यावदेतदसम्बुद्धं तावदेव भवेत्तव। विषह्यमेतदस्माकमतो राजन् ब्रवीमि ते ॥ २२ ॥ जहि त्वं सदृशेष्वेव मानं दर्पञ्च मागध। मागच्छ ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥ २३ ॥ दम्भोद्भवः कार्त्तवीर्य उत्तरश्च बृहद्रथ। श्रेयसो ह्यवमन्येह विनेशुः सबला नृपाः ॥ २४ ॥ युयुत्समाणास्त्वत्तो हि न वयं ब्राह्मणा ध्रुवम्। शौरिरस्मि हृषीकेशो नृवीरौ पाण्डवाविमौ ॥ २५ ॥ त्वामाह्वयामहे राजन् स्थिरो युध्यस्व मागध। मुञ्च वा नृपतीन् सर्वान् गच्छ वा त्वं यमक्षयम् ॥ २६ ॥

कुछ भी हो, इस समय हमारे साथ शत्रुता करना तुम्हारे लिये जैसा स्वर्गको जानेका कारण हुआ है ऐसा और किसीको नहीं होसकता हे राजन्! बहुत सी मागधसेनाके बलका घमंडी होकर औरोंका अपमान मतकर, हरएक पुरुषमें पराक्रम है, हे राजन्! इस भूमण्डलपर तेरी समान तेजस्वी और तुझसे अधिक तेजस्वी भी बहुतसे हैं॥ २० ॥२१॥ हे राजन् ! तू इस बातको जबतक नहीं जानता है तबतक ही ऐसा अभिमान कररहा है, यह बात हमको बहुत ही असह्य हुई है इसीसे तुझे जतादिया है ॥ २२ ॥ हे राजन् ! तू अपने बराबरवालोंके साथ ऐसा अभिमान और दर्प करना छोडदे,नहीं तो तुझे पुत्र,मंत्री और सेनासहित यमपुरीमें जाना पड़ेगा॥२३॥ महाराज दम्भोद्भव कार्त्तवीर्य,उत्तर और राजा बृहद्रथ अधिक अभिमानके कारण अपनी भलाईकी ओर ध्यान न देकर सेनासहित नष्ट होगए ॥ २४ ॥ हे राजन् ! कपटसे तेरा संहार करनेकी इच्छा करके हमने ऐसा वेष धारण करा है, हम वास्तवमें ब्राह्मण नहीं हैं क्षत्रिय हैं, मैं वासुदेवका पुत्र कृष्ण हूं और यह दोनों वीर पाण्डुके पुत्र है॥ २५ ॥ हे राजन् ! हम तुझे युद्ध करनेके लिये पुकारते हैं, अब तुम या तो सब राजाओंको छोड़दो नहीं तो युद्ध करके यमलोकको जाओ २६

जरासन्ध उवाच । नाजितान्वै नरपतीन्नहमादद्मि कांश्चन । अजितः पर्यवस्थाता कोऽत्र यो न मया जितः ॥ २७ ॥ क्षत्रियस्यैतदेवाहुर्धर्मं कृष्णोपजीवनम् । विक्रम्य वशमानीय कामतो यत्समाचरेत् ॥ २८ ॥ देवतार्थमुपाहृत्य राज्ञः कृष्ण कथं भयात् । अहमद्य विमुच्येयं क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् ॥ २९ ॥ सैन्यं सैन्येन व्यूढेन एकं एकेन वा पुनः । द्वाभ्यां त्रिभिर्वा योत्स्येऽहं युगपत् पृथगेव वा ॥ ३० ॥ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्त्वा जरासन्धः सहदेवाभिषेचनम् । आज्ञापयत्तदा राजा युयुत्सुर्भीमकर्मभिः ॥ ३१ ॥ स तु सेनापती राजा सस्मार भरतर्षभ । कौशिकं चित्रसेनञ्च तस्मिन् युद्ध उपस्थिते ॥ ३२ ॥ ययोस्ते नामनी राजन् हंसेति डिम्भकेति च । पूर्वं सङ्कथिते पुंभिर्नृ लोके लोकसत्कृते ॥३३॥ तन्तु राजन्विभुः शौरी राजानं बलिनाम्वरम् । स्मृत्वा पुरुषशार्दूल शार्दूल-

जरासंधने कहा, कि-हे कृष्ण ! मैं किन्हीं राजाओंको भी विना जीते नहीं लाया हूं, जिसको मैंने जीता न हो और जो मेरे साथ विरोध करसकता हो, इस भूमंडल पर ऐसा कौनसा पुरुष है! ॥२७॥ हे कृष्ण! पराक्रमसे लोगोंको अपने वशमें करके उनके साथ अपनी इच्छानुसार व्यवहार करना ही क्षत्रियका धर्म है ॥२८॥ हे कृष्ण ! मैंने क्षात्रव्रतको धारण किया है, इन राजाओंको देवपूजाके लिये लाया हूं, अब मैं डर मानकर इनको क्यों छोड़ दूँ ?॥२९॥ मैं अकेला ही, व्यूहमें खड़े हुए एक, दो या तीन महारथियोंके साथ एकसाथ वा अलग २ युद्ध करसकता हूं ॥३०॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—राजा जरासंधने ऐसा कहकर इन तीनों विकट पराक्रमवालोंके साथ युद्ध करनेकी इच्छासे अपने पुत्र सहदेवका राज्याभिषेक करनेकी आज्ञा दी॥३१॥ और हे जनमेजय ! इस युद्धका अवसर आने पर राजा जरासंधने अपने कौशिक और चित्रसेन नाम वाले सेनापतियोंको याद किया॥ ३२॥ हे राजन् ! पहिले जन्ममें जिनके हंस और डिम्भक नाम जगत्भरमें गौरव पानेवाले तुमसे कहे थे ॥ ३३ ॥ उस समय पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण

समविक्रमम् ॥ ३४ ॥ सत्यसन्धेः जरासन्धं भुवि भीमपराक्रमम् । मागमन्यस्य निर्दिष्टमवध्यं मधुभिर्मृधे॥३५॥ नात्मनात्मवतां मुख्य इयेष मधुसूदनः । ब्राह्मीमाज्ञां पुरस्कृत्य हन्तुं हलधरानुजः ।३६।

इति सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि जरासन्धयुद्धोद्योगे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततस्तं निश्चितात्मानं युद्धाय यदुनन्दनः उवाच वाग्मी राजानं जरासन्धमधोक्षजः ॥ १ ॥ श्रीकृष्ण उवाच । त्रयाणां केन ते राजन्युद्धमुत्सहते मन । अस्मदन्यतमेनेह सज्जीभवतु को युधि ॥ २ ॥ एवमुक्तः स नृपतिर्युद्धं वव्रे महाद्युतिः । जरासन्धस्ततो राजा भीमसेनेन मागधः ॥ ३ ॥ आदाय रोचना माल्यं मङ्गल्यान्यपराणि च । धारयन्नगदाग्न्यान् मुख्यान् निर्वृतीर्वेदनानि च । उपतस्थे जरासन्धं युयुत्सुं वै पुरोहित

को याद आया कि-यह बलवानों में श्रेष्ठ पुरुषसिंह जरासंध भूलोकमें संग्रामके समय यादवोंके हाथसे नहीं मारा जासकता (ऐसी आकाशवाणी होचुकी है) ऐसी ब्रह्माजीकी आज्ञाकी ओर ध्यान देकर हलधरके छोटे भाई सत्यमतिश मधुसूदन भगवान् ने स्वयं उसके मारनेकी इच्छा नहीं की ॥ ३६ ॥ द्वाविंश अध्याय समाप्त ॥ २२ ॥   छ   ॥   छ   ॥   छ

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-तदनन्तर सुंदर बोलनेवाले यदुनन्दन श्रीकृष्णजीने युद्धके लिये मनमें निश्चय करनेवाले उस राजा जरासंधसे कहा ॥ १ ॥ श्रीकृष्णने कहा, कि-हे राजन् ! हम तीनोंमेंसे किसके साथ युद्ध करनेकी तुम्हारी इच्छा है, हममें से युद्ध करनेको तयार होय १॥२॥ तब तो वह बड़ा तेजस्वी राजा जरासंध कहने लगा, कि-मैं भीमसेनके साथ युद्ध करूंगा ॥३॥ उस समय पुरोहित रोचना माला तथा अन्य माङ्गलिक पदार्थ और दुःख-मूर्छाको दूर करनेवाले अगामें बाधनेके लिये गंडे बूटियें लेकर युद्ध करनेको तयार हुए जरासंधके पास आया ४

॥ ४ ॥ कृतस्वस्त्ययनो राजा ब्राह्मणेन यशस्विना । समनह्य-जरासन्धः क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥५॥ अवमुच्य किरीटं स केशान् समनुमृज्य च । उदतिष्ठज्जरासन्धो वेलातिग इवार्णवः ॥ ६ ॥ उवाच मतिमान्राजा भीमं भीमपराक्रमः । भीम योत्स्ये त्वया सार्द्धं श्रेयसा निर्जितं वरम् ॥ ७ ॥ एवमुक्त्वा जरासन्धो भीमसेन-मरिन्दमः । प्रत्युद्ययौ महातेजाः शक्रं बल इवासुरः ॥ ८ ॥ ततः सम्मन्त्र्य कृष्णेन कृतस्वस्त्ययनो बली । भीमसेनो जरासंधमास-साद युयुत्सया ॥ ९ ॥ ततस्तौ नरशार्दूलौ बाहुशस्त्रौ समीयतुः । वीरौ परमसंहृष्टावन्योन्यजयकांक्षिणौ ॥ १० ॥ करग्रहणपूर्वं तु कृत्वा पादाभिवन्दनम् । कक्षैः कक्ष्यां विधुन्वानावास्फोटं तत्र चक्रतुः ॥ ११ ॥ स्कन्धे दोर्भ्यां समाहत्य निहत्य च मुहुर्मुहुः ।

फिर जरासंधने कीर्तिवाले ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया और क्षत्रियधर्मको याद करते हुए बख्तरको पहरा और मुकुटको उतार कर केशोंको,बांधता हुआ वेगवाले समुद्रकी समान उठ खड़ा हुआ ॥ ५ ॥ ६ ॥ और यह बुद्धिमान् विकट बली राजा जरासंध कहने लगा,कि-हे भीम ! आओ मैं तेरे साथ युद्ध करूंगा,क्योंकि-बली से युद्ध करनेमें हारनेपर भी यश ही होता है॥७॥शत्रुओं को दबाने वाले,महातेजस्वी जरासंधने भीमसेनसे यह कहकर जैसे बलनामक असुरने इन्द्रके ऊपर आक्रमण किया था तैसे ही भीमसेनके ऊपर आक्रमण करनेको उद्यत हुआ ॥ ८ ॥ तब तो बलवान् भीमसेन भी श्रीकृष्णके साथ मंत्रणा कर और ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर युद्ध करनेके लिये जरासंधके सामने आगया ॥ ९ ॥ इस प्रकार वह दोनों नरश्रेष्ठ वीर पुरुष परस्पर विजय पानेके अभि-लाषी होकर अपनी २ भुजारूप शस्त्रोंको मिलाने लगे ॥ १० ॥ पहिले उन्होंने हाथसे हाथ पकड़कर चरणवंदना की, फिर बगलों से बगलोंको फड़काते हुए ताल ठोकनेलगे॥११॥हे राजन्!भुजाओं से कन्धोंपर थपकी देकर बारर धकियाकर परस्पर लिपटगए और

अङ्गमङ्गैः समाश्लिष्य पुनरास्फालनं विभो ॥ १२ ॥ चित्रहस्तादिकं कृत्वा कलाबन्धश्च चक्रतुः। गलगण्डाभिघातेन सस्फुलिङ्गेन चानिशम् ॥ १३ ॥ बाहुपाशादिकं कृत्वा पादाहतशिरावुभौ। उरोहस्तं ततश्चक्रे पूर्णकुम्भौ प्रयुज्य तौ ॥ १४ ॥ करसम्पीडनं कृत्वा गर्जन्तौ वारणाविव। नर्दन्तौ मेघसङ्काशौ बाहुप्रहरणावुभौ ॥ १५ ॥ तलेनाहन्यमानौ तु अन्योन्यं कृतवीक्षणौ। सिंहाविव सुसंक्रुद्धावाकृष्याकृष्य युध्यतम् ॥ १६ ॥ अङ्गेनाङ्गं समापीड्य बाहुभ्यामुभयोरपि। आवृत्य बाहुभिश्चापि उदरञ्च प्रचक्रतुः ॥ १७ ॥ उभौ कट्यां सुपार्श्वे तु तक्षवन्तौ च शिक्षितौ। अधोहस्तं स्वकण्ठे तूदरस्योरसि चाक्षिपत् ॥ १८ ॥ सर्वातिक्रांतमर्यादं पृष्ठभङ्गञ्च चक्रतुः। सम्पूर्णमूर्छां बाहुभ्यां पूर्णकुम्भं प्रचक्रतुः १९ तृणपीडं यथाकामं पूर्णयोगं समुष्टिकम्। एवमादीनि युद्धानि

अलग २ हो कूदगए ॥ १२ ॥ फिर चित्रहस्त आदि अनेकों पेंच करके घगलबंधन किया, उस समय परस्पर गरदन और गालों पर दोनोंने ऐसे धप्पड़ लगाए कि—बराबर चिनगारियें उठने लगीं ॥ १३ ॥ फिर बाहुपाश आदि पेंच करके एक दूसरेके माथे पर लात मारतेहुए, मतवाले हाथियोंकी समान और घनघटाओंकी समान गंभीर गर्जना करते और क्रोधमें भरे दो सिंहोंकी समान एक दूसरेको देखते, थपेड़ोंका प्रहार और बार २ कभी इधर और कभी उधरको धकेलतेहुए युद्ध करनेलगे ॥ १४–१५ ॥ परस्पर अङ्गोंसे अङ्गोंको पीडित करने लगे तथा भुजदण्डोंसे पेट और कमर को पकड़कर अपनी अपनी कमर पीठपर डालनेलगे और अपनी२ गरदन, बगल और पेटपर हाथ फेरनेलगे ॥ १७ ॥ १८ ॥ तदनंतर कभी पीठको रगड़ देते, कभी उदरमें घूमा मारकर एक दूसरे को मूर्छित करते तथा पूर्णकुम्भ आदि पेंच सकल मर्यादाको त्यागकर करनेलगे ॥ १९ ॥ तदनन्तर उन्होंने तृणपीड पूर्णयोग और समुष्टिक आदि पेंचोंको करतेहुए आपसमें यथेच्छ मल्लयुद्ध

मकुर्वन्तौ परस्परम् ॥ २० ॥ तयोर्युद्धं ततो द्रष्टुं समेताः पुरवासिनः । ब्राह्मणा वणिजश्चैव क्षत्रियाश्च सहस्रशः ॥ २१ ॥ शूद्राश्च नरशार्दूल स्त्रियो वृद्धाश्च सर्वशः । निरन्तरमभूत्तत्र जनौघैरभिसंवृतम् ॥ २२ ॥ तयोरथ भुजाघातान्निग्रहप्रग्रहात्तथा आसीत् सुभीमसम्पातो वज्रपर्वतयोरिव ॥ २३ ॥ उभौ परमसंहृष्टौ बलेन बलिनां वरौ । अन्योन्यस्यान्तरं प्रेप्सू परस्परजयैषिणौ ॥ २४ ॥ तद्भीममुत्सार्य जनं युद्धमासीदुपह्वरे । बलिनोः संयुगे राजन् वृत्रवासवयोरिव ॥ २५ ॥ प्रकर्षणाकर्षणाभ्यामनुकर्षविकर्षणैः। आचकर्षतुरन्योऽन्यं जानुभिश्चावजघ्नतुः ॥ २६ ॥ ततः शब्देन महता भर्त्सयन्तौ परस्परम्। पाषाणसंघातनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः ॥ २७ ॥ व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलावुभौ ।

किया ॥ २० ॥ हे भूपते ! सकल पुरवासी हजारों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र सकल स्त्रियें और वृद्ध क्रमशः युद्ध देखनेको वहां इकट्ठे हुए वह मनुष्योंके समूहोंसे घिराहुआ युद्ध बराबर होता रहा ॥ २१ ॥ २२॥ महाबली जरासंध और भीमसेन आपस में भुजा मिला २ कर और गरदन पकड़ २ कर पटकने लगे, उससमय उनकी थपकियोंका ऐसा शब्द होता था मानो पर्वतपर वज्र पड़रहा है ॥ २३ ॥ परस्पर विजयकी इच्छा करनेवाले परम प्रसन्न महाबल-पराक्रमी वह दोनों वीर पुरुष एक दूसरेके चूकने का बाट देखने लगे ॥ २४ ॥ हे राजन् ! इन्द्र और वृत्रासुरकी समान घोर संग्राम करते हुए वह दोनों बली लड़ते २ जिधरको जाते थे उधरसे ही मनुष्योंकी भीड़ भागने लगती थी ॥ २५ ॥ कभी ढकेलकर लेजाना कभी खचेड़कर लाना, कभी आगे को ढकेलना और कभी घसीटना वह इसप्रकार खेंचाखांची करते थे और कभी घुटेलियें देते थे ॥ २६ ॥ तदनन्तर परस्पर कठोर शब्दसे ललकारतेहुए पत्थरोंकी समान घूंसोंके प्रहार करनेलगे२७ उन दोनोंकी ही छाती चौड़ी थी, भुजाएं लंबी थीं और दोनों ही

बाहुभिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव॥२८॥कार्त्तिकस्य तु मासस्य प्रवृत्तं प्रथमेऽहनि। अनाहारं दिवारात्रमविश्रान्तमवर्त्तत ॥२६ ॥तद्वृत्तन्तु त्रयोदश्यां समवेतं महात्मनोः। चतुर्दश्यां निशायां तु निवृत्तो मागधः क्लमात् ॥ ३० ॥ तं राजानं तथा क्लान्तं दृष्ट्वा राजन् जनार्दन। उवाच भीमकर्माणं भीमं सम्बोधयन्निव ॥ ३१ ॥ क्लान्तः शत्रुर्न कौन्तेय लभ्यः पीडयितुं रणे। पीड्यमानो हि कार्त्स्न्येन जह्याज्जीवितमात्मनः ॥ ३२ ॥ तस्मात्ते नैव कौन्तेय पीडनीयो जनाधिपः। सममेतेन युध्यस्व बाहुभ्यां भरतर्षभ ३३ एवमुक्तः स कृष्णेन पाण्डवः परवीरहा। जरासन्धस्य तद्रूपं ज्ञात्वा चक्रे मतिं वधे ॥ ३४ ॥ ततस्तमजितं जेतुं जरासन्धं वृकोदरः। संरम्भं बलिनां श्रेष्ठो जग्राह कुरुनन्दनः ॥ ३५ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि जरासंधक्लान्तौ त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

युद्ध करनेमें चतुर थे इसकारण दोनोंने परस्पर लोहेके डँडेलीकी समान भुजदंडोंसे दबोच लिया॥२८॥उन दोनों महात्माओंका युद्ध कार्त्तिकमासके पहिले दिनसे आरंभ होकर बिना खाये पिये निरंतर तेरह रात दिन बराबर होता रहा, चौदहवें दिन रातके समय जरासंध थकजानेके कारण हटगया ॥ २९ ॥ ३० ॥ हे राजन्! श्रीकृष्णने राजा जरासंधको थकाहुआ देखकर भीमकर्मा भीमसेन को पुकार कर कहा ॥ ३१ ॥ हे कुन्तीनन्दन! थके हुए शत्रुको रणमें पीड़ा नहीं देना चाहिये, क्योंकि-वह अधिक पीड़ापानेपर अपने प्राणोंको त्यागदेगा ॥ ३२ ॥ इसकारण अब तुम इसको पीड़ा मत दो, हे भरतर्षभ! इसके साथ बाहुयुद्ध करो ॥ ३३ ॥ श्रीकृष्णजीके ऐसा कहने पर वीर शत्रुओंका नाश करनेवाले भीमसेनने जरासंधकी ऐसी दशा देखकर उसके मारनेका विचार किया ॥ ३४ ॥ तदनन्तर बलवानोंमें श्रेष्ठ कुरुनन्दन भीमसेन उस किसीसे न जीतेहुए जरासंधको जीतनेके लिये क्रोधमें भरगया ॥ ३५ ॥ त्रयोविंश अध्याय समाप्त॥ २३ ॥ छ

वैशम्पायन उवाच। भीमसेनस्ततः कृष्णमुवाच यदुनन्दनम्। बुद्धिमास्थाय विपुलां जरासन्धवधेप्सया॥ १॥ नायं पापो मया कृष्ण युक्तः स्यादनुरोधितुम्। प्राणेन यदुशार्दूल बद्धकक्षेण वाससा॥ २॥ एवमुक्तस्ततः कृष्णः प्रत्युवाच वृकोदरम्। त्वरयन् पुरुषव्याघ्रो जरासन्धवधेप्सया॥ ३॥ यत्ते दैवं परं सत्त्वं यच्च ते मातरिश्वनः। बलं भीम जरासन्धे दर्शयाशु तदद्य वै॥ ४॥ एवमुक्तस्तदा भीमो जरासन्धमरिन्दम्। उत्क्षिप्य भ्रामयामास बलवन्तं महाबलः॥ ५॥ भ्रामयित्वा शतगुणं जानुभ्यां भरतर्षभ। बभञ्ज पृष्ठं संक्षिप्य निष्पिष्य विननाद च। करे गृहीत्वा चरणं द्वेधा चक्रे महाबलः॥ ६॥ तस्य निष्पिष्यमाणस्य पाण्डवस्य च गर्जतः। अभवत्तुमुलो नादः सर्वप्राणिभयङ्करः॥ ७॥ वित्रेसुर्मागधाः सर्वे स्त्रीणां गर्भाश्च सुस्रुवुः।

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे जनमेजय! तदनन्तर चातुरी रचने में प्रवीण भीमसेनने जरासंधका वध करनेकी इच्छासे यदुनन्दन श्रीकृष्णसे कहा, कि-॥ १॥ हे कृष्ण! इस पापात्माकी कमर इसप्रकार वस्त्रसे बँधी हुई है, कि-इसका प्राणान्त करना सहज नहीं है॥ २॥ पुरुषोत्तम वासुदेव जरासंधके मारेजानेकी अभिलाषासे शीघ्र ही भीमसेनसे कहनेलगे, कि-॥ ३॥ हे भीम! तुझमें जो दैवबल और जो पवनका बल है उसको आज शीघ्र ही जरासंधके ऊपर दिखा॥ ४॥ हे राजन्! महाबली भीम श्रीकृष्णजीके इसप्रकार कहनेपरबलवान् जरासंधको ऊपरको उठा घुमानेलगा॥ ५॥ सौ बार घुमाकर पटक दिया और जंघाओंमें दबोचकर पीठपर घुटेली दे पीसता हुआ गरजने लगा और फिर महाबली भीमने उसके दोनों चरण दोनों चरण दोनों हाथोंमें पकड़कर बीचमेंसे चीरडाला॥ ६॥ पिसतेहुए जरासंधकी और क्रोधमें भरे भीमसेनकी गर्जनासे सकल प्राणियोंको भय देनेवाला बड़াभारी शब्द हुआ॥ ७॥ भीमसेनके गर्जनेसे मगधपुरीके

भीमसेनस्य नादेन जरासंधस्य चैव ह ॥ ८ ॥ किन्तु स्याद्धिमवान् भिन्नः किन्तु स्विद्दीर्यते मही । इति वै मागधा जजुर्भीमसेनस्य निःस्वनात् ॥ ९ ॥ ततो राज्ञः कुशद्वारि प्रसुप्तमिव तं नृपम् । रात्रौ गतासुमुत्सृज्य निश्चक्रमुररिन्दमाः ॥ १० ॥ जरासन्धरथं कृष्णो योजयित्वा पताकिनम् । आरोप्य भ्रातरौ चैव मोक्षयामास बान्धवान् ॥ ११ ॥ ते वै रत्नभुजं कृष्णं रत्नार्हाः पृथिवीश्वराः । राजानश्चक्रुरासाद्य मोक्षिता महतो भयात् ॥ १२ ॥ अक्षतः शस्त्रसम्पन्नो जितारिः सह राजभिः । रथमास्थाय तं दिव्यं निर्जगाम गिरिव्रजात् ॥ १३ ॥ यः ससोदर्यवान्नाम द्वियोधी कृष्णसारथिः । अभ्यासघाती संदृश्यो दुर्जयः सर्वराजभिः ॥१४॥ भीमार्जुनाभ्यां योधाभ्यामास्थितः कृष्णसारथिः । शुशुभे रथ

निवासी भयभीत होगए और स्त्रियोंके गर्भ गिरपड़े ॥८॥ भीमसेनकी गर्जनाको सुनकर मगधपुरीनिवासी कहनेलगे, कि—न जाने यह हिमालय खसा है वा भूमि फटी है ॥ ९ ॥ तदनन्तर शत्रुओंके नाशक कृष्ण, अर्जुन और भीमसेन, प्राणहीन सोयेसे पड़ेहुए जरासंधको उसके द्वारपर डालकर वहांसे रातमें ही बाहर चले आये ॥ १० ॥ श्रीकृष्णने जरासंधके पताका फहराते हुए रथको जोता और उसके ऊपर अर्जुन तथा भीमसेन दोनों भाइयों को बैठाकर पत्तदिये और जरासंधके कैद करेहुए सब राजाओं को जाकर छुड़ाया ॥ ११ ॥ उन राजाओंने बड़े भारी भयसे रक्षा पा रत्नोंके योग्य श्रीकृष्णजीके पास जाकर अनेकों रत्नोंसे उनका उचित सन्मान किया ॥१२॥ अक्षत, शस्त्रधारी, शत्रुओंको जीतने वाले भगवान् कृष्ण उस दिव्य रथमें चढ़कर राजों सहित गिरिव्रजसे चलदिये ॥ १३ ॥ जिस रथका नाम ससोदर्यवान् था, जिसपर बैठेहुए दो योधा लड़ सकते थे, जिसके सारथिका नाम कृष्ण था, जिसपर बैठकर प्रहार करनेमें सुभीता था, जो देखने योग्य और किसी राजाके जीतनेमें नहीं आता था ॥ १४ ॥ उस

वर्ध्योऽसौ दुर्जयः सर्वशत्रुभिः ॥ १५ ॥ शक्रविष्णू हि संग्रामे चेरतुस्तारकामये । रथेन तेन वै कृष्ण उपारुह्य ययौ तदा ॥१६॥ तप्तचामीकराभेण किङ्किणीजालमालिना । मेघनिर्घोषनादेन जैत्रेणा-मित्रघातिना ॥ १७ ॥ येन शक्रो दानवानां जघान नवतीर्नव । तं प्राप्य समहृष्यन्त रथं ते पुरुषर्षभाः ॥ १८ ॥ ततः कृष्णं महाबाहुं भ्रातृभ्यां सहितं तदा । रथस्थं मागधा दृष्ट्वा समपद्यन्त विस्मिताः ॥ १९ ॥ हयैर्दिव्यैः समायुक्तो रथो वायुसमो जवे । अधिष्ठितः स शुशुभे कृष्णेनातीव भारत ॥ २० ॥ असक्तो देवविहितस्तस्मिन् रथवरे ध्वजः । योजनाद्ददृशे श्रीमानिन्द्रायुधसमप्रभः ॥ २१ ॥ चिन्तयामास कृष्णोऽथ गरुत्मन्तं स चाभ्ययात् । क्षणे तस्मिन् स

ही रथ पर भीम और अर्जुन दो योधा सवार हुए और भगवान् कृष्ण सारथि बने, इससे वह श्रेष्ठ रथ बड़ा ही शोभायमान हुआ ॥ १५ ॥ तारागणोंके जालकी समान दमकते हुए जिस रथ पर सवार होकर इन्द्र और विष्णु रणभूमिमें विचरे थे उस ही तपेहुए सोनेकी समान दमकते, घण्टियोंके जालसे लिपटे, मेघकी समान, शब्दवाले, विजयशील, शत्रुघाती रथ पर चढ़कर उस समय श्रीकृष्णजी चले ॥ १६-१७ ॥ जिस रथ पर चढ़कर इन्द्रने निन्यानवे बार दानवोंका वध किया था उसही रथको पाकर वह पुरुषश्रेष्ठ परमप्रसन्न हुए ॥ १८ ॥ मगधदेशनिवासी महाबाहु कृष्णको भीम और अर्जुनके साथ उस रथपर चढ़े हुए देखकर बड़े आश्चर्यमें हुए ॥ १९ ॥ हे जनमेजय ! जिसमें दिव्य घोड़े जुते थे ऐसो वायुकी समान वेगवाला वह रथ श्रीकृष्णजीके सवार होनेपर बड़ा ही शोभायमान हुआ ॥ २० ॥ उस श्रेष्ठ रथके ऊपर देवताओंकी बनाई हुई एक ध्वजा निराधार लगरही थी इन्द्रधनुष की समान चमकती हुई शोभायमान वह ध्वजा चार कोससे दीखता थी ॥ २१ ॥ तदनन्तर श्रीकृष्णने गरुड़का स्मरण किया कि-

तेनासीच्चैत्यकृस्य इवोच्छ्रितः ॥ २२ ॥ व्यादितास्यैर्महानादैः सह भूतैर्ध्वजालयैः । तस्मिन्रथवरे तस्थौ गरुत्मान् पन्नगाशनः॥२३॥ दुर्निरीक्ष्यो हि भूतानां तेजसाभ्यधिकं बभौ । आदित्य इव मध्याह्ने सहस्रकिरणावृतः। न स सज्जति वृक्षेषु शस्त्रैश्चापि न विध्यते । दिव्यो ध्वजवरो राजन्दृश्यते चेह मानुषैः ॥ २५ ॥ तमास्थाय रथं दिव्यं पर्जन्यसमनिःस्वनम् । निर्ययौ पुरुषव्याघ्रः पाण्डवाभ्यां सहाच्युतः ॥ २६॥ यं लेभे वासवाद्राजा वसुस्तस्माद्बृहद्रथः । बृहद्रथात् क्रमेणैव प्राप्तो बार्हद्रथं नृपः ॥ २७ ॥ स निर्याय महाबाहुः पुण्डरीकेक्षणस्ततः । गिरिव्रजाद्बहिस्तस्थौ समदेशे महायशाः. २८ तत्रैनं नागराः सर्वे सत्कारेणाभ्ययुस्तदा । ब्राह्मणप्रमुखा राजन् विधिदृष्टेन कर्मणा॥२९॥ बन्धनाद्विप्रमुक्ताश्च राजानो मधुसूदनम् ।

वह उसी समय आगए तब तो वह रथकी ध्वजा चैत्य पर्वतके ऊपर वृक्षकी समान ऊँची होगई ॥ २२ ॥ सर्पभक्षी गरुड़जी मुख फैलायेहुए गर्जनेवाले ध्वजवासी भूतोंके साथ उस श्रेष्ठ रथपर स्थित हुए ॥ २३ ॥ सहस्र किरणोंवाले मध्यान्हकालके सूर्यकी समान पुरुषोंको चौंधानेवाला वह रथ तेजसे और भी अधिक शोभायमान हुआ ॥ २४ ॥ हे राजन् ! वह दिव्य ध्वजा न वृक्षोंमें उलझती थी न शस्त्रोंसे बिंधती थी अब वह मनुष्यों को दीखने लगी ॥ २५ ॥ जिस रथको राजा वसुने इन्द्रसे बृहद्रथने वसुसे और अन्तको जरासंधने बृहद्रथसे पाया था पुरुषोत्तम कृष्ण, भीम और अर्जुन सहित उस मेघकी समान गंभीर शब्द वाले दिव्यरथमें बैठकर तहांसे चलदिये ॥ २६ ॥ २७ ॥ तदनन्तर वह महायशस्वी महाबाहु पुण्डरीकाक्ष कृष्ण गिरिव्रजसे निकल कर बाहर मैदानमें आपहुंचे ॥ २८ ॥ हे राजन् ! उस समय ब्राह्मण आदि सकल नगरनिवासियोंने तहां आकर शास्त्रोक्त रीतिसे इनका सत्कार किया ॥ २९ ॥ बंधनसे छूटेहुए

पूजयामासरूचुश्च स्तुतिपूर्वमिदं वचः ॥ ३० ॥ नैतच्चित्रं महाबाहो त्वयि देवकिनन्दने । भीमार्जुनबलोपेते धर्मस्य प्रतिपालनम् ॥ ३१ ॥ जरासन्धहृदे घोरे दुःखपङ्के निमज्जताम् । राज्ञां समभ्युद्धरणं यदिदं कृतमद्य वै ॥ ३२ ॥ विष्णो समवसन्नानां गिरिदुर्गे सुदारुणे । दिष्ट्या मोक्षाद्यशो दीप्तमाप्तं ते यदुनन्दन ॥ ३३ ॥ किं कुर्मः पुरुषव्याघ्र शाधि नः प्रणतिस्थितान् । कृतमित्येव तद्विद्धि नृपैर्यद्यपि दुष्करम् ॥ ३४ ॥ तानुवाच हृषीकेशः समाश्वास्य महामनाः । युधिष्ठिरो राजसूयं क्रतुमाहर्तुमिच्छति ॥ ३५ ॥ तस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः । सर्वैर्भवद्भिर्विज्ञाय साहाय्यं क्रियतामिति ॥३६॥ ततः सुप्रीतमनसस्ते नृपा नृपतिसत्तम । तथे-

---

राजाओंने श्रीकृष्णजीका पूजन कर स्तुति करतेहुए यह बात कही ॥ ३० ॥ हे महाबाहो ! भीम और अर्जुनको साथ लेकर आपने जो यह धर्मकी रक्षाकी है आज जो दुःखरूप कीचड़की अँड़नवाले जरासंधरूप तालावमें डूबतेहुए हम राजाओंका उद्धार किया है सो आपके विषयमें यह कोई अचरजकी नई बात नहीं है ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ हे विष्णो ! हे यदुनन्दन ! आपने दारुण गिरि-दुर्गमें दुःख पातेहुए राजाओंको छुड़ाया इसका हम आपको धन्य-वाद देते हैं और इससे आपको बड़ा यश मिला है ॥ ३३ ॥ हे पुरुषोत्तम ! शिर झुका कर खड़े हुए हमको आज्ञा दीजिये, कि-कौनसा काम करें बड़े २ राजाओंसे भी न होनेयोग्य उस कामको कराहुआ ही समझिये ॥ ३४ ॥ महात्मा श्रीकृष्णने उनको ढाढस देकर कहा, कि—राजा युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं ॥३५॥ आप उन चक्रवर्ती पदको चाहनेवाले धार्मिक महाराजकी इस कार्यमें चित्तसे सहायता करें ॥ ३६ ॥ हे जनमे-जय ! यह सुनकर वह राजे मनमें बड़े प्रसन्न हुए और श्रीकृष्णजीकी बातको स्वीकार करके कहनेलगे, कि—बहुत अच्छा, ऐसा

तथेत्यब्रुवन् सर्वे प्रतिगृह्यास्य तां गिरम् ॥३७॥ रत्नभाजश्च दाशार्हं चक्रुस्ते पृथिवीश्वराः। कृच्छ्राज्जग्राह गोविन्दस्तेषां तदनुकम्पया ॥३८॥ जरासन्धात्मजश्चैव सहदेवो महामनाः। निर्ययौ सजनामात्यः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ॥ ३९ ॥ स नीचैः प्रणतो भूत्वा बहुरत्नपुरोगमः। सहदेवो नृणां देवं वासुदेवमुपस्थितः ॥ ४० ॥ भयार्ताय ततस्तस्मै कृष्णो दत्त्वाभयं तदा। आददेऽस्य महार्हाणि रत्नानि पुरुषोत्तमः ॥ ४१ ॥ अभ्यषिञ्चत तत्रैव जरासन्धात्मजं मुदा। गत्वैकत्वञ्च कृष्णेन पार्थाभ्यां चैव सत्कृतः ॥ ४२ ॥ विवेश राजा द्युतिमान् बार्हद्रथपुरं नृप। अभिषिक्तो महाबाहुर्जारासन्धिर्महात्मभिः ॥ ४३ ॥ कृष्णस्तु सह पार्थाभ्यां श्रिया परमया युतः। रत्नान्यादाय भूरीणि प्रययौ पुरुषर्षभः ॥ ४४ ॥ इन्द्रप्रस्थ-

---

ही करेंगे ॥ ३७ ॥ फिर उन राजाओंने श्रीकृष्णजीको सुंदर २ पदार्थ अर्पण करे वह श्रीकृष्णजीने उनके ऊपर दया दिखाते हुए बड़ी कठिनतासे लिये ॥ ३८ ॥ जरासंधका पुत्र महात्मा सहदेव मंत्रियों सहित पुरोहितको आगे करके श्रीकृष्णजीसे मिलने को आया ॥ ३९ ॥ अनेकों रत्नोंको लिये वह सहदेव बड़ी नम्रता से प्रीतिके साथ नरदेव भगवान् कृष्णकी शरणमें आपहुंचा ॥ ४० ॥ तब श्रीकृष्णजीने उस भय से घबड़ाये हुए सहदेवको अभय देकर उसके भेट कियेहुए बहुमूल्य रत्नोंको लेलिया ४१ श्रीकृष्ण भीमसेन और अर्जुन तीनोंने इकट्ठे होकर तहाँ ही बड़ी प्रसन्नतासे जरासंधके पुत्र सहदेवका अभिषेक करदिया॥४२॥ हे राजन्! उन महात्माओंके अभिषेक करदेनेपर वह परमकीर्त्तिमान् जरासंधका पुत्र महाबाहु सहदेव अपनी राजधानीमें चलागया ४३ उधर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णजी अनेकों रत्नोंका संग्रह करके परम शोभा को प्राप्त होतेहुए भीम और अर्जुनके साथ इन्द्रप्रस्थको चलदिये ॥४४॥उन दोनोंके साथ श्रीकृष्णजी इन्द्रप्रस्थमें आकर प्रसन्न होते

मुपागम्य पाण्डवाभ्यां सहाच्युतः । समेत्य धर्मराजानं प्रीयमाणोऽभ्यभाषत ॥ ४५ ॥ दिष्ट्या भीमेन बलवान् जरासन्धो निपातितः । राजानो मोक्षिताश्चैव बन्धनान्नृपसत्तम ॥ ४६ ॥ दिष्ट्या कुशलिनौ चेमौ भीमसेनधनञ्जयौ । पुनः स्वनगरं प्राप्तावक्षताविति भारत ॥ ४७ ॥ ततो युधिष्ठिरः कृष्णं पूजयित्वा यथार्हतः । भीमसेनार्जुनौ चैव प्रहृष्टः परिषस्वजे ॥ ४८ ॥ ततः क्षीणे जरासन्धे भ्रातृभ्यां विहितं जयम् । अजातशत्रुरासाद्य मुमुदे भ्रातृभिः सह ॥४९॥ यथा वयः समागम्य भ्रातृभिः सह पाण्डवः । सत्कृत्य पूजयित्वा च विससर्ज नराधिपान् ॥ ५० ॥ युधिष्ठिराभ्यनुज्ञातास्ते नृपा हृष्टमानसाः । जग्मुः स्वदेशांस्त्वरिता यानैरुच्चावचैस्ततः ॥५१॥ एवं पुरुषशार्दूलो महाबुद्धिर्जनार्दनः । पाण्डवैर्घातयामास जरासन्धमरिं तदा ॥ ५२ ॥ घातयित्वा जरासन्ध

हुए धर्मराजसे कहनेलगे, कि-॥४५॥ हे राजेन्द्र ! आपकी बधाई है, कि भीमसेनने बलवान् जरासंधको मारडाला और कारागारमें पड़ेहुए राजाओंको बंधनसे छुटादिया ॥४६॥ हे भारत ! अहोभाग्य है, कि-यह भीमसेन और अर्जुन कामको सिद्ध करके कुशल पूर्वक निर्विघ्न अपने नगरको लौटआये ॥४७॥ राजा युधिष्ठिरने इतना सुनते ही परमप्रसन्न हो श्रीकृष्णजीकी यथोचित पूजाकर भीमसेन और अर्जुनको हृदयसे लगाया ॥ ४८ ॥ दोनों भाइयों के द्वारा जरासंधके मारे जानेपर उनके कियेहुए विजयको पाकर भ्राताओं सहित अजातशत्रु युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए ॥ ४९ ॥ तदनन्तर भाइयों सहित युधिष्ठिरने उन सब राजाओंसे मिल और अवस्थाके अनुसार सत्कार पूजन करके उनको विदा करदिया।५० तब वह सब राजे युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर प्रसन्नचित्तसे नाना प्रकार की सवारियोंपर चढ़कर वहांसे शीघ्र ही अपने २ देशोंको चलेगये ॥ ५१ ॥ इस प्रकार परमप्रवीण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णजीने पाण्डवोंके द्वारा अपने शत्रु जरासंधको मरवादिया ॥ ५२ ॥

बुद्धिपूर्वमरिंदमः। धर्मराजमनुज्ञाप्य पृथां कृष्णां च भारत ।५३।
सुभद्रां भीमसेनञ्च फाल्गुनं यमजौ तथा। धौम्यमामन्त्रयित्वा च
प्रययौ स्वां पुरीं प्रति ॥ ५४ ॥ तेनैव रथमुख्येन मनसस्तुल्य-
गामिना। धर्मराजविसृष्टेन दिव्येनानादयन्दिशः ॥ ५५ ॥ ततो
युधिष्ठिरमुखाः पाण्डवा भरतर्षभ। प्रदक्षिणमकुर्वन्त कृष्णमक्लिष्ट-
कारिणम् ॥ ५६ ॥ ततो गते भगवति कृष्णे देवकीनन्दने। जयं
लब्ध्वा सुविपुलं राज्ञां दत्त्वाभयन्तदा ॥ ५७ ॥ संवर्द्धितं यशो
भूय कर्मणा तेन भारत। द्रौपद्याः पाण्डवा राजन् परां प्रीति-
मवर्द्धयन् ॥ ५८ ॥ तस्मिन् काले तु यद्युक्तं धर्मकामार्थसंहितम्।
तद्राजा धर्मतश्चक्रे प्रजापालनकीर्त्तनम् ॥ ५९ ॥

इति सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि जरासंधवधे चतुर्विंशोऽ-
ध्यायः समाप्तश्च जरासंधवधपर्व ॥

अथ दिग्विजयपर्व।

वैशम्पायन उवाच। पार्थः प्राप्य धनुःश्रेष्ठमक्षयौ च महेषुधी।

भारत! शत्रुनाशी कृष्ण बुद्धिमानीके साथ जरासंधको मरवा कर धर्मराजकी आज्ञा ले, कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव और धौम्यसे बूझकर, धर्मराजके दियेहुए मनकी समान, वेगवाले उस ही दिव्य रथपर बैठकर दशों दिशाओं को शब्दायमान करतेहुए अपनी द्वारका नगरी को चलदिये५३-५५ उनके चलते समय युधिष्ठिर आदि पाँचों पांडवोने सुखदायक कृष्ण की परिक्रमा करी॥५६॥ देवकीनन्दन भगवान् कृष्णके चलेजाने पर उस बड़ी भारी विजयको पाने और गिरिदुर्गमें वधके लिये लायेहुए राजाओंको छुडानेसे उनका यश चारों दिशाओंमें फैल गया और हे भारत! पांडवोंके इस कामसे द्रौपदी बड़ी प्रसन्न हुई ५७। ५८ ॥ तब धर्मराज समयके योग्य धर्मार्थकामयुक्त प्रजाका पालन करते हुए परमसुखके साथ निवास करने लगे। ५९ चतुर्विंश अध्याय समाप्त॥ २४ ॥ छ ॥ छ

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे जनमेजय! अर्जुनने उत्तम धनुष

रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत ॥ १ ॥ अर्जुन उवाच । धनुरस्त्रं महावीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम् । प्राप्तमेतन्मया राजन् दुष्प्रापं यदभीप्सितम् ॥ २ ॥ तत्र कृत्यमहं मन्ये कोशस्य परिवर्द्धनम् । करमाहारयिष्यामि राज्ञः सर्वान्नृपोत्तम ॥३॥ विजयाय प्रयास्यामि दिशं धनदपालिताम् । तिथावथ मुहूर्ते च नक्षत्रे चाभिपूजिते ॥४॥ वैशम्पायन उवाच । धनञ्जयवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः । स्निग्धगम्भीरनादिन्या तं गिरा प्रत्यभाषत ॥ ५ ॥ स्वस्ति वाच्यार्हतो विप्रान् प्रयाहि भरतर्षभ । दुर्हृदामप्रहर्षाय सुहृदां नन्दनाय च ॥ ६ ॥ विजयस्ते ध्रुवं पार्थः प्रियं काममवाप्स्यसि । इत्युक्तः प्रययौ पार्थः सैन्येन महता वृतः ॥७॥ अग्निदत्तेन दिव्येन रथेनाद्भुतकर्मणा । तथैव भीमसेनोऽपि [यमौ च

बड़े २ अक्षय भाथे, रथ, पताका और सभाको पाकर युधिष्ठिरसे कहा ॥ १ ॥ अर्जुन बोला, कि—हे राजन् ! जो कि-हरएकको मिलना कठिन है, ऐसे मनमाने धनुष आदि अस्त्र बड़ी वीरता, सहाय, किला, यश, सेना आदि मैंने सब ही पालिया है ॥ २ ॥ हे महाराज ! मेरी समझमें अब खजानेको बढ़ाना और राजाओंसे कर लेना यही काम हमको करना चाहिये ॥ ३ ॥ अब आपके आज्ञा देनेपर शुभ नक्षत्र, तिथि और मुहूर्त पाकर मैं कुबेरकी रक्षा कीहुई उत्तर दिशामें विजय करनेको जाऊँगा ॥ ४ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—धर्मराज युधिष्ठिर अर्जुनकी इस बातको सुनकर प्रेमभरी गंभीर वाणीमें कहनेलगे, कि—॥ ५ ॥ हे भाई पूज्य ब्राह्मणोंसे आशीर्वाद लेकर शत्रुओंका दुःख और मित्रोंका आनन्द बढ़ानेके लिये यात्रा करो ॥ ६ ॥ हे पार्थ ! निश्चय ही तुम्हारी विजय और प्रियकामना सिद्ध होगी ऐसी आज्ञा पाकर अर्जुन बड़ी भारी सेनाको साथ ले अग्निके दियेहुए दिव्य रथमें बैठकर चलदिये इसी प्रकार भीमसेन और वीर नकुल सहदेवने भी धर्म-

पुरुषर्षभौ ॥ ८ ॥ ससैन्याः प्रययुः सर्वे धर्मराजेन पूजिताः । दिशं धनपतेरिष्टामजयत् पाकशासनिः ॥ ९ ॥ भीमसेनस्तथा प्राचीं सहदेवस्तु दक्षिणाम् । प्रतीचीं नकुलो राजन्दिशं व्यजयता-स्त्रवित् ॥ १० ॥ खाण्डवप्रस्थमध्यस्थो धर्मराजो युधिष्ठिर । आसीत् परमया लक्ष्म्या सुहृद्गणवृतः प्रभुः ॥ ११ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि दिग्विजयसंक्षेप-
कथने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

जनमेजय उवाच । दिशामभिजयं ब्रह्मन्विस्तरेणानुकीर्त्तय । नहि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ॥ १ ॥ वैशम्पायन उवाच । धनञ्जयस्य वक्ष्यामि विजयं पूर्वमेव ते । यौगपद्येन पार्थैर्हि निर्जितेयं वसुन्धरा ॥ २ ॥ पूर्वं कुलिन्दविषये वशे चक्रे मही-पतीन् । धनञ्जयो महाबाहुर्नातितीव्रेण कर्मणा ॥ ३ ॥ आनर्तान् कालकूटांश्च कुलिन्दांश्च विजित्य सः । सुमण्डलञ्चावजितं कृत-

---

वरी ॥ ७—८ ॥ इसप्रकार युधिष्ठिरसे सत्कार पा वह सब भाई सेना सहित अपनी राजधानीसे चलदिये, अर्जुनने कुबेरकी प्यारी उत्तर दिशाको जीता ॥ ९ ॥ भीमसेनने पूर्वदिशाको, सहदेवने दक्षिण दिशाको और हे राजन् ! अस्त्रविद्याको जाननेवाले नकुलने, पश्चिम दिशाको जीता ॥१०॥ धर्मराज युधिष्ठिर खाण्डवप्रस्थमें रहते हुए बड़ीभारी लक्ष्मी और अनेकों मित्रोंके स्वामी होगये ॥११॥ पञ्चविंश अध्याय समाप्त ॥ २५ ॥ ॥ छ ॥

जनमेजयने कहा, कि-हे ब्रह्मन् ! अब पांडवोंके दिग्विजयका वृत्तान्त विस्तारके साथ कहिये, मैं अपने पूर्वपुरुषोंके आश्चर्यभरे विचित्र चरित्रको सुनताहुआ तृप्त नहीं होता हूं ॥ १ ॥ वैशंपायन ने क । कि-हे महाराज ! पांडवोंने एकसाथ इस भूमण्डलभरको जीतलिया, उसमेंसे पहिले मैं अर्जुनके दिग्विजयका वृत्तांत कहता हूं, उसको सुनो ॥ २ ॥ हे महाराज ! महाबाहु अर्जुनने पहिले साधारण पराक्रमसे ही कुलिंद देशके राजाओंको अपने वशमें करलिया ॥ ३ ॥ अर्जुनने आनर्त्त, कालकूट और कुलिंद देशों

श्चान् सहसैनिकम् ॥ ४ ॥ स तेन सहितो राजन् सव्यसाची परंतपः । विजिग्ये शाकलं द्वीपं प्रतिविन्ध्यञ्च पार्थिवम् ॥५॥ शाकलद्वीपवासाश्च सप्तद्वीपेषु ये नृपाः । अर्जुनस्य च सैन्यैस्तैर्विग्रहस्तुमुलोऽभवत् ॥ ६ ॥ स तानपि महेष्वासान् विजिग्ये भरतर्षभ । तैरेव सहितः सर्वैः प्राग्ज्योतिषमुपाद्रवत् ॥ ७ ॥ तत्र राजा महानासीद्भगदत्तो विशाम्पते । तेनासीत् सुमहद्युद्धं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ८ ॥ स किरातैश्च चीनैश्च वृतः प्राग्ज्योतिषोऽभवत् । अन्यैश्च बहुभिर्योधैः सागरानूपवासिभिः ॥ ९ ॥ ततः स दिवसानष्टौ योधयित्वा धनञ्जयम् । प्रहसन्नब्रवीद्राजा संग्रामविगतक्लमम् ॥ १० ॥ उपपन्नं महाबाहो त्वयि पाण्डवनन्दन । पाकशासनदायादे वीर्यमाहवशोभिनि ॥ ११ ॥ अहं सखा महेन्द्रस्य शक्रादनवरो रणे । न शक्ष्यामि च ते तात स्थातुं प्रमुखतो युधि

को जीतकर सेनासहित राजा सुमण्डलको जीता ॥ ४ ॥ तदनन्तर सुमण्डलको साथमें लियेहुए सव्यसाची अर्जुनने शाकलद्वीप और विंध्य पर्वतके पासके राजाओंको जीता ॥ ५ ॥ सातों द्वीपोंमेंके शाकद्वीपमें जो राजे रहते हैं उनका अर्जुनकी सेनाके साथ घोर युद्ध हुआ ॥ ६ ॥ हे राजन ! अर्जुनने उन बड़े २ बाणधारियों को भी जीतलिया और उन सबोंको साथमें लेकर प्राग्ज्योतिष देशपर चढ़ाई करी ॥ ७ ॥ हे महाराज ! वहाँ एक भगदत्त नाम वाला बड़ा राजा था उसके साथ वीर अर्जुनका घोर युद्ध होने लगा ॥ ८ ॥ उस प्राग्ज्योतिष देशके स्वामी भगदत्तके साथ किरात, चीन आदि और भी बहुतसे समुद्री टापुओंके रहनेवाले योधा थे ॥ ९ ॥ उसने आठ दिन बराबर युद्ध करके अर्जुनको घबड़ाया हुआ न देखकर हँसतेहुए कहा, कि—॥ १० ॥ हे महाबाहो ! तुम देवराज इन्द्रके अंशसे प्रकट हो युद्धमें शोभा देनेवाले तुममें ऐसा बलविक्रम होना ठीकही है ॥११॥ मेरी इन्द्रसे मित्रता है मैं भी रणभूमिमें बल पराक्रम दिखानेमें इन्द्रसे कुछ कम नहीं

॥ १२ ॥ त्वमीप्सितं पाण्डवेय ब्रूहि किं करवाणि ते । यद्वक्ष्यसि महाबाहो तत् करिष्यामि पुत्रक ॥१३॥ अर्जुन उवाच । कुरूणामृषभो राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः । धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च यज्वा विपुलदक्षिणः । तस्य पार्थिवतामीप्से करस्तस्मै प्रदीयताम् १४ भवान् पितृसखा चैव प्रीयमाणो मयापि च । ततो नाज्ञापयामि त्वां प्रीतिपूर्वं प्रदीयताम् ॥ १५ ॥ भगदत्त उवाच । कुन्तीमातर्यथा मे त्वं तथा राजा युधिष्ठिरः । सर्वमेतत् करिष्यामि किञ्चान्यत् करवाणि ते ॥ १६ ॥ छ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भगदत्तजये
षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच । एवमुक्तः प्रत्युवाच भगदत्तं धनञ्जयः । अनेनैव कृतं सर्वं भविष्यत्यनुजानता ॥ १ ॥ तं विजित्य महा-

---

हूं तथापि हे तात ! रणभूमिमें तुम्हारे सामने खड़ा नहीं होसकता ॥ १२ ॥ हे महाबाहो पाण्डुनन्दन ! अब बताओ तुम्हारी क्या इच्छा है ? मैं वही करूंगा, बेटा ! निश्चय रक्खो, कि-तुम जो कुछ कहोगे वही होगा ॥ १३ ॥ यह सुनकर अर्जुनने कहा, कि-कुरुकुलतिलक, धर्मनन्दन, सत्यप्रतिज्ञ धर्मात्मा धर्मराज बड़ीभारी दक्षिणाका यज्ञ करना चाहते हैं मैं उनका चक्रवर्त्ती होना चाहता हूं, आप उनको कर दीजिये ॥ १४ ॥ आप मेरे पिता इन्द्रदेवके मित्र हैं और मेरे ऊपर भी आपने प्रेमभाव दिखाया है, इस लिये मैं आपके ऊपर आज्ञा तो नहीं करसकता, किंतु प्रीति भावसे कर दीजिये ॥ १५ ॥ यह सुनकर भगदत्तने कहा, कि-हे कुन्तीनन्दन ! मेरे लिये जैसे तुम प्रेमपात्र हो वैसे ही राजा युधिष्ठिर हैं, इसकारण मैं ऐसा ही करूंगा, अच्छा बताओ मुझे और क्या करना होगा ? ॥ १६ ॥ षड्विंश अध्याय समाप्त ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं कि-भगदत्तके ऐसा कहने पर अर्जुनने कहा कि-हे महात्मन् ! आपने इस बातको स्वीकार करलिया, इससे ही हमारा सब काम होगया ॥ १ ॥ कुन्तीकुमार अर्जुन उस

बाहुः कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः । ययावुत्तरां तस्मादिशं धनदपालिताम् ॥ २ ॥ अन्तर्गिरिञ्च कौन्तेयस्तथैव च बहिर्गिरम् । तथैवोपगिरिञ्चैव विजिग्ये पुरुषर्षभः ॥ ३ ॥ विजित्य पार्वतान् सर्वान् ये च तत्र नराधिपाः । तान् वशे स्थापयित्वा स धनान्यादाय सर्वशः ॥ ४ ॥ तैरेव सहितः सर्वैरनुरज्य च तान्नृपान् । उलूकवासिनं राजन् बृहन्तमुपजग्मिवान् ॥ ५ ॥ मृदङ्गवरनादेन रथनेमिस्वनेन च । हस्तिनाञ्च निनादेन कम्पयन् वसुधामिमाम् ॥ ६ ॥ ततो बृहन्तस्त्वरितो बलेन चतुरङ्गिणा । निष्क्रम्य नगरात्तस्माद्योधयामास फाल्गुनम् ॥ ७ ॥ सुमहान् सन्निपातोऽभूद्धनञ्जयबृहन्तयोः । न शशाक बृहन्तस्तु सोढुं पाण्डवविक्रमम् ॥ ८ ॥ सोऽविषह्यतमं मत्वा कौन्तेयं पर्वतेश्वरः । उपावर्त्तत दुर्द्धर्षो रत्नान्यादाय सर्वशः ॥ ९ ॥ स तद्राज्यमवस्थाप्य उलूकसहितो ययौ

भगदत्तको जीतकर तहांसे कुवेरकी रक्षाकी हुई उत्तर दिशाकी ओरको गया ॥ २ ॥ तहां कुन्तीनन्दन अर्जुनने पहाड़ोंके भीतर के पहाड़ोंके बाहरके और पहाड़ोंके पासके सब स्थानों को अपने हाथमें करलिया ॥ ३ ॥ हे राजन् ! सकल पर्वत और तहां जो राजे थे उन सबोंको जीता और उन सबोंको अपने वशमें करके उनने बहुतसा धन लिया ॥ ४ ॥ उन राजाओंको प्रसन्न कर सबोंको साथमें लिये हुए मृदङ्गोंकी ध्वनि, रथोंके घरघराशब्द और हाथियोंकी चिंघाड़ने पहाड़ और भूमिको भरीहुई और कंपायमान करताहुआ उलूकवासी राजा बृहन्तके ऊपर चढ़कर गया ॥५-६ ॥ तब तो बृहन्त तुरत ही चतुरंगिणी सेनाके साथ राजधानीमेंसे निकलकर अर्जुनके साथ संग्राम करनेलगा ॥ ७ ॥ अर्जुनके साथ पर्वतराज बृहन्तका घोर संग्राम होनेलगा अन्तको बृहन्त अर्जुन के बल विक्रमको नहीं सहसका ॥ ८ ॥ तब वह कुंतीनन्दनको बड़ा असह्य समझ बहुतसा धन लियेहुए उनकी शरणमें आया ॥ ९ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर कुन्तीनन्दनने बृहन्तका राज्य बृहन्तको ही

सेनाबिंदुमथो राजानूाज्याद्राशु समाक्षिपत् ॥ १० ॥ मोदापुरं वामदेवं सुदामानं सुसंकुलम् । उलूकानुत्तरांश्चैव तांश्च राज्ञः समानयत् ॥ ११ ॥ तत्रस्थः पुरुषैरेव धर्मराजस्य शासनात् । किरीटी जितवान् राजन्देशान् पञ्चगणांस्ततः ॥ १२ ॥ स देवप्रस्थमासाद्य सेनाबिन्दोः पुरं प्रति । बलेन चतुरङ्गेण निवेशमकरोत् प्रभुः ॥ १३ ॥ स तैः परिवृतः सर्वैर्विष्वगश्वं नराधिपम् । अभ्यगच्छन्महातेजाः पौरवं पुरुषर्षभ ॥ १४ ॥ विजित्य चाहवे शूरान् पार्वतीयान्महारथान् । जिगाय सेनया राजन् पुरं पौरवरक्षितम् ॥ १५ ॥ पौरवं युधि निर्जित्य दस्यून् पर्वतवासिनः । गणानुत्सवसंकेतानजयत् सप्त पाण्डवः ॥ १६ ॥ ततः काश्मीरकान् वीरान् क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः । व्यजयल्लोहितश्चैव मण्डलैर्दशभिः सह ॥ १७ ॥ ततस्त्रिगर्तान् कौन्तेयं दार्वा.

देकर उलूकको साथमें लियेहुए सेनाबिंदुके देश पर चढ़ाई करदी और उसको गद्दीसे उतार दिया ॥ १० ॥ फिर उसने मोदापुर, वामदेव, सुदामा, सुसंकुल और उत्तर उलूक देशके अनेकों राजाओंको वशमें करा ॥ ११ ॥ अर्जुनने वहां रहकर ही धर्मराज युधिष्ठिरके अटल शासनके प्रभावसे पञ्चगण देशोंको जीता १२ फिर चतुरंगिणी सेना सहित सेनाबिंदुकी राजधानीसे चलकर और देवप्रस्थमें पहुंचकर पड़ाव डाला ॥ १३ ॥ वहांसे सेनाको साथमें लियेहुए महाप्रतापी अर्जुन वीर पौरवराज विश्वगश्वके समीप पहुंचा ॥ १४ ॥ हे राजन् ! वहां अनेकों पर्वतों तथा महारथी शूरोंको संग्राममें हराकर सेना सहित पौरवपुरी पर अधिकार करलिया ॥ १५ ॥ पांडुनन्दनने संग्राममें पौरव और पहाड़ी लुटेरोंको जीतकर सातप्रकारके उत्सवसंकेत नामक म्लेच्छ जातिके गणोंको जीता ॥ १६ ॥ फिर उसने काश्मीर देशके वीर क्षत्रियोंको और दश मण्डलों सहित राजा लोहितको जीता १७ फिर हे राजन् त्रिगर्त, दारु और कोकनद देशके सब क्षत्रिय

निर्जित्य मानसं सर उत्तमम् । ऋषिकुल्यास्तथा सर्वा ददर्श कुरुनन्दनः ॥ ४ ॥ सरो मानसमासाद्य हाटकानभितः प्रभुः । गन्धर्वरक्षितं देशमजयत् पाण्डवस्तदा ॥ ५ ॥ तत्र तित्तिरिकल्माषान् मण्डूकाख्यान्हयोत्तमान् । लेभे स करमत्यन्तं गन्धर्वनगरात्तदा ॥ ६ ॥ उत्तरं हरिवर्षन्तु स समासाद्य पाण्डवः । इयेष जेतुं तं देशं पाकशासननन्दनः ॥ ७ ॥ तत एनं महावीर्या महाकाया महाबलाः । द्वारपालाः समासाद्य हृष्टा वचनमब्रुवन् ॥ ८ ॥ पार्थ नेदं त्वया शक्यं पुरं जेतुं कथञ्चन । उपावर्तस्व कल्याण पर्याप्तमिदमच्युत ॥ ९ ॥ इदं पुरं यः प्रविशेद् ध्रुवं न स भवेन्नरः । प्रीयामहे त्वया वीर पर्याप्तो विजयस्तव ॥ १० ॥ न चात्र किञ्चिज्जेतव्यमर्जुनात्र प्रदृश्यते ।

ही जीतकर परमश्रेष्ठ मानसरोवर पर पहुँचा वहां बहुतसे ऋषियोंके सकल आश्रमोंको देखा ॥ ४ ॥ मानसरोवरके पास आकर हाटकके चारों ओर बसे हुए गंधर्वोंके रक्षा किये हुए सब देशों पर अधिकार किया ॥ ५ ॥ तदनन्तर उन सब गन्धर्वनगरों से अर्जुनने करमें तित्तिर, कल्माष और मण्डूक नामक बहुतसे घोड़े लिये ॥ ६ ॥ फिर इन्द्रकुमार अर्जुनने उत्तर हरिवर्षमें आकर उस देशको जीतना चाहा ॥ ७ ॥ तब तो बड़े २ शरीरवाले महावीर महाबली द्वारपालोंने आकर प्रसन्नचित्तसे कहा, कि-॥ ८ ॥ हे अर्जुन ! तुम इस नगरको किसी प्रकार भी नहीं जीतसकते हे महाभाग ! यही बहुत है, कि-तुम यहांसे लौटकर चले जाओ, यह नगरी पूरी २ सेना सामग्रीसे संपन्न है ॥ ९ ॥ हे वीर ! जो इस नगरीमें प्रवेश भी करलें वह साधारण मनुष्य नहीं माने जासकते, हम आपके ऊपर प्रसन्न हैं । हे वीर ! जब आप यहां घुसआये तो यही आपका विजय होगया ॥ १० ॥ हे अर्जुन ! देखो यहां कोई पदार्थ जीतने योग्य दीखता ही नहीं

उत्तराः कुरवो ■ ते नात्र युद्धं प्रवर्त्तते ॥ ११ ॥ प्रविष्टोऽपि हि कौन्तेय नेह द्रक्ष्यसि किंचन । न हि मानुषदेहेन शक्यमत्राभिवीक्षितुम् ॥ १२ ॥ अथेह पुरुषव्याघ्र किंचिदन्यच्चिकीर्षसि । तत् प्रब्रूहि करिष्यामो वचनात्तव भारत ॥ १३ ॥ ततस्तानब्रवीद्राजन्नर्जुनः प्रहसन्निव । पार्थिवत्वं चिकीर्षामि धर्मराजस्य धीमतः ॥ १४ ॥ न प्रवेक्ष्यामि वो देशं विरुद्धं यदि मानुषैः । युधिष्ठिराय यत् किंचित् करपण्यं प्रदीयताम् ॥१५॥ ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च । क्षौमाजिनानि दिव्यानि तस्य ते प्रददुः करम् ॥ १६ ॥ एवं स पुरुषव्याघ्रो निर्जित्य दिशमुत्तराम् । संग्रामान् सुबहून् कृत्वा क्षत्रियैर्दस्युभिस्तथा ॥ १७ ॥ स विनिर्जित्य राज्ञस्तान् करे च विनिवेश्य तु । धनान्यादाय सर्वेभ्यो रत्नानि विविधानि च ॥ १८ ॥ हयांस्तित्तिरिकल्माषान् शुकपत्रनिभानपि ।

इस देशका नाम उत्तरकुरु है यहां कभी युद्धका अवसर आता ही नहीं ॥ ११ ॥ आप इस नगरमें घुस आये, परन्तु स्थानके प्रभाव से कोई वस्तु भी आपको प्रत्यक्ष नहीं दीखती, क्योंकि-यहांका कोई पदार्थ मनुष्यशरीरसे दीख ही नहीं सकता ॥ १२ ॥ हे भरतकुलके वीर ! अब आप यहां कोई काम सिद्ध करना चाहें तो कहिये, आपके कहते ही हम उसको करदेंगे ॥१३॥ हे राजन् ! तब अर्जुनने हँसतेहुए उनसे कहा, कि-मैं बुद्धिमान् युधिष्ठिरके चक्रवर्तीपनेकी प्रभुताका चाहता हूं ॥ १४ ॥ यदि तुम्हारे इस देश में मनुष्योंका जाना अनुचित है तो मैं तुम्हारे नगरमें नहीं घुसूंगा परंतु तुम युधिष्ठिरके लिये कुछ कर देदो ॥ १५ ॥ तब उन द्वारपालोंने अर्जुनको दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण, दिव्य मृगचर्म और बहुमूल्य रेशमी वस्त्र यह सब पदार्थ करमें दिये ॥ १६ ॥ इसप्रकार वीर अर्जुनने उत्तरदिशाको जीतकर तथा अनेकों क्षत्रिय और लुटेरोंके साथ संग्राम करके उनको जीता और कर देना स्वीकार करने पर फिर राज्य लौटादिया तथा उन सबोंसे बहुत सा धन अनेकों रत्न तीतरोंकेसे विचित्र वर्णके, तोतेकेसे रंगके

मयूरसदृशानन्याम् सर्वाननिलरंहसः ॥ १९ ॥ ततः सुमहता राजन् बलेन चतुरङ्गिणा । आजगाम पुनर्वीरः शक्रप्रस्थं पुरोत्तमम् ॥ २० ॥ धर्मराजाय तत् पार्थो धनं सर्वं सवाहनम् । न्यवेदयदनुज्ञातस्तेन राज्ञा गृहान् ययौ ॥ २१ ॥ ॥

इति सभापर्वणि दिग्विजयपर्वण्यर्जुनोत्तरदिग्विजयेऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच । एतस्मिन्नेव काले तु भीमसेनोऽपि वीर्यवान् । धर्मराजमनुज्ञाप्य ययौ प्राचीं दिशं प्रति ॥ १ ॥ महता बलचक्रेण परराष्ट्रावमर्दिना । हस्त्यश्वरथपूर्णेन दंशितेन प्रतापवान् ॥२॥ वृतो भरतशार्दूलो द्विषच्छोकविवर्द्धनः । स गत्वा नरशार्दूलः पञ्चालानां पुरं महत् ॥ ३ ॥ पञ्चालान्विविधोपायैः सान्त्वयामास पाण्डवः । ततः स गण्डकान् शूरो विदेहान् भरतर्षभ ॥४॥ विजित्याल्पेन कालेन दशार्णानजयत् प्रभुः । तत्र दाशार्णको

और मोरकी समान विविध वर्णके वायुकी समान वेगगामी घोड़ों को लिया ॥ १७–१९ ॥ हे राजन् ! फिर बड़ीभारी चतुरङ्गिणी सेनाको साथ लियेहुए अपनी राजधानी इन्द्रप्रस्थमें आपहुंचे २० और वाहनों सहित वह सब धन धर्मराजको देकर उनकी आज्ञा से अपने महलमें चलेगये ॥ २१ ॥ अट्ठाईस अध्याय समाप्त २८

वैशम्पायन कहते हैं, कि–हे राजन् ! उसी अवसरमें प्रतापी वीर भीमसेन भी युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर हाथी घोड़ोंसे भरी हुई शत्रुके राज्यको कुचल डालने वाली बहुतसी सेनाको साथमें लियेहुए पूर्वदिशाको चलदिया ॥ १–२ ॥ और शत्रुकुलके शोक को बढ़ानेवाला वह भरतकुलकेसरी शीघ्र ही पाञ्चाल देशकी बड़ी भारी राजधानीमें पहुंचगया ॥ ३ ॥ और भीमसेनने अनेकों उपायोंसे पाञ्चालवासियोंको अपने वशमें किया, फिर वह भरतवंशी शूर गण्डकी और विदेह देशमें जापहुंचा ॥ ४ ॥ उनको जीत कर भीमसेनने थोड़े ही समयमें दशार्ण देशको जीतलिया, उस

राजा सुधर्मा लोमहर्षणम् ॥ ५ ॥ कृतवान् भीमसेनेन महद्युद्धं निरायुधम् । भीमसेनस्तु तद् दृष्ट्वा तस्य कर्म महात्मनः ॥ ६ ॥ अधिसेनापतिं चक्रे सुधर्माणं महाबलम् । ततः प्राचीं दिशं भीमो ययौ भीमपराक्रमः ॥ ७ ॥ सैन्येन महता राजन् कम्पयन्निव मेदिनीम् । सोऽश्वमेधेश्वरं राजन् रोचमानं सहानुगम् ॥ ८ ॥ जिगाय समरे वीरो बलेन बलिनाम्वरः । स तं निर्जित्य कौन्तेयो नातितीव्रेण कर्मणा ॥ ९ ॥ पूर्वदेशं महावीर्यो विजिग्ये कुरुनन्दनः । ततो दक्षिणमागम्य पुलिन्दनगरं महत् ॥ १० ॥ सुकुमारं वशे चक्रे सुमित्रञ्च नराधिपम् । ततस्तु धर्मराजस्य शासनाद्भरतर्षभः । शिशुपालं महावीर्यमभ्ययाज्जनमेजय ॥ ११ ॥ चेदिराजोऽपि तच्छ्रुत्वा पाण्डवस्य चिकीर्षितम् । उपनिष्क्रम्य नगरात् प्रत्यगृह्णात् परन्तप ॥ १२ ॥ तौ समेत्य महाराज कुरु-

दशार्ण देशके राजा सुधर्माने भीमसेनके साथ विना शस्त्रके ही घोर बाहुयुद्ध किया, उस महाबली राजाके इस विचित्र भुजबल के पराक्रमकी परीक्षा करके भीमसेनने उसको अपने सेनापतिका पद देदिया और फिर वह भीमपराक्रमी भीमसेन पूर्वदिशामें और आगेको चलदिया ॥ ५-७ ॥ हे राजन् ! उस बलवानोंमें श्रेष्ठ वीरने बड़ी भारी सेनासे भूमण्डलको कम्पायमान करते हुए अश्वमेध देशके राजा रोचमानको सहायकों सहित संग्राममें जीता और उसको जीतकर महाबली भीमने थोड़ेसे पराक्रमसे ही सब पूर्वदेशको जीतलिया फिर दक्षिण दिशाको चलदिया तहां बड़े भारी पुलिन्दनगरमें आकर ॥ ८-१० ॥ सुकुमार और सुमित्र नामक राजाको वशमें किया हे जनमेजय ! तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञाके अनुसार भीमसेन महाबली शिशुपालके पास पहुँचा ॥ ११ ॥ चेदिदेशका स्वामी शिशुपाल भीमसेनकी अभिलाषाको अच्छे प्रकार समझकर अपने नगरसे बाहर चला आया और भीमसेनसे मिला ॥ १२ ॥ हे महाराज ! उन कुरुकुल और

चेदिनृपौ तदा । उभयोरात्मकुलयोः कौशल्यं पर्य्यपृच्छताम् ॥१३॥
ततो निवेद्य तद्राष्ट्रं चेदिराजो विशाम्पते । उवाच भीमं प्रहसन्
किमिदं कुरुषेऽनघ ॥ १४ ॥ तस्य भीमस्तदाचख्यौ धर्मराज-
चिकीर्षितम् । स च तं प्रतिगृह्यैव तथा चक्रे नराधिपः ॥१५॥ ततो
भीमस्तत्र राजन्नुषित्वा त्रिदशाः क्षपाः । सत्कृतः शिशुपालेन
ययौ सबलवाहनः ॥ १६ ॥ छ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भीमदिग्विजये
एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततः कुमारविषये श्रेणिमन्तमथाजयत् ।
कोशलाधिपतिं चैव बृहद्बलमरिन्दमः ॥ १ ॥ अयोध्यायान्तु
धर्मज्ञं दीर्घयज्ञं महाबलम् । अजयत् पाण्डवश्रेष्ठो नातितीव्रेण
कर्मणा ॥ २ ॥ ततो गोपालकक्षं च सोत्तरानपि कोसलान् ।

चेदिवंशके दोनों वीरोंने परस्पर मिलकर अपने अपने संबंधियों की कुशल पूछी ॥ १३॥ तदनन्तर हे महाराज ! शिशुपालने अपने राज्यकी दशा सुनाकर हँसतेहुए भीमसेनसे कहा, कि-हे महाबाहो ! अब तुम किस कामको सिद्ध कररहे हो ॥ १४ ॥ तब भीमसेनने कहा, कि-मैं धर्मराजकी आज्ञासे दिग्विजयके लिये निकला हूं और राजाओंसे करलेता फिरता हूं यह सुनते ही शिशुपालने स्वीकार करके कर देदिया ॥१५॥ हे राजन् ! भीमसेन वहाँ तीस दिन ठहरे और शिशुपालसे आदर सत्कार पा कर सेनासहित वहाँ से चलदिये ॥ १६ ॥ एकोनत्रिंश अध्याय समाप्त ॥ २९ ॥ छ ॥ छ ॥ छ

वैशंपायनजीने कहा, कि-हे जनमेजय ! तदनन्तर शत्रुनाशी भीमसेनने कुमार देशमें राजा श्रेणिमान् और कोशलदेशके स्वामी बृहद्बलसे जीता ॥ १ ॥ फिर अयोध्यामें जाकर कोमल पराक्रम से धर्मात्मा महाबली दीर्घयज्ञको जीता ॥ २ ॥ फिर गोपालकक्ष,

मल्लानामधिपं चैव पार्थिवश्चाजयत् प्रभुः ॥ ३ ॥ ततो हिमवतः पार्श्वं समभ्येत्य जलोद्भवम् । सर्वमल्पेन कालेन देशं चक्रे वशं बली ॥ ४ ॥ एवं बहुविधान् देशान्विजिग्ये भरतर्षभ । भल्लाट-मभितो जिग्ये शुक्तिमन्तं च पर्वतम् ॥ ५ ॥ पाण्डवः स महावीर्यो बलेन बलिनां वरः । स काशिराजं समरे सुबाहुमनिवर्तिनम् ॥ ६ ॥ वशे चक्रे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः । ततः सुपार्श्वमभितस्तथा राजपतिं क्रथम् ॥ ७ ॥ युध्यमानं बलात्संख्ये विजिग्ये पाण्डव-र्षभः । ततो मत्स्यान्महातेजा मलदांश्च महाबलान् ॥ ८ ॥ अनघा-नभयांश्चैव पशुभूमिश्च सर्वशः । निवृत्य च महाबाहुर्मदधारं महीधरम् ॥ ९ ॥ सोमधेयांश्च निर्जित्य प्रययावुत्तरामुखः । वत्स-भूमिं च कौन्तेयो विजिग्ये बलवान् बलात् ॥ १० ॥ भर्गाणामधिपं चैव निषादाधिपतिं तथा । विजिग्ये भूमिपालांश्च मणिमत्प्रमुखान् बहून् ॥ ११ ॥ ततो दक्षिणमल्लांश्च भोगवन्तं च पर्वतम् ।

उत्तरकोशल देश और मल्लपुरीको जीता ॥ ३ ॥ फिर बलवान भीमने हिमालयके पास जलोत्पन्न देशमें पहुंचकर थोड़े ही समय में सब देशको अपने वशमें कर लिया ॥ ४ ॥ हे महाराज ! इस प्रकार भीमसेनने बहुतसे देशोंको जीतलिया फिर भल्लाट और शुक्तिमान् पर्वतको सब ओरसे वशमें करलिया ॥५॥ बलवानों में श्रेष्ठ महावीर भीमसेनने अपने भुजबलसे रणमें काशिराज और सुबाहुको जीता ॥ ६ ॥ फिर महापराक्रमी महाबाहु भीमने सुपार्श्व और रणमें युद्ध करते हुए राजपति क्रथको बलपूर्वक जीता फिर उस महातेजस्वीने मत्स्य महाबली मलद ॥ ७ ॥ ८ ॥ अनघ, अभय और सकल पशुभूमिको जीता, फिर तहांसे लौटकर मदधार पर्वत और सामधेयोंको जीतकर उत्तरकी ओरको चलदिया उस उत्तर देशमें पहुचकर महाबली भीमने अपने बलसे वत्सभूमिको जीत लिया ॥१०॥ फिर भर्गदेशके राजा और निषाद देशके राजा तथा मणिमान् आदि बहुतसे राजाओंका पराजय किया ॥ ११ ॥

तरसैवाजयच्छीघो नातितीव्रेण कर्मणा ॥ १२ ॥ शर्मकान् वर्मकांश्चैव व्यजयत् सान्त्वपूर्वकम् । स वैदेहं न राजानं जनकं जगतीपतिम् ॥ १३ ॥ विजिग्ये पुरुषव्याघ्रो नातितीव्रेण कर्मणा शकांश्च बर्बरांश्चैव अजयच्छद्मपूर्वकम् ॥१४॥ वैदेहस्थस्तु कौन्तेय इन्द्रपर्वतमन्तिकात् । किरातानामधिपतीनजयत्सप्त पाण्डवः॥१५ततः सुह्मान् प्रसुह्मांश्च सपक्षानपि वीर्य्यवान् । विजित्य युधि कौन्तेयो मागधानभ्यधाद्बली ॥ १६ ॥ दंडं च दंडधारं च विजित्य पृथिवीपतीन् । तैरेव सहितः सर्वैर्गिरिव्रजमुपाद्रवत् ॥ १७ ॥ जारासंधिं सान्त्वयित्वा करे च विनिवेश्य ह । तैरेव सहितः सर्वैः कर्णमभ्यद्रवद्बली ॥ १८ ॥ स कम्पयन्निव महीं बलेन चतुरङ्गिणा । युयुधे पांडवश्रेष्ठः कर्णेनामित्रघातिना ॥ १९ ॥ स कर्णं युधि निर्जित्य वशे कृत्वा च भारत । ततो विजिग्ये बलवान् राज्ञः पर्वतवासिनः

फिर भीमने दक्षिणमल्ल देश और भोगवन्त पर्वतको अपनी दृढ़ता से सहजमें ही जीत लिया ॥ १२ ॥ फिर सामनीतिसे शर्मक वर्मक राजाओंको जीतकर राजा वैदेहक और भूमिपति जनक को साधारण पराक्रमसे जीत लिया और शक तथा बर्बरोंको कपटनीतिसे अपने वशमें किया ॥ १३ ॥ १४ ॥ फिर कुन्तीनंदन भीमसेनने इन्द्राचलके समीप विदेह देशमें ठहरकर ही किरातों के सात राजाओंको अपने वशमें किया ॥ १५ ॥ बली भीमसेन ने फिर अपने पक्षमें होनेपर भी सुह्म और प्रसुह्मों को युद्धमें जीत कर मगध देशपर चढ़ाई करी ॥ १६ ॥ तहां दण्ड, दण्डधार तथा और बहुतसे राजाओंको वशमें करके उनके ही साथ गिरिव्रज को चलदिये ॥ १७ ॥ तहां जरासन्धके पुत्र सहदेवको समझाकर और कर लेकर उसको साथमें लिये हुए कर्णके ऊपर धावा कर दिया ॥ १८ ॥ उस वीर पाण्डवने चतुरङ्गिणी सेनाके द्वारा मानों भूमिको कंपायमान करते हुए शत्रुघाती कर्णके साथ युद्ध किया ॥ १९ ॥ हे भारत ! उसने युद्धमें कर्णको जीतकर और वशमें

॥ २० ॥ अथ मोदागिरौ चैव राजान बलवत्तरम् । पांडवो बाहुवीर्येण निजघान महामृधे ॥ २१ ॥ ततः पुंड्राधिपं वीरं वासुदेवं महाबलम् ।। कौशिकीकच्छनिलयं राजानञ्च महौजसम् ॥२२॥ उभौ बलभृतौ वीरावुभौ तीव्रपराक्रमौ । निर्जित्याजौ महाराज वङ्गराजमुपाद्रवत् ॥ २३ ॥ समुद्रसेनं निर्जित्य चन्द्रसेनञ्च पार्थिवम् । ताम्रलिप्तञ्च राजानं कर्वटाधिपतिं तथा ॥ २४ ॥ सुह्मानामधिपञ्चैव ये च सागरवासिनः । सर्वान् म्लेच्छगणांश्चैव विजिग्ये भरतर्षभः ॥२५॥ एवं बहुविधान् देशान् विजित्य पवनात्मजः । वसु तेभ्य उपादाय लौहित्यमगमद्बली ॥२६॥ स सर्वान् म्लेच्छनृपतीन् सागरानूपवासिनः । करमाहारयामास रत्नानि विविधानि च ॥२७॥ चन्दनागुरुवस्त्राणि मणिमौक्तिककम्बलम् । काञ्चनं राजतञ्चैव विद्रुमञ्च महाधनम् ॥२८॥ ते कोटीशतसंख्येन कौन्तेयं महता तदा । अभ्यवर्षन्महात्मानं धनवर्षेण पाण्डवम्

करके फिर पर्वतवासी राजाओंको जीता ॥ २० ॥ फिर भीमसेन ने मोदाचल पर जा अपने बाहुबलसे बड़ाभारी संग्राम करके वहां के महाबली राजाका संहार किया ॥ २१ ॥ फिर महाबल महावीर पुण्ड्राधिपति वासुदेव और कौशिक नदीके टापूमें रहनेवाला महातेजस्वी राजा ॥ २२ ॥ यह दोनों, वीर और तीव्र पराक्रमी थे हे महाराज ! इनको संग्राममें जीतकर बङ्गदेशके राजाके ऊपर चढ़ाई करी ॥ २३ ॥ राजा समुद्रसेन चन्द्रसेन और कर्वट देशके स्वामी राजा ताम्रलिप्तको जीतकर ॥ २४ ॥ हे महाराज! भीमसेनने सुह्म देशके राजाओंको और महासागरके तटपर रहनेवाले सकल म्लेच्छ राजाओंको जीता ॥ २५ ॥ पवननन्दन बली भीमसेन इसप्रकार बहुतसे देशोंको जीतकर और उनसे धन लेकर लौहित्यके पास आये ॥ २६ ॥ तहां सागरके तट और टापुओंमें रहनेवाले सकल म्लेच्छ राजे अनेकों प्रकारके रत्न, चदन, अगर, वस्त्र, मणियें, मोती कम्बल, सोना चांदी और मूंगे आदि सैंकड़ों करोड़ोंका धन लेकर भीमसेनको करदेने आये उन्होंने महाबली भीमसेनके ऊपर

॥ २९ ॥ इन्द्रप्रस्थमुपागम्य भीमो भीमपराक्रमः । निवेदयामास तदा धर्मराजाय तद्धनम् ॥३०॥ ॐ ॥ ॐ ॥

इति सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भीमदिग्विजये त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

वैशंपायन उवाच । तथैव सहदेवोऽपि धर्मराजेन पूजितः । महत्या सेनया राजन् प्रययौ दक्षिणां दिशम् ॥ १ ॥ स शूरसेनान्कात्स्न्र्येन पूर्वमेवाजयत् प्रभुः । मत्स्यराजश्च कौरव्यो वशे चक्रे बलाद्बली ॥ २ ॥ अधिराजाधिपं चैव दन्तवक्त्रं महाबलम् । जिगाय करदं चैव कृत्वा राज्ये न्यवेशयत् ॥३॥ सुकुमारं वशे चक्रे सुमित्रं च नराधिपम् । तथैवापरमत्स्यांश्च व्यजयत् सपटच्चरान् ॥ ४ ॥ निषादभूमिं गोशृङ्गं पर्वतप्रवरं तथा । तरसैवाजयद्धीमान् श्रेणिमन्तं च पार्थिवम् ॥५॥ नवराष्ट्रं च निर्जित्य कुन्तिभोजमुपाद्रवत् ।।प्रीतिपूर्वं च तस्यासौ प्रतिजग्राह शासनम् ॥६॥

मानो धनकी वर्षा करदी ॥ २० ॥ २९ ॥ घोर पराक्रमी भीमसेन उस सब धनको लेकर इन्द्रप्रस्थको चलेआये और वह धन धर्मराजको अर्पण करदिया ॥ ३० ॥ त्रिंश अध्याय समाप्त ३०

वैशम्पायनजीने कहा कि-हे महाराज ! तिसीप्रकार सत्कारपूर्वक धर्मराजके भेजेहुए सहदेव भी बहुतसी सेनाको साथमें ले कर दक्षिण दिशाको गए ॥ १ ॥ उस कुरुवंशी सहदेवने पहिले मथुरा नगरीको पूर्णरूपसे जीता और फिर मत्स्यदेशके राजा को अपने बलसे वशमें किया ॥ २ ॥ तदनन्तर अधिराजके स्वामी महाबली दन्तवक्त्रको जीता और उसको कर देनेवाला करके राज्य पर स्थापित करदिया ॥ ३ ॥ तदनन्तर सुकुमार और राजा सुमित्रको वशमें करके दूसरे मत्स्य तथा पटच्चरोंको जीता ॥४॥ बुद्धिमान् सहदेवने निषादभूमि गोशृंग पर्वत और श्रेणिमान् राजाको बलात्कारसे वशमें किया ॥ ५ ॥ फिर नवराष्ट्रको जीत कर कुंतिभोजके ऊपर चढ़ाई करी कुंतिभोजने प्रसन्नताके साथ

ततश्चर्मण्वतीकूले जम्भकस्यात्मजं नृपम्। ददर्श वासुदेवेन शेषितं पूर्ववैरिणा ॥ ७ ॥ चक्रे तेन स संग्रामं सहदेवेन भारत। स तमाजौ विनिर्जित्य दक्षिणाभिमुखो ययौ ॥ ८ ॥ सेकानपरसेकांश्च व्यजयत् सुमहाबलः। करं तेभ्य उपादाय रत्नानि विविधानि च ॥ ९ ॥ ततस्तेनैव सहितो नर्मदामभितो ययौ। विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सैन्येन महता वृतौ ॥ १० ॥ जिगाय समरे वीरावाश्विनेयः प्रतापवान्। ततो रत्नान्युपादाय पुरं भोजकटं ययौ ॥ ११ ॥ तत्र युद्धमभूद्राजन् दिवसद्वयमच्युतं। स विजित्य दुराधर्षं भीष्मकं माद्रिनन्दनः ॥ १२ ॥ कोसलाधिपतिं चैव तथा वेण्वातटाधिपम्। कान्तारकांश्च समरे तथा प्राक्कोटकान्नृपान् १३ नाटकेयांश्च समरे तथा हेरम्बकान्युधि। मारुधं च विनिर्जित्य रम्यग्राममथो बलात् ॥ १४ ॥ प्राचीनानर्बुकांश्चैव राजानश्च महा-

---

सहदेवकी आज्ञाको स्वीकार कर लिया ॥ ६ ॥ फिर चर्मण्वती नदीके तटपर वासुदेवसे जीतकर छोड़ेहुए पुराने वरी राजा जंभक कुमारको देखा ॥ ७ ॥ हे महाराज! उसने सहदेवके साथ संग्राम किया सहदेव संग्राममें उसको जीतकर दक्षिणकी ओरको चलेगए ॥ ८ ॥ तहां सेक और अपरसेकोंने सहदेवसे हार मानी सहदेव उनसे कर तथा अनेकों प्रकारके रत्न लेकर ॥ ९ ॥ उन को साथमें लियेहुए नर्मदा नदीकी ओरको चलेगये तहां बड़ी भारी सेनावाले अवन्तिदेशी महावीर विंद और अनुविंदको युद्ध में जीता और प्रतापी सहदेव उनसे अनेकों प्रकारके रत्न ले भोजकट नगरको गये ॥ १० ॥ ११ ॥ हे महाराज! तहां दो दिन तक बराबर युद्ध होता रहा अन्तमें सहदेवने किसी से न दबने वाले भीष्मकको जीतकर ॥ १२ ॥ कोशल देशके राजाको वेण्वानदीके किनारेके राजाको आरण्यक और अयोध्याके पूर्वी भागके स्वामीको संग्राममें जीता ॥ १३ ॥ फिर नाटकेय और हेरम्बकोंको युद्धमें जीतकर मारुध और मुंज ग्रामको बलात्कार से अपने वशमें किया ॥ १४ ॥ फिर महाबली सहदेवने प्राचीन

बलः। तांस्तानाटविकान् सर्वानजयत् पाण्डुनन्दनः ॥ १५ ॥
वाताधिपं च नृपतिं वशे चक्रे महाबलः। पुलिन्दांश्च रणे जित्वा
ययौ दक्षिणतः पुरः ॥ १६ ॥ युयुधे पाण्ड्यराजेन दिवसं नकुलानुजः।
तं जित्वा स महाबाहुः प्रययौ दक्षिणापथम् ॥ १७ ॥
गुहामासादयामास किष्किन्धां लोकविश्रुताम्। तत्र वानरराजाभ्यां
मैन्देन द्विविदेन च। युयुधे दिवसान् सप्त न च तौ विकृतिं गतौ
॥ १८ ॥ ततस्तुष्टौ महात्मानौ सहदेवाय वानरौ। ऊचतुश्चैव
संहृष्टौ प्रीतिपूर्वमिदं वचः ॥ १९ ॥ गच्छ पाण्डवशार्दूल रत्नान्यादाय
सर्वशः। अविघ्नमस्तु कार्याय धर्मराजाय धीमते ॥२०॥
ततो रत्नान्युपादाय पुरीं माहिष्मतीं ययौ। तत्र नीलेन राज्ञा स
चक्रे युद्धं नरर्षभः ॥ २१ ॥ पाण्डवः परवीरघ्नः सहदेवः प्रतापवान्।
ततोऽस्य सुमहद्युद्धमासीद्भीरुभयङ्करम् ॥ २२ ॥ सैन्यक्षय-

अर्बुद और उन सकल वनके राजाओंको जीता ॥ १५ ॥ उस महाबलीने वातराजको हाथमें करके पुलिंदोंको युद्धमें जीतलिया और फिर दक्षिणदिशाकी ओर आगेको चलदिया ॥१६॥ पाण्ड्यराजके साथ महाबाहु सहदेवका एकदिन युद्ध हुआ और उसको जीतकर दक्षिणकी ओरको चलदिए ॥ १७ ॥ तदनन्तर त्रिलोकी में प्रसिद्ध किष्किंधा नामवाली गुफामें पहुँचगए, तहां वानरराज मैन्द और द्विविदके साथ सात दिनतक युद्ध किया, परन्तु वह जराभी नहीं घबड़ाए ॥१८॥ उस समय उन दोनों महात्मा वानरों ने प्रसन्न होकर सहदेवसे प्रीतिके साथ यह बात कही कि— ॥ १९ ॥ हे पाण्डव वीर ! तुम हमसे बहुतसे रत्न लेकर यहां से चलेजाओ तुमने बुद्धिमान् धर्मराजके लिए जिस कामके करने का उद्योग किया है तुम्हारा वह मनोरथ सिद्ध हो ॥ २० ॥ तहां से रत्न लेकर माहिष्मती नगरीमें गए और तहां सहदेवने महाराज नीलके साथ युद्ध किया ॥ २१ ॥ उन वीर शत्रुओंका वध करने वाले प्रतापी पाण्डुकुमार सहदेवका बड़ाभारी युद्ध डरपोकोंसे

करं चैर प्राणानां सशयावहम् । चक्रे तस्य हि साहाय्यं भगवान्हव्यवाहनः ॥ २३ ॥ ततो रथा हया नागाः पुरुषाः कवचानि च । प्रदीप्तानि व्यदृश्यन्त सहदेवबले तदा ॥ २४ ॥ ततः स सम्भ्रान्तमना बभूवकुरुनन्दनः । नोत्तरं प्रतिवक्तुं च शक्तोऽभूज्जनमेजय ॥२५॥ जनमेजय उवाच । किमर्थं भगवान् वह्निः प्रत्यमित्रोऽभवद्युधि । सहदेवस्य यज्ञार्थं घटमानस्य वै द्विज ॥ २६ ॥ वैशम्पायन उवाच । तत्र माहिष्मतीवासी भगवान् हव्यवाहनः श्रूयते हि गृहीतो वै पुरस्तात् पारदारिकः ॥ २७ ॥ नीलस्य राज्ञो दुहिता बभूवातीव शोभना । साग्निहोत्रमुपातिष्ठद्बोधनाय पितुः सदा ॥ २८ ॥ व्यजनैर्धूयमानोऽपि तावत् प्रज्वलते न सः । यावच्चारुपुटौष्ठेन वायुना न विधूयते ॥ २९ ॥ ततः स भगवान-

भयदायक हुआ ॥ २२ ॥ उसमें बहुतसी सेना मारी गई और शेष लोग अपने २ प्राणोंको सङ्कटमें समझने लगे उस समय भगवान् अग्निदेवने राजा नीलकी सहायता करी ॥ २३ ॥ उस समय सहदेवकी सेनामें घोड़े, रथ हाथी, पुरुष और कवच सबही जलते हुए से दीखने लगे ॥ २४ ॥ हे जनमेजय ! यह दशा देखकर सहदेव मनमें बहुत ही घबड़ाये और मुखसे भी कुछ नहीं कहसके ॥ २५ ॥ यह सुनकर जनमेजयने कहा, कि-हे ऋषे ! सहदेव राजा युधिष्ठिरके लिये यज्ञका उद्योग कररहे थे अग्नि भगवान्ने संग्राममें उनकी प्रतिकूलता क्यों करी ॥ २६ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-हे राजन् ! ऐसा कहते हैं, कि-पहिले माहिष्मती-निवासी भगवान् अग्निदेव परस्त्रीलम्पट माने जाते थे ॥ २७ ॥ राजा नीलकी एक सर्वाङ्गसुन्दरी कन्या थी, वह सदा अग्नि-होत्र के समय अग्निको प्रज्वलित करनेके लिये पिताके पास बैठा करती थी ॥ २८ ॥ क्योंकि-वह अग्नि इस राजकुमारीके रम-णीय ओठोंसे निकले हुए वायुके विना कितने ही पंखे झलने पर भी प्रज्वलित नहीं होता था ॥ २९ ॥ तदनन्तर अग्नि उस राजा

गिश्चकमे तां सुदर्शनाम् । नीलस्य राज्ञः सर्वेषाङ्घपनीतश्च सोऽभवत् ॥ ३० ॥ ततो ब्राह्मणरूपेण रममाणो यदृच्छया । चकमे तां वरारोहां कन्यामुत्पललोचनाम् ॥ ३१ ॥ तन्तु राजा यथाशास्त्रमशासद्धार्मिकस्तदा । प्रजज्वाल ततः कोपाद्भगवान् हव्यवाहनः ३१ तं दृष्ट्वा विस्मितो राजा जगाम शिरसावनिम् । ततः कालेन, तां कन्यां तथैव हि तदा नृपः ॥ ३३ ॥ प्रददौ, विप्ररूपाय वह्नये शिरसा नतः । प्रतिगृह्य च तां सुभ्रूं नीलराजः सुतां तदा ॥३४॥ चक्रे प्रसादं भगवांस्तस्य राज्ञो विभावसुः । वरेणाच्छादयामास तं नृपं स्विष्टकृत्तमः ॥ ३५ ॥ अभयं च स जग्राह स्वसैन्ये वै महीपतिः । ततः प्रभृति ये केचिदज्ञानात्तां पुरीं नृपाः ॥३६॥ जिगीषन्ति बलाद्राजंस्ते दह्यन्ते स्म वह्निना । तस्यां पुर्यां तदा चैव माहिष्मत्यां कुरूद्वह ॥ ३७ ॥ बभूवुरनतिग्राह्या योषितश्छन्दतः

नीलकी कन्या पर आसक्त हो ब्राह्मणका रूप धारण करके उस कमलदलनयना सुन्दरी कन्याके साथ अपनी इच्छानुसार विहार करनेलगा और राजाका अनादर कर सबके ही घरोंमें आनेजाने लगा ॥ ३०–३१ ॥ धर्मात्मा राजाने इस बातको जानकर शास्त्रके अनुसार दण्ड देनेकी आज्ञा दी, तब तो भगवान् अग्नि भी क्रोधसे अधीर होउठे ॥ ३२ ॥ राजा इस अद्भुत दशाको देखकर अचरज में होगया और ब्राह्मणरूपधारी अग्निके सामने शिर झुकाकर प्रणामकरने लगा, तब अग्निदेवके शांत होने पर राजाने शुभदिन और शुभलग्नमें वह कन्या ब्राह्मणरूपधारी अग्निदेवको प्रणाम करके देदी, अग्निदेव नील राजाकी कन्याको ग्रहण करके प्रसन्न हो उस राजासे कहनेलगे, कि–हे महाराज! वर मांगो ३३–३४ तब राजाने अपना और अपनी सेनाका निर्भयपना मांगा हे जनमेजय! तबसे इस वृत्तांतको न जानकर जो राजे माहिष्मती नगरीको जीतना चाहते हैं, भगवान् अग्निदेव उनको जलाया करते हैं और हे राजन्! तबसे ही इस माहिष्मती नगरीमें कोई भी स्त्रियोंको अपनी

किल। एवमग्निर्वरं प्रादात् स्त्रीणामप्रतिवारणे ॥ ३८ ॥ स्वैरिण्य-स्तत्र नार्यो हि यथेष्टं विचरन्त्युत । वर्जयन्ति च राजानस्तत्पुरं भरतर्षभ ॥ ३९॥ भयादग्नेर्महाराज तदा प्रभृति सर्वदा। सहदेव-स्तु धर्मात्मा सैन्यं दृष्ट्वा भयार्दितम् ॥ ४० ॥ परीतमग्निना राज न्नाकम्पत यथाचलः। उपस्पृश्य शुचिर्भूत्वा सोऽब्रवीत्पावकं ततः ॥ ४१ ॥ सहदेव उवाच ॥ त्वदर्थोऽयं समारम्भः कृष्णवर्त्मन्नमोऽस्तु ते । मुखं त्वमसि देवानां यज्ञस्त्वमसि पावकः ॥४२ ॥ पावनात्पावकश्चासि वहनाद्धव्यवाहनः। वेदास्त्वदर्थं जाता वै जातवेदास्ततो ह्यसि ॥ ४३ ॥ चित्रभानुः सुरेशश्च अनलस्त्वं विभावसो।

इच्छानुसार नहीं रोकसकता, अग्निने वहांकी स्त्रियोंको वर देदिया है, कि—तुमको कोई रोक नहीं सकेगा ॥ ३६—३८ ॥ इस कारण तबसे वहांकी स्त्रियें स्वैरणी होकर अपनी इच्छाके अनुसार विचरती हैं, यह दशा देखकर और अग्निसे भयभीत होकर राजे माहिष्मती नगरीको त्यागने लगे इसप्रकार पहिली कथा सुनाकर वैशम्पायनने कहा, कि—हे महाराज जनमेजय! सहदेव अपनी सेना को अग्निसे घिरीहुई और भयसे घबड़ाई हुई देखकर भी आप नहीं घबड़ाए भौपरकेसे पर्वतकी समान एकजगह खड़े रहे और कुछ देरमें स्नान आचमन कर इसप्रकार अग्निदेवकी स्तुति करने लगे ॥ ३९—४१ ॥ सहदेवने कहा, कि—हे अग्निदेव! यह दिग्विजय आदिका उद्योग आपका ही लिये है, हे अग्ने! मैं आपको प्रणाम करता हूं, हे पावक! आप ही देवताओंके मुखरूप और आप ही यज्ञस्वरूप हैं ॥ ४२ ॥ जगत्को पवित्र करते हो इसकारण आपका नाम पावक है आप होमाहुआ पदार्थ देवताओं के पास पहुंचाते हो इसकारण आपका नाम हव्यवाहन और वेद-आपके निमित्त प्रकट हुए हैं, इसकारण सब लोग आपको जात-वेदा कहते हैं ॥ ४३ ॥ हे विभावसो! आप ही चित्रभानु सुरेश

स्वर्गद्वारस्पृशश्चासि हुताशो ज्वलनः शिखी ॥ ४४ ॥ वैश्वानरस्त्वं पिंगेशः प्लवङ्गो भूरितेजसः । कुमारसूस्त्वं भगवान्रुद्रगर्भो हिरण्यकृत् ॥ ४५ ॥ अग्निर्ददातु मे तेजो वायुः प्राणं ददातु मे । पृथिवी बलमादध्याच्छिवं चापो दिशन्तु मे ॥ ४६ ॥ अपां गर्भ महासत्त्व जातवेदः सुरेश्वर । देवानां मुखमग्ने त्वं सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४७ ॥ ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव दैवतैरसुरैरपि । नित्यं सुहुत यज्ञेषु सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४८ ॥ धूमकेतुः शिखी च त्वं पापहानिलसंभवः । सर्वप्राणिषु नित्यस्थः सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४९ ॥ एवं स्तुतोऽसि भगवन् प्रीतेन शुचिना मया । तुष्टिं पुष्टिं श्रुतिं चैव प्रीतिं चाग्ने प्रयच्छ मे ॥ ५० ॥ वैशम्पायन उवाच ॥ इत्येवं मन्त्रमाग्नेयं पठन्यो जुहुयाद्विभुम् । ऋद्धिमान् सततं दान्तः

और अनल हैं आप ही स्वर्गद्वारको स्पर्श करने वाले हुताशन, ज्वलन और शिखी हैं ॥ ४४ ॥ आप ही वैश्वानर, पिङ्गेश और प्लवङ्ग और सकल तेजोंके निधि, स्वामिकार्तिकेयको उत्पन्न करने वाले हैं तथा आप ही भगवान् रुद्रगर्भ और हिरण्यकृत् हैं ४५ हे अग्निदेव ! आप मुझे तेज दीजिये, हे वायो ! आप मुझे प्राण दें, पृथिवी मुझे बल देय और जल मुझे कल्याण दें ४६ हे अग्निदेव ! आप जलसे उत्पन्न हुए हैं, हे महाबल जातवेद ! तुम सब देवताओंमें श्रेष्ठ और देवताओंके मुखरूप हो आप इस समय मुझे पवित्र करिये ४७ ऋषि, ब्राह्मण, देव और असुर यह सब यज्ञोंमें सुंदर आहुतियें देते हैं तब आप तहां विद्यमान होते हैं, इस समय सत्यके द्वारा मुझे पवित्र करिये ॥ ४८ ॥ तुम धूमकेतु, शिखी, पापोंके नाशक वायुसे प्रज्वलित होनेवाले और सदा सब प्राणियोंमें स्थित रहते हो इस समय सत्यके द्वारा मुझे पवित्र करो ॥ ४९ ॥ हे भगवन् ! मैंने पवित्र होकर प्रेमके साथ आपकी स्तुति करी है, इस कारण हे अग्ने ! आप मुझे तुष्टि, पुष्टि, श्रुति और प्रीति दीजिये ॥ ५० ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि– हे जनमेजय ! इन अग्निके मंत्रोंको पढ़कर जो अग्निमें होम करते

सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५१ ॥ सहदेव उवाच । यज्ञविघ्नमिमं कर्त्तुं नार्हस्त्वं हव्यवाहन । एवमुक्त्वा तु माद्रेयः कुशैरास्तीर्य मेदिनीम् ॥ ५२ ॥ विधिवत् पुरुषव्याघ्रः पावकं प्रत्युपाविशत् । प्रमुखे तस्य सैन्यस्य भीतोद्विग्नस्य भारत ॥ ५३ ॥ न चैनमत्ययगाद्वन्हिर्वेलामिव महोदधिः । तमुपेत्य शनैर्वह्निरुवाच कुरुनन्दनम् ॥ ५४॥ सहदेवं नृणां देवं सान्त्वपूर्वमिदं वचः । उत्तिष्ठोत्तिष्ठ कौरव्य जिज्ञासेयं मया कृता ॥ ५५ ॥ वेद्मि सर्वमभिप्रायं तव धर्मसुतस्य च । मया तु रक्षितव्या पूरियं भरतसत्तम ॥ ५६ ॥ यावद्राज्ञो हि नीलस्य कुले वंशधरा इति । ईप्सितन्तु करिष्यामि मनसस्तव पाण्डव ५७ तत उत्थाय हृष्टात्मा प्रांजलिः शिरसा नतः । पूजयामास माद्रेयः पावकं भरतर्षभ ॥ ५८ ॥ पावके विनिवृत्ते तु नीलो राजाभ्यगा-

हैं वह सदा सम्पत्तिमान्, जितेन्द्रिय और पापोंसे मुक्त रहते हैं ॥ ५१ ॥ सहदेवने इस प्रकार स्तुति करके कहा, कि–हे हव्यवाहन ! आपको इस यज्ञमें विघ्न नहीं करना चाहिये, ऐसा कह कर सहदेवने भूमिपर कुश बिछाये ॥ ५२ ॥ और वह वीरपुरुष उस घबड़ाई हुई सेनाके सामनेही विधिपूर्वक अग्निके समीप बैठ गया ॥ ५३ ॥ जैसे महासागर अपने तटकी भूमिको नहीं लाँघता है तैसे ही अग्निदेवने भयभीत और व्याकुल सेना तथा सामने बैठेहुए नरदेवका उल्लंघन नहीं किया किन्तु प्रत्यक्ष मूर्त्तिमान् हो धीरे २ विनयवान् सहदेवके सामने आ समझाकर कहनेलगे कि–हे कुरुनन्दन ! उठ उठ यह मैंने तेरी परीक्षा की थी ॥५४॥ ॥ ५५ ॥ और मैं तुम्हारे धर्मपुत्र युधिष्ठिरके भी सब अभिप्राय को जानता हूँ परन्तु हे भारत ! मुझे इस नगरीकी भी तो रक्षा करनी है ॥ ५६ ॥ जबतक राजा नीलके वंशमें कोई वंशधर रहेगा तबतक मैं इसकी रक्षा करूँगा इसके सिवाय तुम्हारी जो कुछ अभिलाषा होगी उसको मैं सिद्ध करूँगा ॥५७॥ हे महाराज ! तब सहदेवने प्रसन्न अन्तःकरण से उठकर हाथ जोड़ेहुए प्रणाम करके अग्निका पूजन किया ॥ ५८ ॥ ऐसा कहकर अग्निके लौट

तदा । पाकशासनि चैनमर्चयामास पार्थिवः ॥ ५६ ॥ सत्कारेण नरव्याघ्रं सहदेवं युधां पतिम् । प्रतिगृह्य च तां पूजां करे च विनिवेश्य च । माद्रीसुतस्ततः प्रायाद्विजयी दक्षिणां दिशम् ॥ ६० ॥ त्रैपुरं स वशे कृत्वा राजानममितौजसम् । निजग्राह महाबाहुस्तरसा पौरवेश्वरम् ॥ ६१ ॥ आकृतिं कौशिकाचार्यं यत्नेन महता ततः । वशे चक्रे महाबाहुः सुराष्ट्राधिपतिं तदा ॥ ६२ ॥ सुराष्ट्रविषयस्थश्च प्रेषयामास रुक्मिणे । राज्ञे भोजकटस्थाय महामात्राय धीमते ।६३। भीष्मकाय स धर्मात्मा साक्षादिन्द्रसखाय वै । स चास्य प्रतिजग्राह ससुतः शासनं तदा ॥ ६४ ॥ प्रीतिपूर्वं महाराज वासुदेवमवेक्ष्य च । ततः स रत्नान्यादाय पुनः प्रायाद् युधां पतिः ॥ ६५ ॥ ततः शूर्पारकं चैव तालाकटमथापि च । वशे चक्रे महातेजा दण्डकांश्च महाबलः ॥ ६६ ॥ सागरद्वीपवासांश्च नृपतीन् म्लेच्छ-

---

जानेपर राजा नीलने उनकी आज्ञानुसार सहदेवके पास आकर शास्त्रविधिसे पूजन किया ॥ ५९ ॥ जब राजा नीलने वीराग्रणी पुरुषश्रेष्ठ सहदेवका सत्कारपूर्वक पूजन किया तब उस पूजाको स्वीकार कर और राजा नीलको अपना करद बनाकर माद्रीकुमार विजयी सहदेव दक्षिण दिशाकी ओरको चलागया ॥ ६० ॥ महाबाहु सहदेवने परमतेजस्वी राजा त्रिपुररक्षकको अपने वशमें करके पौरवेश्वरको बलात्कारसे अपने वशमें किया ॥ ६१ ॥ फिर उस महाबाहुने बड़े यत्नसे सुराष्ट्रदेशके स्वामी कौशिकाचार्य आकृति को अपने वशमें किया ॥ ६२ ॥ और सुराष्ट्रदेशमें ठहरकर ही उसने भोजकटमें रहने वाले महाबली रुक्मी और साक्षात् इन्द्रके मित्र बुद्धिमान् धर्मात्मा राजा भीष्मकके पास दूत भेजा तब भीष्मक और उसके पुत्र दोनोंने हे महाराज ! श्रीकृष्णकी ओर ध्यान देकर प्रीतिपूर्वक सहदेवकी आज्ञाको मान लिया और सहदेव उनसे उत्तम २ पदार्थ पाकर वहां से चलदिये ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ फिर महाबली परम तेजस्वी सहदेवने शूर्पारक तालाकट और दण्डकोंको वशमें किया ॥ ६६ ॥ फिर समुद्रके टापुओंमें रहने

योनिजान् । निषादान् पुरुषादांश्च कर्णप्रावरणानपि ॥६७॥ ये च कालमुखा नाम नरराक्षसयोनयः । कृत्स्नं कोलगिरिं चैव सुरभीपट्टनं तथा ॥ ६८ ॥ द्वीपं ताम्राह्वयञ्चैव पर्वतं रामकं तथा । तिमिङ्गिलञ्च स नृपं वशे कृत्वा महामतिः ॥ ६९ ॥ एकपादांश्च पुरुषान् केरलान् वनवासिनः । नगरीं सञ्जयन्तीञ्च पाषण्डं करहाटकम् ॥ ७० ॥ दूतैरेव वशे चक्रे करञ्चैनानदापयत् । पाण्ड्यांश्च द्रविडांश्चैव सहितांश्चोड्रकेरलैः ॥ ७१ ॥ अन्ध्रांस्तालवनांश्चैव कलिङ्गानुष्ट्रकर्णिकान् । आटवीं च पुरीं रम्यां यवनानां पुरं तथा ॥७२॥ दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् । ततः कच्छगतो धीमान् दूतान् माद्रवतीसुतः ॥ ७३ ॥ प्रेषयामास राजेन्द्र पौलस्त्याय महात्मने । विभीषणाय धर्मात्मा प्रीतिपूर्वमरिन्दमः॥७४॥ स चास्य प्रतिजग्राह शासनं प्रीतिपूर्वकम् । तच्च कालकृतं धीमानभ्यमन्यत स प्रभुः ॥ ७५ ॥ ततःसंप्रेषयामास रत्नानि विवि-

---

वाले म्लेच्छजातिके राजे निषाद पुरुषाद और कर्णप्रावरण ॥ ६७ ॥ तथा नरराक्षसयोनिके कालमुख नामवाले राजाओंको सम्पूर्ण कोलाचल और सुरभीपट्टनको ॥ ६८ ॥ ताम्रद्वीप तथा रामक पर्वत और तिमिङ्गिल राजाको उस बुद्धिमान् सहदेवने वश में किया ॥ ६९ ॥ फिर एकपाद पुरुष, वनवासी केरल, सञ्जयंती नगरी और पाषण्ड, करहाटक ॥ ७० ॥ इन सबोंको केवल दूत भेजकर ही अपने वशमें करके कर मँगवालिया फिर पाण्ड्य द्रविड़ उड्रोंसहित केरल ॥ ७१ ॥ अन्ध्र, तालवन, कलिङ्ग, उष्ट्र देश, रमणीय आटवी नगरी और यवनपुर ॥ ७२ ॥ इन सबको भी दूत भेजकर ही वशमें किया और कर मँगवा लिया, फिर शत्रुओंको दबानेवाले माद्रीनन्दन सहदेवने कच्छ देशमें ही ठहर कर पुलस्त्यकुमार महात्मा विभीषणके पास प्रेमभावसे दूत भेजा ॥ ७३ ॥ ७४ ॥ विभीषणने भी प्रेमके साथ सहदेवकी आज्ञाको स्वीकार किया, क्योंकि— राजा विभीषणने ऐसा करना ही सम

धानि च । चन्दनागुरुकाष्ठानि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ७६ ॥ वासांसि च महार्हाणि मणींश्चैव महाधनान् । न्यवर्त्तत ततो धीमान् सहदेवः प्रतापवान् ॥ ७७ ॥ एवं निर्जित्य तरसा सान्त्वेन विजयेन च । करदान् पार्थिवान् कृत्वा प्रत्यागच्छदरिन्दमः ॥ ७८ ॥ धर्मराजाय तत्सर्वं निवेद्य भरतर्षभः । कृतकर्मा सुखं राजन्नुवास जनमेजय ॥ ७९ ॥ छ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि सहदेवदिग्विजय एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच । नकुलस्य तु वक्ष्यामि कर्माणि विजयं तथा । वासुदेवजितामाशां यथासावजयत् प्रभुः ॥ १ ॥ निर्याय खाण्डवप्रस्थात् प्रतीचीमभितो दिशम् । उद्दिश्य मतिमान् प्रायाम्महत्या सेनया सह ॥ २ ॥ सिंहनादेन महता योधाना गर्जितेन

पानुसार ठीक समझा ॥ ७५ ॥ और अनेकों प्रकारके रत्न, अगर चंदन, काष्ठ, दिव्य गहने बहुमूल्य वस्त्र और महामूल्य मणियें भेजीं तब बुद्धिमान् प्रतापी सहदेव पीछेको लौटआये ॥७६॥७७॥ शत्रुमारी सहदेव इस प्रकार बलात्कार से राजाओंको जीतकर सामनीति और विजयके द्वारा सकल राजाओंको अपना करद बनाकर इन्द्रप्रस्थमें आगए ॥ ७८ ॥ और वह सब विजयमें पायेहुए पदार्थ धर्मराजको अर्पण करके सहदेवने अपनेको कृतकृत्य माना और परमसुखके साथ रहने लगे ॥ ७९ ॥ एकत्रिंश अध्याय समाप्त ॥ ३१ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे महाराज ! अब मैं नकुलके पराक्रम और विजयको कहता हूं, जिस प्रकार नकुलने वासुदेवकी जीती हुई दिशाओंको जीता ॥ १ ॥ बुद्धिमान् नकुल चतुरंगिणी सेनाको साथ लियेहुए खाण्डवप्रस्थसे निकलकर पश्चिमदिशाकी ओरको चलदिये ॥ २ ॥ प्रस्थानके समय वीरोंकी सिंहनादके समान गर्जना और रथके पहियोंकी घरघर ध्वनिसे यह भूमण्डल मानो

च । रथनेमिनिनादैश्च कम्पयन् वसुधामिमाम् ॥ ३ ॥ ततो बहुधनं रम्यं गवाढ्यं धनधान्यवत् । कार्त्तिकेयस्य दयितं रोहीतकमुपाद्रवत् ॥४ तत्र युद्धं महच्चासीच्छूरैर्मत्तमयूरकैः । मरुभूमिं स कात्स्न्र्येन तथैव बहुधान्यकम् ॥ ५ ॥ शैरीषकं महेत्थं च वशे चक्रे महाद्युतिः । आक्रोशं चैव राजर्षिं तेन युद्धमभून्महत् ॥ ६ ॥ तान् दशार्णान् स जित्वा च प्रतस्थे पाण्डुनंदनः। शिवींस्त्रिगर्त्तानंवष्ठान्मालवान्पंचकर्पटान् ॥ ७ ॥ तथा मध्यमकेयांश्च वाटधानान् द्विजानथ । पुनश्च परिवृत्याथ पुष्करारण्यवासिनः ॥ ८ ॥ गणानुत्सवसंकेतान् व्यजयत् पुरुषर्षभः । सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महाबलाः ॥ ९ ॥ शूद्राभीरगणाश्चैव ये चाश्रित्य सरस्वतीम् । वर्त्तयन्ति च ये मत्स्यैर्ये च पर्वतवासिनः ॥ १० ॥ कृत्स्नं पञ्चनदं चैव यथैवामरपर्वतम् । उत्तरज्योतिषञ्चैव तथा दिव्यकटं पुरम् ॥ ११ ॥ द्वारपालञ्च तरसा वशे चक्रे महाद्युतिः । रामठान्

कंपानेलगा ॥ ३ ॥ तहांसे चलकर नकुल गौओंसे भरे, धन धान्य से पूर्ण, सम्पदाके भण्डार परम रमणीय स्वामिकार्त्तिकेय के प्रिय रोहितक देशमें पहुंचे ॥ ४ ॥ तहां परम शूर मत्तमयूरोंके साथ नकुलका घोर युद्ध हुआ, अन्तमें नकुलने मरुभूमि, शैरीषक और अन्नके भंडाररूप महेत्थ देशपर पूर्ण अधिकार करलिया, फिर प्रबल युद्धाग्निको प्रज्वलित करके राजर्षि आक्रोशको वशमें किया ॥ ५ ॥ ६ ॥ तदनन्तर दशार्ण, शिवि, त्रिगर्त, अम्बष्ठ, मालव, पञ्चकर्पट, मध्यमक, वाटधान और द्विजोंको जीता, तहां से चलकर पुष्कर वनके निवासी उत्सव सङ्केत नामक गणोंको जीता फिर समुद्र-तटके निवासी और तहांके ग्रामवासी महाबली शूद्र और आभीर त ॥ जो सरस्वती नदीका आश्रय लेकर मत्स्योंके द्वारा आजीविका करते हैं उनको जीतकर पर्वतवासी सकल पञ्चनद अमरपर्वत, उत्तर-ज्योतिष दिव्यकट नगर और द्वारपालको बलात्कारसे वशमें किया फिर परम तेजस्वी पाण्डुकुमार नकुलने आज्ञामात्रसे रामठ और

हारहूणांश्च प्रतीच्याश्चैव ये नृपाः ॥ १२ ॥ तान् सर्वान् स वशे चक्रे शासनादेव पाण्डवः । तत्रस्थः प्रेषयामास वासुदेवाय भारत ॥ १३ ॥ स चास्य यादवैः सार्द्धं प्रतिजग्राह शासनम् । ततः शाकलमभ्येत्य मद्राणां पुटभेदनम् ॥ १४ ॥ मातुलं प्रीतिपूर्वेण शल्यं चक्रे वशे बली । स तेन सत्कृतो राज्ञा सत्कारार्हो विशाम्पते ॥ १५ ॥ रत्नानि भूरीण्यादाय सम्प्रतस्थे युधाम्पतिः । ततः सागरकुक्षिस्थान् म्लेच्छान् परमदारुणान् ॥ १६ ॥ पह्लवान् वर्वरांश्चैव किरातान् यवनान् शकान् । ततो रत्नान्युपादाय वशे कृत्वा च पार्थिवान् ॥ १७ ॥ न्यवर्त्तत कुरुश्रेष्ठो नकुलश्चित्रमार्गवित् । करभाणां सहस्राणि कोषं तस्य महात्मनः ॥ १८ ॥ ऊहुर्दश महाराज कृच्छ्रादिव महाधनम् । इन्द्रप्रस्थगतं वीरमभ्येत्य स युधिष्ठिरम् ॥ १९ ॥ ततो माद्रीसुतः श्रीमान् धर्न तस्मै न्यवेद-

---

हार हूण आदि जो पश्चिमके राजे थे उन सबोंको अपने वशमें किया, फिर वहां ठहर कर ही वासुदेवके पास दूत भेजा ॥ ७ ॥ ॥ १३ ॥ वासुदेव और यादवोंने नकुलके शासनको मानलिया, फिर शाकल देशमें मद्रोंके नगर पर अधिकार करके ॥ १४ ॥ बली नकुलने अपने मामा शल्यको प्रेमपूर्वक वशमें करलिया, हे महाराज ! माद्रीनन्दन नकुल, शल्यसे सत्कार पाकर और बहुतसे रत्न लेकर चलदिया, पीछेसे समुद्रके टापुओंमें रहनेवाले परमदारुण म्लेच्छ पह्लव वर्वर किरात यवन और शक राजाओंको वशमें करके तथा उनसे सुन्दर २ पदार्थ लेकर ॥ १५–१७ ॥ विचित्र मार्गोंको जाननेवाले नकुल लौट आये,हे महाराज ! महात्मा नकुलके, जीतेहुए धनभंडारको दश सहस्र हाथी भी बड़ी कठिनतासे ढोसके, शीघ्र ही माद्रीकुमार नकुल इन्द्रप्रस्थमें वीर युधिष्ठिरके पास आगये और इसप्रकार वरुणकी रक्षा की हुई तथा वासुदेवकी जीती हुई पश्चिम दिशाको जीतकर लाया हुआ

यत् । एवं विजित्य नकुलो दिशं वरुणपालिताम् । प्रतीचीं वासुदेवेन निर्जितां भरतर्षभ ॥ २० ॥

इति सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि नकुलप्रतीचीविजये द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥ समाप्तञ्च दिग्विजयपर्व ॥

॥ अथ राजसूयपर्व ॥

वैशम्पायन उवाच । रक्षणाद्धर्मराजस्य सत्यस्य परिपालनात् । शत्रूणां क्षपणाच्चैव स्वकर्मनिरताः प्रजाः ॥ १ ॥ बलीनां सम्यगादानाद्धर्मतश्चानुशासनात् । निकामवर्षी पर्जन्यः स्फीतो जनपदोऽभवत् ॥२॥ सर्वारम्भाः सुप्रवृत्ता गोरक्षाकर्षणं वणिक् । विशेषात् सर्वमेवैतत् सञ्जज्ञे राजकर्मणः ॥३॥ दस्युभ्यो वञ्चकेभ्यो वा राजन् प्रतिपरस्परम् । राजवल्लभतश्चैव नाश्रूयन्त मृषा गिरः ॥ ४ ॥ अवर्षञ्चातिवर्षञ्च व्याधिपावकमूर्च्छनम् । सर्वमेतत्तदा नासीद्धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ॥ ५ ॥ प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वभावजम्।

यह धन राजा युधिष्ठिरको अर्पण करदिया ॥ १८—२० ॥ इति द्वात्रिंश अध्याय समाप्त ॥ ३२ ॥ छ ॥ छ

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-हे महाराज ! राजा युधिष्ठिरके प्रजाओंकी रक्षा, सत्यका पालन और शत्रुओंका नाश करने से प्रजाएं अपने २ कार्योंको करनेलगीं ॥ १ ॥ शास्त्रके लेखानुसार कर लेने और धर्मसे राज्यका शासन करनेके कारण मेघ समय पर ठीक २ वर्षा करने लगे, जिससे उनके देशमें धन सम्पत्ति बहुत ही बढ़ गयी ॥ २ ॥ राजाके पुण्यके प्रभावसे खेती व्यापार और गोरक्षा आदि सब कार्य ठीक २ सिद्ध होने लगे ॥३॥ हे महाराज! प्रजाके लोगोंमें कोई किसीको धोखा नहीं देता था लुटेरे या चोरों का भय नहीं था और राजकर्मचारियोंमें किसीके मुखसे झूठी बात सुननेमें नहीं आती थी ॥ ४ ॥ उस धर्मराजके नित्य धर्माचरण करनेके प्रतापसे अधिक वर्षा, अवर्षा, रोग और अग्निका भय आदि कोई भी अमंगल नहीं होता था ॥ ५ ॥चारों ओरको

अभिहर्त्तुं नृपा जग्मुर्नान्यैः कार्य्यैः कथञ्चन ॥ ६ ॥ धर्म्यैर्धनागमैस्तस्य ववृधे निचयो महान् । कर्त्तुं यस्य न शक्येत क्षयो वर्षशतैरपि ॥ ७ ॥ स्वकोष्ठस्य परीमाणं कोषस्य च महीपतिः । विज्ञाय राजा कौन्तेयो यज्ञायैव मनो दधे ॥ ८ ॥ सुहृदश्चैव ये सर्वे पृथक् च सहिताब्रुवन् । यज्ञकालस्तव विभो क्रियतामद्य साम्प्रतम् ॥ ६ ॥ अथैवं ब्रुवतामेव तेषामभ्यायर्यौ हरिः । ऋषिः पुराणो वेदात्मा दृश्यश्चैव विजानताम् ॥ १० ॥ जगतस्तस्थुषां श्रेष्ठः प्रभवश्चाव्ययश्च ह । भूतभव्यभवन्नाथः केशवः केशिसूदनः ॥ ११ ॥ प्राकारः सर्ववृष्णीनामापत्स्वभयदोऽरिहा । बलाधिकारे निक्षिप्य सम्यगानकदुन्दुभिम् ॥ १२ ॥ उच्चावचमुपादाय धर्मराजाय माधवः ।

राजे उनके यहां केवल भेट देने और स्वाभाविक प्रिय काम करने को ही आते थे, युद्ध आदि अन्य कामोंके लिये कभी नहीं आते थे ॥ ६ ॥ धर्मानुसार धनकी आमदनियोंसे ही उनका धनभंडार (खजाना) इतना बढ़ गया, कि—सैकड़ों वर्षतक खर्च करने पर भी जिसका क्षय होनेकी संभावना नहीं थी ॥ ७ ॥ कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरने अपने अन्नादिके भंडार और धनभण्डारकी पूर्णताको जानकर यज्ञ करनेका विचार किया ॥ ८ ॥ उनके मित्र उनसे अलग अलग और इकट्ठे होकर भी कहने लगे, कि–हे महाराज ! यह समय आपके यज्ञ करनेका है इस कारण अब आपको शीघ्र ही यज्ञ करना चाहिये ॥ ९ ॥ सब लोग ऐसा कहा ही करते थे कि—इसी अवसरमें दिव्यदृष्टि सनातन, वेदके आत्मा ज्ञानियोंके ध्यानमें आनेवाले चराचरमें श्रेष्ठ जगदादिकारण अविनाशी त्रिकालके स्वामी केशीमर्दन भगवान् कृष्ण तहां आ पहुंचे जैसे परकोटेसे नगरकी रक्षा होती है ऐसे ही वह यादवों की रक्षा करते थे वही आपत्तिमें अभय देनेवाले शत्रुनाशक कृष्ण सेनाका अधिकार भलेप्रकार वसुदेवजीको सौंपकर धर्मराज युधिष्ठिरके लिये असंख्यों धन और अविनाशी रत्नोंका ढेर और बड़े

धनौघ पुरुषव्याघ्रो बलेन महता वृतः ॥ १३ ॥ तं धनौघमपर्यन्तं रत्नसागरमक्षयम् । नादयन्रथघोषेण प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ १४ ॥ पूर्णमापूरयंस्तेषां द्विषच्छोकावहोऽभवत् । असूर्यमिव सूर्येण निवातमिव वायुना ॥ १५ ॥ कृष्णेन समुपेतेन जहृषे भारतं पुरम् । तं मुदाभिसमागम्य सत्कृत्य च यथाविधि ॥१६॥ स पृष्ट्वा कुशलं चैव सुखासीनं युधिष्ठिरः । धौम्यद्वैपायनमुखैर्ऋत्विग्भिः पुरुषर्षभः । भीमार्जुनयमैश्चैव सहितः कृष्णमब्रवीत् ॥ १७ ॥ युधिष्ठिर उवाच । त्वत्कृते पृथिवी सर्वा मद्वशे कृष्ण वर्तते । धनं च बहु वार्ष्णेय त्वत्प्रसादादुपार्जितम् ॥ १८ ॥ सोऽहमिच्छामि तत्सर्वं विधिवद्देवकीसुत । उपयोक्तुं द्विजाग्र्येभ्यो हव्यवाहे च माधव ॥ १९ ॥ तदहं यष्टुमिच्छामि दाशार्ह सहितस्त्वया । अनु-

भारी सेनादलको साथ लेकर अपने रथकी झनकारसे दिशाओं को गुंजारतेहुए इन्द्रप्रस्थ नगरीमें आपहुंचे ॥ १०-१४ ॥ यह देखकर पाण्डवोंके शत्रुओंको शोक हुआ, परन्तु जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकारमें पड़ेहुए लोगोंका अन्तःकरण प्रसन्न होजाता है, और जैसे वायुहीन स्थानमें पवनके चलनेपर लोगोंके शरीरों में मानो प्राण आजाते हैं तैसे ही श्रीकृष्णजीके आनेपर पांडवों ने सुखसरोवर और आनन्दसागरमें गोता लगाया, उस समय लोगोंसे भरीहुई इंद्रप्रस्थपुरी और भी भरगई तहांके लोगोंने अग-वानी करके श्रीकृष्णजीका विधिपूर्वक सत्कार किया ॥१५-१६॥ धर्मराज युधिष्ठिरने चारों भाई पुरोहित धौम्य और द्वैपायन आदि ऋत्विगों सहित श्रीकृष्णजीके पास जा उनसे कुशल बूझी और आरामसे बैठजाने पर उनसे कहने लगे ॥ १७ ॥ युधिष्ठिरने कहा-कि—हे भैया कृष्ण ! केवल तुम्हारी ही कृपासे यह सब भूमंडल मेरे वशमें है और तुम्हारे ही अनुग्रहसे यह बड़ीभारी धनसंपदा मैंने इकट्ठा करी है ॥ १८ ॥ हे देवकीनन्दन कृष्ण ! अब यह सब धन सम्पदा मैं शास्त्रकी विधिसे श्रेष्ठ ब्राह्मण और अग्निदेवके लिये अर्पण करना चाहता हूं ॥ १९ ॥ मेरी यह बड़ी भारी इच्छा

जेश महाबाहो तन्मानुज्ञातुमर्हसि ॥ २० ॥ तद्दीक्षापय गोविन्द त्वमात्मानं महाभुज। त्वय्यिष्टवति दाशार्ह विपाप्मा भविता ह्यहम्॥ ॥२१॥ मां वाप्यभ्यनुजानीहि सहैभिरनुजैर्विभुः । अनुज्ञातस्त्वया कृष्ण प्राप्नुयां क्रतुमुत्तमम् ॥ २२ ॥ वैशंपायन उवाच । तं कृष्णः प्रत्युवाचेदं बहूक्त्वा गुणविस्तरम् । त्वमेव राजशार्दूल सम्राडर्हो महाक्रतुम् ॥ २३ ॥ संप्राप्नुहि त्वया प्राप्ते कृतकृत्यास्ततो वयम् । यजस्वाभीप्सितं यज्ञं मयि श्रेयस्यवस्थिते । नियुङ्क्ष्व त्वञ्च मां कृत्ये सर्वं कर्त्तास्मि ते वचः ॥२४॥ युधिष्ठिर उवाच ॥ सफलः कृत्स्नेन सङ्कल्पः सिद्धिश्च नियता मम । यस्य मे त्वं हृषीकेश यथेप्सितमुपस्थितः ॥ २५॥ वैशंपायन उवाच । अनुज्ञातस्तु कृष्णेन

है कि-आपको और अपने भाइयोंको साथ लेकर राजसूय यज्ञ करूं सो हे कृष्ण ! मुझे यज्ञका आरम्भ करनेकी आज्ञा दीजिये ॥ २० ॥ हे गोविन्द ! आपको इस यज्ञमें दीक्षित होना पड़ेगा हे महाबाहो ! आपके दीक्षा लेकर यज्ञ करनेपर मैं निष्पाप हो जाऊँगा ॥ २१ ॥ अथवा भाइयों सहित मुझको ही दीक्षा लेने की आज्ञा दीजिये हे कृष्ण ! आपके आज्ञा देदेनेसे भी मैं परम श्रेष्ठ यज्ञ करनेके फलको पाजाऊँगा, इसमें सन्देह नहीं है २२ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! श्रीकृष्णने युधिष्ठिर के बहुतसे गुणोंका वर्णन करते हुए उत्तर दिया, कि—हे महाराज तुम ही इस महायज्ञ राजसूयको करनेके योग्य हो ॥ २३ ॥ इस कारण शीघ्रही यज्ञकी दीक्षा लो, तुम्हारे यज्ञफलको पालेने पर हम सब कृतार्थ होजायँगे मैं आपका हित करने में लगा रहूंगा तुम अपनी इच्छानुसार यज्ञ करो तुम मुझे जिस कामपर नियत करदोगे मैं उसको ही तुम्हारे कहनेके अनुसार करूंगा ॥ २४ ॥ यह सुनकर युधिष्ठिर कहने लगे कि—हे हृषीकेश ! जब तुम मेरी इच्छानुसार स्वयं आगए हो, तो मेरा सङ्कल्प सिद्ध होगया और सिद्धि पानेमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ २५ ॥ वैशम्पायन कहते

पांडवो भ्रातृभिः सह । ईजितुं राजसूयेन साधनान्युपचक्रमे २६ ततस्त्वाज्ञापयामास पाण्डवोऽरिनिवर्हणः । सहदेवं युधां श्रेष्ठं मन्त्रिणश्चैव सर्वशः ॥२७॥ अस्मिन् क्रतौ यथोक्तानि यज्ञाङ्गानि द्विजातिभिः । तथोपकरणं सर्वं मङ्गलानि च सर्वशः ॥ २८ ॥ अधियज्ञांश्च सम्भारान् धौम्योक्तान् क्षिप्रमेव हि । समानयन्तु पुरुषा यथायोगं यथाक्रमम् ॥ २९ ॥ इन्द्रसेनो विशोकश्च पूरुश्चार्जुनसारथिः । अन्नाद्याहरणे युक्ताः सन्तु मत्प्रियकाम्यया ॥ ३० ॥ सर्वकामाश्च कार्यन्तां रसगन्धसमन्विताः । मनोहराः प्रीतिकरा द्विजानां कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥ तद्वाक्यसमकालञ्च कृतं सर्वं न्यवेदयत् । सहदेवो युधां श्रेष्ठो धर्मराजे युधिष्ठिरे ॥३२॥ ततो द्वैपायनो राजन्नृत्विजः समुपानयत् । वेदानिव महाभागान् साक्षान्

हैं, कि—हे जनमेजय ! राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्णजीके आज्ञा देने पर अपने भाइयों सहित राजसूय यज्ञ करनेके लिये सामग्री इकट्ठी करनेलगे ॥२६॥ तदनन्तर युधिष्ठिरने मंत्रियोंको और सहदेवको आज्ञा दी, कि ॥ २७ ॥ ब्राह्मणोंने इस यज्ञके अङ्गरूप जिन पदार्थोंको इकट्ठा करनेकी संमति दी है वह सामग्री तथा अन्य माङ्गलिक पदार्थ तथा पुरोहित धौम्यकी कही हुई सब यज्ञकी यथोचित सामग्री शीघ्र ही पुरुषोंको भेजकर क्रम २ से मँगवाओ ॥२८॥२९॥ इन्द्रसेन, विशोक और अर्जुनका सारथि पुरु इनको, मेरी इच्छा है कि—अन्न आदि लानेपर नियत करो ॥ ३० ॥ और हे सहदेव! तुम ब्राह्मणोंकी इच्छानुसार प्रसन्न करनेके लिये मनोहर रमणीय सकल सुगंधित मन लुभानेवाले पदार्थोंको इकट्ठा करो ॥ ३१ ॥ युधिष्ठिरकी बात पूरी भी नहीं होनेपाई, कि— सहदेवने बड़े विनयके साथ निवेदन किया, कि—हे प्रभो ! आप की आज्ञासे पहिले ही यह सब काम तयार हैं॥३२॥ हे राजन् ! तदनन्तर महर्षि कृष्णद्वैपायन मूर्त्तिधारी वेदरूप कितने ही यज्ञ

मूर्तिमतो द्विजान् ॥३३॥ स्वयं ब्रह्मत्वमकरोत्तस्य सत्यवतीसुतः। धनञ्जयानामृषभः सुसामा सामगोऽभवत् ॥ ३४ ॥ याज्ञवल्क्यो बभूवाथ ब्रह्मिष्ठोऽध्वर्युसत्तमः। पैलो होता वसोः पुत्रो धौम्येन सहितोऽभवत् ॥ ३५ ॥ एतेषां शिष्यवर्गाश्च पुत्राश्च भरतर्षभ। बभूवुर्होत्रगाः सर्वे वेदवेदांगपारगाः॥३६॥ ते वाचयित्वा पुण्याहमूहयित्वा च तं विधिम्। शास्त्रोक्तं पूजयामासुस्तद्देवयजनं महत् ॥ ३७॥ तत्र चक्रुरनुज्ञाता शरणान्युत शिल्पिनः। गन्धवन्ति विशालानि वेश्मानीव दिवौकसाम् ॥३८॥ततं आज्ञापयामास स राजा राजसत्तमः। सहदेवं तदा सद्यो मन्त्रिणं पुरुषर्षभ॥३९॥ आमन्त्रणार्थं दूतांस्त्वं प्रेषयस्वाशुगान् द्रुतम्। उपश्रुत्य वचो राज्ञः स दूतान् प्राहिणोत्तदा ॥ ४० ॥ आमन्त्रयध्वं राष्ट्रेषु ब्राह्मणान् भूमिपानथ। विशश्च मान्यान् शूद्रांश्च सर्वानानयतेति च ॥ ४१ ॥

करानेवाले महात्मा ब्राह्मणोंको लाये ॥ ३३ ॥ और आप भी उन्होंने तिस यज्ञमें ब्रह्माके कामकी दीक्षा ली धनञ्जयगोत्रियोंमें श्रेष्ठ सुसामा सामवेदका गान करनेवाले हुए ॥३४॥ ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य अध्वर्यु हुए वसुका पुत्र पैलु और धौम्य ऋषि होता हुए॥ ३५ ॥ और हे महाराज! वेदवेदाङ्गके पारगामी इनके शिष्य और पुत्र सदस्य हुए॥३६॥वह सब यज्ञके विषयमें अनेकों प्रकारकी तर्क वितर्क करके स्वस्तिवाचन करने लगे और फिर सङ्कल्प करके उस बड़े भारी यज्ञमण्डपकी विधिविधानसे पूजा करी ॥३७॥ फिर शिल्पियोंने आज्ञा पाकर तहां देवमंदिरोंकी समान परमोत्तम विशाल भवन बनाये ॥३८॥ तदनंतर राजा युधिष्ठिरने सहदेवको आज्ञा दी, कि–हे भाई! शीघ्र ही निमंत्रण देनेके लिये शीघ्रगामी दूतोंको भेजो,सहदेवने राजा युधिष्ठिरकी यह बात सुनते ही दूतों को भेज दिया ॥३९-४०॥ उनसे कहदिया, कि–देशके संपूर्ण ब्राह्मण और क्षत्रियोंको निमंत्रण कर आना और वैश्य तथा

वैशम्पायन उवाच ॥ समाज्ञप्तास्ततो दूताः पाण्डवेयस्य शासनात्।
आमन्त्रयाम्बभूवुश्च आनयंश्चापरान् द्रुतम्। तथा परानपि नराना-
त्मनः शीघ्रगामिनः ॥ ४२ ॥ ततस्ते तु यथाकालं कुन्तीपुत्रं युधि
ष्ठिरम्। दीक्षयांचक्रिरे विप्रा राजसूयाय भारत ॥४३ ॥ दीक्षितः
स तु धर्मात्मा धर्मराजो युधिष्ठिरः। जगाम यज्ञायतनं वृतो विप्रैः
सहस्रशः ॥ ४४ ॥भ्रातृभिः ज्ञातिभिश्चैव सुहृद्भिः सचिवैः सह।
क्षत्रियैश्च मनुष्येन्द्रैर्नानादेशसमागतैः ॥४५ ॥ अमात्यैश्च नरश्रेष्ठो
धर्मो विग्रहवानिव। आजग्मुर्ब्राह्मणास्तत्र विषयेभ्यस्ततस्ततः ।४६।
सर्वविद्यासु निष्णाता वेदवेदाङ्गपारगाः। तेषामावसथांश्चक्रु
र्धर्मराजस्य शासनात् ॥ ४७ ॥ बह्वन्नाच्छादनैर्युक्तान् सगणानां
पृथक् पृथक्। सर्वर्तुगुणसंपन्नान् शिल्पिनोऽथ सहस्रशः ॥४८॥
तेषु ते न्यवसन्राजन् ब्राह्मणा नृपसत्कृताः। कथयन्त कथा बह्वी

सन्मानके योग्य शूद्रोंको साथ ही लिवाते लाना ॥ ४१ ॥ वैशम्पा
यनजी कहते हैं, कि—हे जनमेजय! धर्मराजकी आज्ञासे भेजेहुए
वह शीघ्रगामी दूत ब्राह्मण और राजाओंको निमन्त्रण देकर
वैश्य और शूद्रोंको तथा अपनेसे मेल रखनेवाले अन्य मनुष्योंको
भी साथ लेकर आगए ॥४२॥ हे भारत! उन सकल ब्राह्मणोंने
ठीक समय पर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरको राजसूय यज्ञके लिये
दीक्षित किया ॥४३ ॥ धर्मात्मा युधिष्ठिरने यज्ञमें दीक्षित हो सहस्रों
ब्राह्मण, भाई, मित्रगण, जातिवाले, सहचर, अनेकों देशोंसे आयेहुए
प्रधान २ क्षत्रिय राजे और मंत्रियोंके साथ, साक्षात् मूर्त्तिमान् धर्म
की समान यज्ञशालामें प्रवेश किया राज्यके चारों ओरसे सकल
विद्याओंमें प्रवीण वेद वेदान्तके पारगामी ब्राह्मण उस यज्ञके महो-
त्सवमें आनेलगे, धर्मराजकी आज्ञासे उनके लिये अलग २ ठहरने
को स्थान बनवाये गये थे॥४४—४७॥वह सब स्थान बहुतसे अन्न
पानादिसे भरे, विचित्र कपड़छतसे शोभित और सकल ऋतुओं की
सुखदायक सामग्रीसे पूर्ण थे, जिनको सहस्रों कारीगरोंने
बनाया था ॥ ४८ ॥ हे राजन्! वह ब्राह्मण उन स्थानोंमें ठहरकर

पश्यन्तो नटनर्त्तकान् ॥ ४९ ॥ भुञ्जतां चैव विप्राणां वदतां च महात्मनः । अनिशं श्रूयते तत्र मुदितानां महास्वनाम्॥५०॥दीयतां दीयतामेषां भुज्यतां भुज्यतामिति । एवं प्रकाराः संजल्पा श्रूयन्ते स्मात्र नित्यश ॥ ५१ ॥ गवां शतसहस्राणि शयनानां च भारत। रुक्मस्य योषिता चैव धर्मराजः पृथक् ददौ ॥ ५२ ॥प्रावर्त्ततैवं यज्ञः स पाण्डवस्य महात्मनः । पृथिव्यामेकवीरस्य शक्रस्येव त्रिविष्टपे ॥ ५३ ॥ ततो युधिष्ठिरो राजा प्रेषयामास पाण्डवम् । नकुलं हास्तिनपुरं भीष्माय पुरुषर्षभ ॥५४॥ द्रोणाय धृतराष्ट्राय विदुराय कृपाय च । भ्रातॄणां चैव सर्वेषां येऽनुरक्ता युधिष्ठिरे५५

इति सभापर्वणि राजसूयिकपर्वणि राजसूयदीक्षायां त्रयस्त्रिंशोऽध्याय ॥ ३३ ॥

वैशंपायन उवाच । स गत्वा हास्तिनपुरं नकुलः समितिञ्जयः।

नृत्य गाना आदि देखते हुए अनेकोंप्रकारकी कथाएं कहकर समय को व्यतीत करनेलगे ॥ ४९ ॥ वहां रातदिन भोजन करतेहुए, कथाएं कहतेहुए और आनन्दसागरमें निमग्न महात्मा ब्राह्मणों का बड़ा भारी कोलाहल, सुननेमें आता था ॥ ५० ॥ वहां हर समय दीजिये, दीजिये, भोजन कीजिये भोजन कीजिये भोजन कीजिये केवल ऐसी बातें ही सुननेमें आती थीं ॥ ५१ ॥ धर्मराज ने सब निमंत्रित पुरुषोंको अलग २ गौएं, शय्याएं सुवर्ण और रूपयौवनवती सर्वाङ्गसुन्दरी स्त्रियें दीं ॥ ५२ ॥ स्वर्गपति इन्द्रकी समान पृथिवीपति महात्मा युधिष्ठिरका वह यज्ञ उत्तरोत्तर अधिक शोभाको प्राप्त होनेलगा ॥ ५३ ॥ तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने भीष्म, द्रोण धृतराष्ट्र विदुर, कृपाचार्य, दुर्योधनादि भाई और जो अपनेसे प्रेम करते थे उनको निमंत्रण देनेके लिये नकुलको हस्तिनापुर भेजा ॥ ५४-५५ ॥ त्रयस्त्रिंश अध्याय समाप्त ॥३३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-हे जनमेजय ! उस पाण्डुकुमार वीर नकुलने हस्तिनापुरमें जाकर विनयके साथ सत्कारपूर्वक भीष्म

भीष्ममामन्त्रयांचक्रे धृतराष्ट्रञ्च पाण्डवः ॥ १॥ सत्कृत्यामन्त्रितास्तेन आचार्यप्रमुखास्ततः । प्रययुः प्रीतमनसो यज्ञं ब्रह्मपुरःसराः ॥ २ ॥ संश्रुत्य धर्मराजस्य यज्ञं यज्ञविदस्तदा । अन्ये च शतशस्तुष्टैर्मनोभिर्भरतर्षभ ॥३॥ द्रष्टुकामाः सभाञ्चैव धर्मराजञ्च पाण्डवम् । दिग्भ्यः सर्वे समापेतुः क्षत्रियास्तत्र भारत ॥ ४ ॥ समुपादाय रत्नानि विविधानि महान्ति च । धृतराष्ट्रश्च भीष्मश्च विदुरश्च महामतिः ॥ ५ ॥ दुर्योधनपुरोगाश्च भ्रातरः सर्व एव ते। गान्धारराजः सुबलः शकुनिश्च महाबलः ॥६॥ अचलो वृषकश्चैव कर्णश्च रथिनां वरः । तथा शल्यश्च बलवान् बाह्लिकश्च महाबलः ॥ ७ ॥ सोमदत्तोऽथ कौरव्य भूरिर्भूरिश्रवाः शलः । अश्वत्थामा कृपो द्रोणः सैन्धवश्च जयद्रथः ॥ ८ ॥ यज्ञसेनः सपुत्रश्च शाल्वश्च वसुधाधिपः । प्राग्ज्योतिषश्च नृपतिर्भगदत्तो महारथः ॥ ९ ॥ स तु सर्वैः सह म्लेच्छैः सागरानूपवासिभिः । पार्वतीयाश्च राजानो राजा चैव बृहद्बलः ॥१०॥ पौण्ड्रको वासुदेवश्च वङ्गः कालिङ्गक-

धृतराष्ट्र और कृपाचार्य आदिको निमन्त्रण दिया, वह प्रसन्नमनसे निमंत्रणको स्वीकार करके बहुत से ब्राह्मणोंको साथ ले यज्ञ देखने को आये॥१-२॥ हे जनमेजय ! यज्ञके महोत्सवको सुन कुतूहल में भरकर अनेकों दिशाओंके निवासी क्षत्रिय उस यज्ञको और पाण्डवोंकी सभाको देखने के अभिलाषी होकर मनमें बड़े प्रसन्न होते हुए उनके साथ चले आये ॥३-४॥ अनेकों प्रकारके बड़े २ रत्न लेकर धृतराष्ट्र भीष्म परमबुद्धिमान् विदुर॥५॥ दुर्योधनादि सब भाई, गान्धार देशके राजा सुबल,महाबली शकुनि ॥६॥ अचल, वृषक, रथियोंमें श्रेष्ठ कर्ण,बलवान् शल्य,महाबली बाह्लीक ॥७॥ सोमदत्त भूरि, भूरिश्रवा, शल, अश्वत्थामा, कृपाचार्य द्रोणाचार्य, सिन्धदेशका राजा जयद्रथ॥ ८ ॥ पुत्रसहित यज्ञसेन राजा शाल्व, प्राग्ज्योतिषदेशका राजा, महारथी भगदत्त ॥ ९ ॥ महासागरकी तराईके म्लेच्छ, पहाड़ी राजे, राजा बृहद्बल ॥ १० ॥

स्तथा । आकर्षा कुन्तलाश्चैव मालवाश्चान्धकास्तथा ॥११॥ द्राविडाः सिंहलाश्चैव राजा काश्मीरकस्तथा। कुन्तिभोजो महातेजाः पार्थिवो गौरवाहनः ॥ १२ ॥ बाह्लिकाश्चापरे शूरा राजानः सर्व एव ते । विराटः सह पुत्राभ्यां मावेल्लश्च महाबलः॥१३॥राजानो राजपुत्राश्च नानाजनपदेश्वराः । शिशुपालो महावीर्यः सह पुत्रेण भारत ॥ १४ ॥ आगच्छत् पाण्डवेयस्य यज्ञं समरदुर्मदः । रामश्चैवानिरुद्धश्च कङ्कश्च सहसारणः ॥ १५ ॥ गदप्रद्युम्नशाम्बाश्च चारुदेष्णश्च वीर्यवान् । उल्मुको निशठश्चैव वीरश्चाङ्गावहस्तथा ॥ १६ ॥ वृष्णयो निखिलाश्चान्ये समाजग्मुर्महारथाः । एते चान्ये च बहवो राजानो मध्यदेशजाः ॥ १७ ॥ आजग्मुः पाण्डुपुत्रस्य राजसूयं महाक्रतुम् । ददुस्तेषामावसथान् धर्मराजस्य शासनात्।१८॥बहुभक्ष्यान्वितान् राजन् दीर्घिकावृक्षशोभितान्। तथा धर्मात्मजः पूजां चक्रे तेषां महात्मनाम् ॥ १९ ॥ सत्कृताश्च यथोद्दिष्टान् जग्मुरावसथान्नृपाः । कैलासशिखरप्रख्यान् मनोज्ञान्

पौण्ड्रक, वासुदेव, वङ्ग और कलिङ्गदेशका राजा, आकर्ष कुन्तल मालव और अंधक देशके राजे ॥ ११ ॥ द्रविड़ सिंहल देशके स्वामी, काश्मीरका राजा महातेजस्वी कुन्तीभोज, राजा गौरवाहन ॥ १२ ॥ बाह्लीक देशके अन्य शूर राजे, दोनों पुत्रों सहित विराट् महाबली मावेल्ल ॥ १३ ॥ हे भारत ! अनेकों देशोंके राजे और राजपुत्र तथा अपने पुत्रसहित महावीर रणांकुश शिशुपाल ॥ १४ ॥ राजा युधिष्ठिरके यज्ञ में आया बलराम अनिरुद्ध, कङ्क, सारण ॥ १५ ॥ गद प्रद्युम्न सांब,वीर चारुदेष्ण, उल्मुक, निशठ और वीर अङ्गावह आदि१६ यह सकल महारथी यादव और बहुतसे मध्यदेशके राजे ॥१७॥ पाण्डुनन्दनके राजसूय महायज्ञमें आये, धर्मराजकी आज्ञासे उन आयेहुए राजाओंको सत्कारके साथ अलग २ स्थानोंमें ठहराया गया धर्मराजने उनकी पूजा करी वह सब स्थान नाना प्रकार के भोजनके पदार्थोंसे शोभायमान थे, वह सब मन्दिरमाला

द्रव्यभूषितान् ॥२०॥ सर्वतः संवृतानुच्चैः प्राकारैः सुकृतैःसितैः।
सुवर्णजालसम्वीतान् मणिकुट्टिमभूषितान् ॥ २१ ॥ सुखारोहण-
सोपानान् महासनपरिच्छदान्। स्रग्दामसमवच्छन्नानुत्तमागुरु-
गन्धिनः ॥ २२॥ हंसेन्दुवर्णसदृशानायोजनसुदर्शनान् । असम्बा-
धान् समद्वारान् युतानुच्चावचैर्गुणैः ॥२३॥ बहुधातुनिबद्धाङ्गान्
हिमवच्छिखरानिव।विश्रान्तास्ते ततोऽपश्यन् भूमिपाःभूरिदक्षिणम्
२४ वृतं सदस्यैर्बहुभिर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् । तत्सदः पार्थिवैः कीर्णं
ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः।भ्राजते स्म तदा राजन् नाकपृष्ठं यथामरैः।२५

इति सभापर्वणि राजसूयिकपर्वणि निमन्त्रितराजागमने चतु-
स्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

कैलासके शिखरकी समान ऊँची, योजनभरसे दीखनेवाली रमणीय और सब प्रकारकी सामग्रीसे युक्त थी उन स्थानोंके चारोंओर चूनेकी पुताईसे स्वेत अतिऊँचा परकोटा बना हुआ था, उनके झरोखोंमें सुनहरी जाल बनेहुए थे और मणियों की जड़ाई होरही थी. उन सबोंके द्वार एकसे बनाये गए थे, दीवारें नानाप्रकारकी धातुओंसे बनी थीं और सीढ़ियें ऐसीं सुडौल बनी थीं, कि—उनपर चढ़नेमें जरा भी परिश्रम नहीं मालूम होता था, उनमें बहुमूल्य आसन बिछे हुए थे, वह सब स्थान अति मनोहर राजसी सामानसे सजेहुए और पुष्पमालाओंसे भूषित होनेके कारण अपूर्व छटा दिखारहे थे, अगरकी उत्तम गंधसे चारों दिशा महक रही थीं, उन हिमालयके शिखरों की समान रमणीय महलोंमें विश्राम करके राजाओंने परमरमणीय सभाकी शोभाको देखा और उस सभामें बहुतसे सदस्य, राजे, ब्राह्मण और महर्षियोंके मध्यमें मान विराजमान बहुत दक्षिणावाले राजसूय यज्ञ के कर्त्ता धर्मराज युधिष्ठिरको देखा, हे महाराज ! उस समय युधिष्ठिर देवताओंके मध्यमें बैठे इन्द्रकी समानशोभा पारहेथे ॥१८–२५॥

चतुस्त्रिंश अध्याय समाप्त ॥ ३४ ॥ छ ॥ छ

वैशम्पायन उवाच । पितामहं गुरुञ्चैव प्रत्युद्गम्य युधिष्ठिरः । अभिवाद्य ततो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥ भीष्मं द्रोणं कृपं द्रौणिं दुर्योधनविविंशती । अस्मिन्यज्ञे भवन्तो मामनुगृह्णन्तु सर्वशः ॥ २ ॥ इदं वसु महच्चैव यदिहास्ति धनं मम । प्रणयन्तु भवन्तो मां यथेष्टमभिमन्त्रिता ॥ ३ ॥ एवमुक्त्वा स तान् सर्वान् दीक्षितः पाण्डवाग्रजः । युयोज स यथायोगमधिकारेष्वनन्तरम् ॥४॥ भक्ष्यभोज्याधिकारेषु दुःशासनमयोजयत् । परिग्रहे ब्राह्मणानामश्वत्थामानमुक्तवान् ॥ ५ ॥ राज्ञान्तु प्रतिपूजार्थं सञ्जयं संन्ययोजयत् । कृताकृतपरिज्ञाने भीष्मद्रोणौ महामती ॥ ६ ॥ हिरण्यस्य सुवर्णस्य रत्नानां चान्ववेक्षणे । दक्षिणानाञ्च वै दाने कृपं राजा न्ययोजयत् ॥ ७ ॥ तथान्यान् पुरुषव्याघ्रांस्तस्मिंस्त-

वैशम्पायनजीने कहा कि—हे राजन् ! तदनन्तर युधिष्ठिरने भीष्मपितामह और गुरु द्रोणाचार्यको प्रणाम करके यह कहा कि- ॥१॥ भीष्मजी, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, दुर्योधन और विविंशति आप सब इस यज्ञके करनेमें सब कर्मोंमें मेरी सहायता करें ।२। यह यहां मेरा बड़ाभारी धनभण्डार है.इसको आप अपना ही समझें और आप इस प्रकार काम करें, कि—जिसमें मेरा नाम हो ॥३ ॥ यज्ञमें दीक्षित राजा युधिष्ठिरने ऐसा कहकर उन सबों को योग्यताके अनुसार एक एक काम काम सौंपदिया ॥ ४ ॥ दुःशासन को भोजनके पदार्थोंका देखभाल पर रक्खा, अश्वत्थामा से कहा, कि-तुम ब्राह्मणोंकी शुश्रूषा करो ॥ ५ ॥ राजाओंके सत्कारका काम संजयको सौंपा, परमप्रवीण भीष्म और द्रोणाचार्यजीसे कहा, कि-सब काम ठीक २ होते हैं या नहीं, आप इसकी देखभाल रक्खें ॥ ६ ॥ सोना, चांदी और रत्नोंकी देखभाल तथा दक्षिणा देनेके काम पर कृपाचार्य को नियुक्त किया ॥७॥ इसीप्रकार अन्य प्रसिद्ध२ पुरुषोंको दूसरे कामों पर नियत किया नकुलके बुलाकर लायेहुए बाह्लीक, धृतराष्ट्र, सोमदत्त

स्मिन्न्योजयत् । बाह्लिको धृतराष्ट्रश्च सोमदत्तो जयद्रथः ॥ ८ ॥ नकुलेन समानीताः स्वामिवत्तत्र रेमिरे । क्षत्ता व्ययकरस्त्वासीद्विदुरः सर्वधर्मवित् ॥ ९ ॥ दुर्य्योधनस्त्वर्हणानि प्रतिजग्राह सर्वशः चरणक्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्यभूत् ॥ १० ॥ सर्वलोकः समावृत्तः पिप्रीषुः फलमुत्तमम् । द्रष्टुकामः सभाञ्चैव धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥११॥ न कश्चिदाहरत्तत्र सहस्रावरमर्हणम् । रत्नैश्च बहुभिस्तत्र धर्मराजमवर्द्धयत् ॥ १२ ॥ कथन्तु मम कौरव्यो रत्नदानैः समाप्नुयात् । यज्ञमित्येव राजानः स्पर्द्धमाना ददुर्धनम् ॥ १३ ॥ भवनैः सविमानाग्रैः सोदर्कैर्बलसंवृतैः । लोकराजविमानैश्च ब्राह्मणावसथैः सह ॥१४॥ कृतैरावसथैर्दिव्यैर्विमानप्रतिमैस्तथा । विचित्रैरत्नवद्भिश्च ऋद्ध्या परमया युतैः ॥ १५ ॥ राजभिश्च समावृत्तैरतीव श्रीसमृद्धिभिः । अशोभत सदो राजन् कौन्तेयस्य महात्मनः ॥ १६ ॥ ऋद्ध्या च वरुणं देवं स्पर्द्धमानो युधिष्ठिरः ।

और जयद्रथ घरके स्वामीकी समान विराजमान रहे पूर्णरूपसे धर्मके ज्ञाता महात्मा विदुरजीको खर्च करने पर नियत किया ॥८-९॥ भेंटमें आयेहुए पदार्थोंको लेकर रखनेका काम दुर्योधन को सौंपा और श्रीकृष्णजीने आप ही ब्राह्मणोंके चरण धोनेका काम लिया ॥ १० ॥ सभाकी शोभा और धर्मराज युधिष्ठिरका दर्शन करके परम फल पाने की आशासे वहां जितना जन-समुदाय इकट्ठा हुआ था, उनमेंसे किसीने भी सहस्रोंसे कमकी भेंट नहीं दी उन सबोंने ही अनेकों रत्न समर्पण करके राजा युधिष्ठिरका सन्मान बढ़ाया ॥ ११ ॥ १२ ॥ महाराज युधिष्ठिर मेरे दिये हुए रत्नोंसे ही यज्ञको पूर्ण करें मन मनमें ऐसी स्पर्धा करके सब राजाओंने बहुतसा धन दिया ॥ १३ ॥ सेनासे घिरी हुई विमानोंकी समान विचित्र, रत्न और नानाप्रकारकी सामग्रियोंसे भरपूर उस रमणीय महलोंकी माला. लोकपालोंके विमान ब्राह्मणोंके स्थान और आये हुए ऐश्वर्यवान् राजाओंसे महात्मा युधिष्ठिरके यज्ञकी बड़ी भारी शोभा हुई॥ १४–१६॥ऐश्वर्य

षडग्निनाथ यज्ञेन सोऽयजद्दक्षिणावता ॥ १७ ॥ सर्वान् जनान् सर्वकामैः समृद्धैः समतर्पयत् । अन्नवान् बहुभक्ष्यश्च भुक्तवज्जनसंवृतः ॥ १८ ॥ रत्नोपहारसम्पन्नो बभूव स समागमः । तिलाज्यहोमाहुतिभिर्मन्त्रशिक्षाविशारदैः ॥ १९ ॥ तस्मिन् हि ततृपुर्देवास्तते यज्ञे महर्षिभिः। यथा देवास्तथा विप्रा दक्षिणान्नमहाधनैः। ततृपुः सर्ववर्णाश्च तस्मिन्यज्ञे मुदान्विताः ॥ २० ॥ छ ॥ छ ॥

सभापर्वणि राजसूयिकपर्वणि यज्ञकरणे पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

समाप्तञ्च राजसूयिकपर्व ॥

अथार्घाहरणपर्व ।

वैशम्पायन उवाच । ततोऽभिषेचनीयेऽह्नि ब्राह्मणाः राजभिः सह । अन्तर्वेदीं प्रविविशुः सत्कारार्हा महर्षयः॥१॥ नारदप्रमुखास्तस्यामन्तर्वेद्यां महात्मनः । समासीनाः शुशुभिरे सह राजर्षि-

---

से वरुणदेवकी बराबरी करते हुए राजा युधिष्ठिरने छः अग्नियों वाले-यज्ञमें पूरी २ दक्षिणा देकर भगवान्का यजन किया ॥१७॥ राजा युधिष्ठिरने आये हुए लोगोंको इच्छानुकूल पदार्थ देकर सन्तुष्ट किया उन आये हुए पुरुषोंके खा पी लेनेपर भी बहुत सा भोजन और अन्न बच रहा ॥ १८ ॥ उस महोत्सवकी भेटोंमें सब पदार्थ रत्नरूप ही आये महर्षियोंके द्वारा उत्तम रीतिसे किये हुए उस यज्ञमें मंत्रशिक्षामें प्रवीण ब्राह्मणोंके तिल घृत आदि साकल्यकी आहुति देनेपर देवता तृप्त हुए और तिसी प्रकार दक्षिणामें बहुतसा धन पाकर ब्राह्मण भी तृप्त हुए अधिक क्या कहैं उस यज्ञमें आयेहुए सब वर्णोंके पुरुष परमप्रसन्न हुए॥१९-२०॥ पञ्चत्रिंश अध्याय समाप्त ॥ ३५ ॥ छ ॥ छ

वैशम्पायनजी कहते हैं कि— तदनन्तर अभिषेकके दिन मान्य महर्षि ब्राह्मण और राजे इकट्ठे होकर भीतर यज्ञमण्डपमें गए ॥ १ ॥ प्रसिद्ध २ राजाओंके साथ वहां बैठेहुए नारद आदि

गिरस्तदा ॥ २ ॥ समेता ब्रह्मभवने देवा देवर्षयस्तथा । कर्मान्तरमुपासन्तो जजल्पुरमितौजसः ॥ ३ ॥ एवमेतन्न चाप्येवमेवञ्चैतन्न चान्यथा । इत्यूचुर्बहवस्तत्र वितण्डा वै परस्परम् ॥ ४ ॥ कृशानर्थांस्ततः केचिदकृशांस्तत्र कुर्वते । अकृशांश्च कृशांश्चक्रुर्हेतुभिः शास्त्रनिश्चयैः ॥ ५ ॥ तत्र मेधाविनः केचिदर्थमन्यैरुदीरितम् । विचिच्छिपुर्यथा श्येना नभोगतमिवामिषम् ॥ ६ ॥ केचिद्धर्मार्थकुशला केचित्तत्र महाव्रताः। रेमिरे कथयन्तश्च सर्वभाष्यविदां वराः ॥७॥ सा वेदिर्वेदसम्पन्नैर्देवद्विजमहर्षिभिः । आबभासे समाकीर्णा नक्षत्रैर्द्यौरिवायता ॥ ८ ॥ न तस्यां सन्निधौ शूद्रः कश्चिदासीन्न चाव्रती । अन्तर्वेद्यां तदा राजन् युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ९ ॥ तान्तु लक्ष्मीवतो लक्ष्मीं तदा यज्ञविधानजाम् । तुतोष नारदः पश्यन्

महात्मा बड़े अच्छे मालूम होते थे ॥२॥ परमतेजस्वी देवता और देवर्षि ब्रह्माजीकी सभामें बैठकर किसी कार्यका विचार करते हुए नाना प्रकारकी बातें कहरहे थे ॥ ३ ॥ कोई कहते थे यह ऐसे ही ठीक है कोई कहते थे इसप्रकार ठीक नहीं है इस प्रकार तहां बैठे हुए बहुतसे विद्वान् अपनी २ कहकर वितण्डावाद करने लगे ॥४॥ कोई शास्त्रानुसार युक्तियें दिखाकर साधारण अर्थमें गौरव और गौरवमें लाघव दिखानेलगे ॥ ५ ॥ कोई २ बुद्धिमान् दूसरोंकी कही हुई बातको इसप्रकार पकड़ते थे, कि-जैसे बाजपक्षी आकाश में मांसको पकड़ता है ॥ ६ ॥ उनमें कोई धर्मार्थमें प्रवीण, कोई महाव्रतधारी और कोई सकल भाष्योंको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ थे वह भी शास्त्रचर्चा करके अमोद करनेलगे ॥ ७ ॥ वेदवेत्ता ब्राह्मण महर्षि और देवताओंसे भरीहुई वह वेदी, तारागणोंसे भरेहुए आकाशकी समान शोभायमान हुई ॥ ८ ॥ हे महाराज ! उस समय युधिष्ठिरके यहां भीतर यज्ञवेदीमें न कोई शूद्र था और न कोई उपनयनहीन द्विज था ॥ ९ ॥ देवर्षि नारदजी, परमबुद्धि-

धर्मराजस्य धीमतः ॥ १० ॥ अथ चिन्तां समापेदे स मुनिर्मनुजा
धिप । नारदस्तु तदापश्यन् सर्वक्षत्रसमागमम् ॥ ११ ॥ सस्मार
च पुरावृत्तां कथान्तां पुरुषर्षभ । अंशावतरणे यासौ ब्रह्मणो भवने-
ऽभवत् ॥ १२ ॥ देवानां सङ्गमं तन्तु विज्ञाय कुरुनन्दन । नारदः
पुण्डरीकाक्षं सस्मार मनसा हरिम् ॥ १३ ॥ साक्षात् स विबुधा
रिघ्नः क्षत्रे नारायणो विभुः । प्रतिज्ञां पालयंश्चेमां जातः पर
पुरञ्जयः ॥१४॥ सन्दिदेश पुरा योऽसौ विबुधान् भूतकृत् स्वयम्।
अन्योन्यमभिनिघ्नन्तः पुनर्लोकानवाप्स्यथ ॥१५॥ इति नारायणः
शम्भुर्भगवान् भूतभावनः । आदिश्य विबुधान् सर्वानजायत
यदुक्षये ॥ १६ ॥ क्षितावन्धकवृष्णीनां वंशे वंशभृतां वरः । परया
शुशुभे लक्ष्म्या नक्षत्राणामिवोडुराट् ॥१७॥ यस्य बाहुबलं सेन्द्राः

मान् श्रीमान् धर्मराजके यज्ञानुष्ठानकी शोभाको देखकर बड़े प्रसन्न
हुए ॥१०॥ हे महाराज ! तदनन्तर सकल क्षत्रियोंके समागम
को देखकर कुछ चिन्तासी करनेलगे ॥ ११ ॥ और हे महाराज !
पहिले ब्रह्माजीके यहां भगवान्के अंशावतारके विषयकी जो कथा
सुनी थी इस समय वह याद आगई ॥ १२ ॥ हे जनमेजय ! उस
समय तिस क्षत्रियोंके समागमको देवताओंका समागम जानकर
नारदजीने मन ही मनमें पुण्डरीकाक्ष श्रीहरिका स्मरण किया।१३
देवताओंके शत्रु दानवोंका नाश करनेवाले सर्वव्यापी नारायण
ने अपनी प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिये स्वयं शत्रुविजयी क्षत्रिय
कुलमें अवतार लिया ॥१४॥ पहिले जिन जगत्कर्ताने स्वयं देव-
ताओंको आज्ञा दी थी, कि—तुम मृत्युलोकमें जाकर परस्पर
प्राणहिंसा करतेहुए फिर अपने २ लोकमें आजाओगे ॥ १५ ॥
जगत्पति भगवान् नारायणने इसप्रकार देवताओंको आज्ञा देकर
स्वयं यदुकुलमें अवतार लिया॥१६॥जैसे तारागणोंमें चन्द्रमा शोभा
पाता है, तैसे ही कुलीनोंमें श्रेष्ठ भगवान् अंधक और वृष्णियोंके
वंशमें शोभासे दिपनेलगे ॥ १७ ॥ इन्द्र आदि सकल देवता जिन

सुराः सर्व उपासते । सोऽयं मानुषवन्नाम हरिरास्तेऽरिमर्दनः॥१८॥ अहोनत् समुद्भूतं स्वयम्भूर्यदिदं स्वयम् । आदास्यति पुनः क्षत्रमेवं बलसमन्वितम्॥१९॥ इत्येतां नारदश्चिन्तां चिन्तयामास सर्ववित् । हरिं नारायणं ध्यात्वा यज्ञैरीड्यन्तमीश्वरम्॥२०॥तस्मिन् धर्मविदां श्रेष्ठो धर्मराजस्य धीमत । महाध्वरे महाबुद्धिस्तस्थौ स बहुमानतः २१ ततो भीष्मोऽब्रवीद्राजन् धर्मराजं युधिष्ठिरम् । क्रियतामर्हणं राज्ञां यथार्हमिति भारत॥२२॥ आचार्यमृत्विजं चैव संयुजञ्च युधिष्ठिर । स्नातकञ्च प्रियं प्राहुः षडर्घार्हान्नृपं तथा ।२३॥एतानर्घ्यानभिगतानाहुः सम्वत्सरोषितान् । त इमे कालपूगस्य महतोऽस्मानुपागताः ॥ २४ ॥ एषामेकैकशो राजन्नर्घ आनीयतामिति । अथ चैषां वरिष्ठाय समर्थायोपनीयताम् ॥ २५ ॥ युधिष्ठिर उवाच । कस्मै

के भुजबलका भरोसा रखते हैं वह ही दैत्यनाशी भगवान् इस समय मनुष्योंकेसा नाम धारण कियेहुए हैं॥१८॥कैसी आश्चर्यकी बात है, कि-भगवान् स्वयंभू फिर आप ही इन बलधारी क्षत्रियों का क्षय करेंगे ॥ १९ ॥ जिनके लिये लोग याग यज्ञादि का अनुष्ठान करते है वही यज्ञेश्वर भगवान् स्वयं आकर बड़े सन्मान के साथ बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरके यज्ञमहोत्सवमें विराजमान हैं, सर्वज्ञ नारदजी श्रीहरि नारायणका स्मरण करके इस प्रकार चिन्तवन करनेलगे॥ २० ॥ २१ ॥ हे राजन् ! भीष्मपितामहने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा, कि-हे भारत ! राजाओंका यथोचित पूजन करना चाहिये॥ २२ ॥ हे युधिष्ठिर ! आचार्य, ऋत्विक्, संबन्धी,ब्रह्मचारी,राजा और प्रियपुरुष यह छः यदि एकर वर्षके बाद अपने यहां आवें तो अर्घके योग्य होते हैं सो यह अर्घ पानेकी इच्छासे बहुत दिनोंसे हमारे अनुगामी मित्र बनेहुए हैं। २३ २४॥ इस कारण हे राजन् ! इन सबोंके लिये एकर अर्घा मंगवाइये और जो इनमें सबसे श्रेष्ठ और समर्थ हो पहिले उसका ही पूजन करो ॥२५॥यह सुनकर युधिष्ठिरने कहा, कि-हे पितामह ! बताइये कि-

भवान् मन्यतेऽर्घमेकस्मै कुरुनन्दन। उपनीयमानं युक्तं च तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ २६ ॥ वैशम्पायन उवाच। ततो भीष्मः शांतनवो बुद्ध्या निश्चित्य वीर्यवान्। वार्ष्णेयं मन्यते कृष्णमर्हणीयतमं भुवि ॥ २७ ॥ एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः। मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः ॥ २८ ॥ असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना। भासितं ह्लादितञ्चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः ॥२९॥तस्मै भीष्माभ्यनुज्ञातः सहदेवः प्रतापवान्। उपजह्रेऽथ विधिवद्वार्ष्णेयायार्घमुत्तमम्॥३०॥प्रतिजग्राह तत् कृष्णः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा॥ शिशुपालस्तु तां पूजां वासुदेवे न चक्षमे ३१॥स उपालभ्य भीष्मञ्च धर्मराजञ्च संसदि। अपाक्षिपद्वासुदेवं चेदिराजो महाबलः ॥ ३२ ॥

इति सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि कृष्णार्घदाने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

आये हुए सबविधियोंमेंसे आप किसको प्रथम पूजनके योग्य समझते हैं॥२६॥वैशम्पायन कहते हैं कि-यह सुनकर शन्तनुकुमार वीरभीष्म जीने अपनी बुद्धिसे निश्चय करके कहा, कि-मैं तो भूमण्डलभरमें वृष्णिवंशी श्रीकृष्णजीको सबसे प्रथम पूजनके योग्य समझता हूं ।२७।जैसे सकल ज्योतियोंमें सूर्यकी कान्ति सबसे अधिक दमकती है तैसे ही इन सब लोगोंमें तेज बल और पराक्रमके विषयमें श्रीकृष्ण ही सबसे श्रेष्ठ हैं॥२८॥जैसे अन्धकारके स्थानमें सूर्यका प्रकाश होजानेपर लोगोंका अन्तःकरण प्रफुल्ल होजाता है और जैसे वायुहीन स्थानमें स्वच्छवायु चलने पर परम आनन्द होता है, तैसे ही श्रीकृष्णजीके आजानेसे यह हमारी सभा शोभायमान और प्रसन्न होरही है॥२९॥ इसप्रकार भीष्मजीके आज्ञा देनेपर प्रतापी सहदेवने उन जगदीश कृष्णको मुख्य अर्घ दिया ॥३०॥ और श्रीकृष्णजीने उस अर्घको शास्त्रोक्त विधिसे ग्रहण किया, परन्तु शिशुपालको वह कृष्णका पूजन सह्य नहीं हुआ ॥ ३१ ॥ वह महाबली शिशुपाल भरी सभामें भीष्म, युधिष्ठिर और श्रीकृष्णकी निंदा करने लगा ॥३२॥ षट्त्रिंश अध्याय समाप्त ३६

शिशुपाल उवाच । नायमर्हति वार्ष्णेयस्तिष्ठत्स्विह महात्मसु । महीपतिषु कौरव्य राजवत् पार्थिवार्हणम् ॥ १ ॥ नायं युक्तः समाचारः पाण्डवेषु महात्मसु । यत्कामात् पुण्डरीकाक्षं पांडवार्चितवानसि ॥ २ ॥ बाला यूयं न जानीध्वं धर्मः सूक्ष्मो हि पांडवाः । अयं च स्मृत्यतिक्रान्तो ह्यापगेयोऽल्पदर्शनः ॥ ३ ॥ त्वादृशो धर्मयुक्तो हि कुर्वाणः प्रियकाम्यया । भवत्यभ्यधिकं भीष्म लोकेष्ववमतः सताम् ॥ ४ ॥ कथं ह्यराजा दाशार्हो मध्ये सर्वमहीक्षिताम् । अर्हणामर्हति तथा यथा युष्माभिरर्चितः ॥ ५ ॥ अथवा मन्यसे कृष्णं स्थविरं कुरुपुङ्गव । वसुदेवे स्थिते वृद्धे कथमर्हति तत्सुतः ॥ ६ ॥ अथवा वासुदेवोऽपि प्रियकामोऽनुवृत्तवान् । द्रुपदे तिष्ठति कथं माधवोऽर्हति पूजनम् ॥ ७ ॥ आचार्यं मन्यसे कृष्णमथवा कुरुनंदन । द्रोणे

शिशुपालने कहा, कि—हे पाण्डव ! इन सब योग्य राजाओंके विद्यमान होते हुए यह कृष्ण किसी प्रकार पूजाके योग्य नहीं होसकता ॥ १ ॥ तुमने जानकर पहिले कृष्णका पूजन करा है, परन्तु यह बात महात्मा पांडवोंके योग्य नहीं हुई ॥ २ ॥ हे पांडवो! तुम बालक हो इसकारण धर्मके तत्त्वको नहीं जानते हो, धर्म बड़ा सूक्ष्म पदार्थ है और यह भीष्म तो निकम्मे हैं क्यों कि— इनको अनुभव नहीं है और इनकी बुद्धि भी ठिकाने नहीं रही है ॥ ३ ॥ हे भीष्म ! तुम्हारे समान प्रिय करना चाहनेवाले धर्मात्मा पुरुषों का सज्जनोंके समाजमें बड़ा तिरस्कार होता है ॥ ४ ॥ जो कृष्ण कभी राजा नहीं हुआ उसका पूजन तुमने सब राजाओंमें पहिले कैसे किया ? और इसने भी सब राजाओंमें बैठकर पहिले पूजा कैसे कराली ॥ ५ ॥ और हे पाण्डव ! यदि कहो, कि कृष्ण वृद्ध हैं, तो इनसे भी बड़े वसुदेवजीके होते हुए यह उनका पुत्र पहिले पूजा पानेका अधिकारी कैसे होसकता है ? ॥ ६ ॥ हे कुरुनंदन ! कृष्ण सदा ही तुम्हारे सच्चे हितैषी हैं इसकारण इनका पहिले पूजन किया हो तो यह भी ठीक नहीं है, क्यों कि— द्रुपदके होतेहुए कृष्णकी पूजा नहीं होसकती ॥ ७ ॥ हे युधिष्ठिर !

तिष्ठति वार्ष्णेयं कस्मादर्चितवानसि ॥ ८ ॥ ऋत्विजं मन्यसे कृष्णमथवा कुरुनन्दन । द्वैपायने स्थिते वृद्धे कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया ॥ ९ ॥ भीष्मे शान्तनवे राजन् स्थिते पुरुषसत्तमे । स्वच्छन्दमृत्युके राजन् कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया ॥ १० ॥ अश्वत्थाम्नि स्थिते वीरे सर्वशास्त्रविशारदे । कथं कृष्णस्त्वया राजन्नर्चितः कुरुनन्दन ॥ ११ ॥ दुर्योधने च राजेन्द्रे स्थिते पुरुषसत्तमे । कृपे च भारताचार्ये कथं कृष्णस्त्वयार्चितः ॥ १२ ॥ द्रुमं किम्पुरुषाचार्य्यमतिक्रम्य तथार्चितः । भीष्मके चैव दुर्द्धर्षे पाण्डुवत् कृतलक्षणे ॥ १३ ॥ नृपे च रुक्मिणि श्रेष्ठे एकलव्ये तथैव च । शल्ये मद्राधिपे चैव कथं कृष्णस्त्वयार्चितः ॥ १४ ॥ अयञ्च सर्वराज्ञां वै बलश्लाघी महाबलः । जामदग्न्यस्य दयितः शिष्यो विप्रस्य भारत ॥ १५ ॥ येनात्मबल-

यदि कृष्णको आचार्य मानते हो तो तब भी द्रोणाचार्यके बैठेहुए तुमने पहिले कृष्णकी पूजा कैसे करी ? ॥ ८ ॥ अथवा हे कुरुनन्दन ! कृष्णको ऋत्विज् समझा हो तो भी वृद्ध द्वैपायनके बैठेहुए कृष्णकी पूजा करना तुमको उचित नहीं है ॥ ९ ॥ हे राजन् स्वाधीनमृत्यु शंतनुकुमार पुरुषोंमें श्रेष्ठ भीष्मजीके बैठेहुए तुमने कृष्णका पूजन कैसे किया ? ॥ १० ॥ हे राजन् युधिष्ठिर ! सकल शास्त्रोंके ज्ञाता वीर अश्वत्थामाके बैठे हुए तुमने कृष्णका पूजन कैसे किया ? ॥ १२ ॥ किंपुरुषोंके आचर्य द्रुमको लांघकर और पाण्डुकी समान मान्य, किसीसे दबाव न खानेवाले भीष्मकके होते हुए तुमने कृष्णका पूजन कैसे करदिया ? ॥ १३ ॥ राजा रुक्मी तथा श्रेष्ठ एकलव्य और मद्रपति शल्यके होतेहुए तुमने पहिले कृष्णका पूजन कैसे करदिया ? ॥ १४ ॥ सब राजाओंमें जिसके बलकी सराहना है जो प्रसिद्ध ब्राह्मण परशुरामका प्यारा शिष्य है और जिसने अपने बलके भरोसेपर रणभूमिमें सब क्षत्रियोंका तिरस्कार किया है उस महाबली कर्णको छोड़कर तुमने

माश्रित्य राजानो युधि निर्जिताः । तञ्च कर्णमतिक्रम्य कथं कृष्णस्त्वयार्चितः ॥ १६ ॥ नैव ऋत्विङ् न चाचार्यो न राजा मधुसूदनः । अर्चितश्च कुरुश्रेष्ठ किमन्यत् प्रियकाम्यया ॥ १७ ॥ अथवाभ्यर्चनीयोऽयं युष्माकं मधुसूदनः । किं राजभिरिहानीतैरवमानाय भारत ॥ १८॥ वयन्तु न भयादस्य कौन्तेयस्य महात्मनः । प्रयच्छामः करान् सर्वे न लोभान्न च सान्त्वनात् ॥१९॥ अस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः । करानस्मै प्रयच्छामः सोऽयमस्मान्न मन्यते ॥ २० ॥ किमन्यदवमानाद्धि यदेनं राजसंसदि । अप्राप्तलक्षणं कृष्णमर्घेणार्चितवानसि ॥ २१ ॥ अकस्माद्धर्मपुत्रस्य धर्मात्मेति यशो गतम् । को हि धर्मच्युते पूजामेवं युक्तां नियोजयेत् ॥ २२ ॥ योऽयं वृष्णिकुले जातो राजानं हतवान् पुरा । जरासन्धं महा-

कृष्णका पूजन कैसे किया ? ॥ १५ ॥ १६ ॥ यह कृष्ण न ऋत्विक् है, न राजा है, न आचार्य है हे युधिष्ठिर ! केवल प्रसन्न करनेके लिये तुमने कृष्णका पूजन किया है ॥१७॥ अथवा यदि कृष्णका प्रथम पूजन करनेका पहिलेसे ही तुमने अपने मनमें विचार कर लिया था तो फिर हे भारत! सब राजाओंको बुलाकर इनका अपमान क्यों किया ? ॥१८॥ हमने भी महात्मा युधिष्ठिरके भयसे समझानेसे वा किसी प्रकारके लोभसे कर नहीं दिया था किंतु राजा युधिष्ठिर धर्माचरणके प्रेमी है और साम्राज्य पद पाना चाहते हैं इसलिये कर देदिया था, परन्तु इन्होंने हमारा सम्मान नहीं रक्खा ॥ १९ ॥ इस राजसभामें अयोग्य कृष्णका पहिले पूजन कर दिया और इससे अधिक हमारे अपमानकी कौनसी बात होगी ? ॥ २१ ॥ युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं, यह यश जहां तहां झूठा फैल गया है, इसमें कुछ संदेह नहीं अथवा इन धर्मपुत्रका धर्मात्मापन जाता रहा, क्योंकि—कौनसा धर्मात्मा पुरुष, धर्मभ्रष्ट पुरुषकी इस प्रकार राजजनोंकीसी पूजा करेगा ? ॥२२॥ जो वृष्णिवंशमें उत्पन्न हुआ, जिसने पहिले महात्मा राजा जरासंधको अन्याय

त्वानमन्यायेन दुरात्मवान् ॥ २३ ॥ अथ धर्मात्मता चैव व्यपकृष्टा युधिष्ठिरात् । दर्शितं कृपणत्वं च कृष्णेऽर्घस्य निवेदनात् ॥ २४॥ यदि भीताश्च कौन्तेयाः कृपणाश्च तपस्विनः । ननु त्वयापि बोद्धव्यं यां पूजां माधवार्हसि ॥ २५ ॥ अथवा कृपणैरेतामुपनीतां जनार्दनः । पूजामनर्हः कस्मात्त्वमभ्यनुज्ञातवानसि ॥ २६ ॥ अयुक्तामात्मनः पूजां त्वं पुनर्बहु मन्यसे । हविषः प्राप्य निस्पन्दं प्राशिता श्वेव निर्जने॥२७॥न त्वयं पार्थिवेन्द्राणामपमानः प्रयुज्यते। त्वामेव कुरवो व्यक्तं प्रलम्भन्ते जनार्दनः ॥२८॥ क्लीवे दारक्रिया यादृगन्धे वा रूपदर्शनम् । अराज्ञो राजवत् पूजा तथा ते मधुसूदन ॥ २९ ॥ दृष्टो युधिष्ठिरो राजा दृष्टो भीष्मश्च यादृशः । वासुदेवोऽप्ययं दृष्टः सर्वमेतद्यथातथम्॥३०॥इत्युक्त्वा शिशुपालस्तानुत्थाय

से मारडाला ऐसे दुष्टात्मा कृष्णको अर्घ देनेसे आज युधिष्ठिरने अपनी नीचता दिखाई है और धर्मात्मापन सब नष्ट होगया ॥२३॥ ॥ २४ ॥ कुंतीके पुत्र तो डरपोक, नीचस्वभाव और तपस्वी हैं, परंतु हे कृष्ण ! तुमने जो आज अपनी पूजा कराई है, इसके योग्य तुम कैसे हो यह बात अब तुमको बताये देते हैं ॥ २५ ॥ अथवा हे कृष्ण! इन्होंने तो नीचताके कारण तुम्हारी पूजा करी परंतु तुमने अयोग्य होकर कैसे ग्रहण करली ॥ २६ ॥ जैसे छुपे हुए जरासा घी चाटकर कुत्ता अपनी सराहना करता है तैसे ही तुम अपनी अनुचित पूजाको बड़ी बात मानते हो ! ॥ २७ ॥ कृष्ण ! इसमें इन राजाओंका कुछ अपमान नहीं हुआ किन्तु स्पष्ट प्रतीत होता है, कि-ऐसा करके पाण्डवोंने तुम्हारी ही अप्रतिष्ठाकी है ॥२८॥ जैसे नपुंसकका विवाह करना और अन्धेका रूपको देखना निरर्थक है तैसे ही राज्यहीन का राजाका समान सन्मान करना मानो उसको लज्जित करना है ॥ २९॥ राजा युधिष्ठिर और भीष्मकी जैसी विद्या बुद्धि है उसको तथा जैसे कृष्ण हैं सो भी देखलिया वास्तवमें सब ज्यों त्यों ही हैं ॥ ३० ॥ शिशु-

परमासनात् । निर्ययौ सदसस्तस्मात्सहितो राजभिस्तदा ॥३१॥

इति सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि शिशुपालक्रोधे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततो युधिष्ठिरो राजा शिशुपालमुपाद्रवत् । उवाच चैनं मधुरं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ १ ॥ नेदं युक्तं महीपाल यादृशं वै त्वमुक्तवान् । अधर्मश्च परो राजन् पारुष्यं च निरर्थकम् ॥२॥ न हि धर्मं परं जातु नावबुध्येत पार्थिवः । भीष्मः शान्तनवस्त्वेनं मावमंस्थास्त्वमन्यथा ॥ ३ ॥ पश्य चैतान्महीपालांस्त्वत्तो वृद्धतरान्बहून् । मृष्यन्ते चार्हणां कृष्णे तद्वत्त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥ वेद तत्त्वेन कृष्णं हि भीष्मश्चेदिपते भृशम् । न ह्येनं त्वं तथा वेत्थ यथैनं वेद कौरवः ॥ ५ ॥ भीष्म उवाच । नास्मै देयो ह्यनुनयो

पाल उनसे ऐसा कहकर अपने आसनसे उठ खड़ा हुआ और राजाओंको साथ लिये हुए वहांसे चलनेको उद्यत हुआ ॥३१॥ सप्तत्रिंश अध्याय समाप्त ॥ ३७ ॥ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—तब राजा युधिष्ठिर शीघ्र ही उठ कर शिशुपालके पास गए और उसको समझाकर मधुर वाणीमें यह बात बोले कि—॥१॥ हे भूपाल ! तुमने जो कुछ कहा, यह बातें तुम्हें नहीं कहना चाहियें, क्योंकि—हे राजन् ! कठोर वचन कहना अधर्म और निरर्थक बात है ॥ २ ॥ प्रतीत होता है इस बातको तुम जानते ही नहीं, कि—धर्म किसको कहते हैं, नहीं तो तुम इन शान्तनुनन्दन भीष्मपितामहका तिरस्कार नहीं करते ॥ ३ ॥ देखो यह बहुतसे राजे जो तुमसे अवस्थामें बड़े हैं इनमेंसे किसीको भी कृष्णका पूजन बुरा नहीं मालूम हुआ, इसकारण इस विषयमें तुमको भी शान्त होना चाहिये ॥ ४ ॥ हे चेदिराज ! श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको भीष्मजी ही ठीक २ जानते हैं, जैसा यह जानते हैं तैसा तुम नहीं जानते ॥ ५ ॥ भीष्मने कहा, कि—हे

नायमर्हति सान्त्वनम् । लोकवृद्धतमे कृष्णे योऽर्हणां नाभिमन्यते ॥ ६ ॥ क्षत्रियः क्षत्रियं जित्वा रणे रणकृतां वर । यो मुञ्चति वशे कृत्वा गुरुर्भवति तस्य सः ॥ ७ ॥ अस्यां हि समितौ राज्ञामेकमप्यजितं युधि । न पश्यामि महीपालं सात्वतीपुत्रतेजसा ॥ ८ ॥ न हि केवलमस्माकमयमर्च्यतमोऽच्युतः । त्रयाणामपि लोकानामर्चनीयो महाभुजः ॥ ९ ॥ कृष्णेन हि जिता युद्धे बहवः क्षत्रियर्षभाः । जगत्सर्वञ्च वार्ष्णेये निखिलेन प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥ तस्मात् सत्स्वपि वृद्धेषु कृष्णमर्चाम नेतरान् । एवं वक्तुं न चार्हस्त्वं मा तेऽभूद्बुद्धिरीदृशी ॥ ११ ॥ ज्ञानवृद्धा मया राजन् बहवः पर्युपासिताः । तेषां कथयतां शौरेरहं गुणवतो गुणान् ॥ १२ ॥ समागतानामश्रौषं

युधिष्ठिर ! सब लोकोंमें बड़े माने जानेवाले कृष्णकी पूजाको जो अच्छा नहीं मानता, ऐसे पुरुषसे विनय करना वा उसको समझाना निरर्थक है, ॥ ६ ॥ जो युद्ध करनेवालोंमें प्रतिष्ठित क्षत्रिय अन्य क्षत्रियको संग्राममें जीतकर अपने वशमें करके छोड़ देताहै वह उस हारनेवाले क्षत्रियका गुरु होता है ॥ ७ ॥ राजाओंकी बड़ी भारी सभामें ऐसा एक भी राजा नहीं मालूम होता, जिसको कृष्णने अपने तेजोबलसे न जीता हो ॥ ८ ॥ यह अच्युत केवल हमारे ही परमपूज्य नहीं हैं, किंतु यह महाबाहु त्रिलोकीभरके पूज्य हैं ॥ ९ ॥ इन कृष्णने संग्राममें बहुतसे वीर क्षत्रियोंको जीता है और सकल संसार इन कृष्णके आश्रयसे ही टिक रहा है ॥ १० ॥ इसकारण और २ अधिक अवस्थावालोंके विद्यमान होते हुए भी हमने श्रीकृष्णजीका पूजन पहिले किया है औरोंका नहीं किया, इस पर तुम्हारा ऐसा घमंड दिखाना बहुत ही अनुचित है अब आगेको तुम्हारी ऐसी उलटी बुद्धि न होनी चाहिये ॥ ११ ॥ हे राजन् ! मैंने बहुतसे ज्ञानवृद्ध साधुपुरुषोंका समागम किया है, और उनसे सकल गुणोंके आधार श्रीकृष्णजीकी बड़ी प्रशंसा सुनी है ॥ १२ ॥ श्रीकृष्णने जन्मसे लेकर अबतक जितने चरित्र

बहून् बहुमतान्सताम् । कर्माण्यपि च यान्यस्य जन्मप्रभृति धीमतः ॥ १३ ॥ बहुशः कथ्यमानानि नरैर्भूयः श्रुतानि मे । न केवलं वयं कामाच्चेदिराज जनार्दनम् ॥ १४ ॥ न सम्बन्धं पुरस्कृत्य कृतार्थं वा कथञ्चन । अर्चामहेऽर्चितं सद्भिर्भुवि भूतसुखावहम् ॥१५॥ यशः शौर्यं जयं चास्य विज्ञायार्चां प्रयुंज्महे । न च कश्चिदिहास्माभिः सुबालोऽप्यपरीक्षितः ॥ १६ ॥ गुणैर्वृद्धानतिक्रम्य हरिरर्च्यतमो मतः । ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः ॥१७ वैश्यानां धान्यधनवान् शूद्राणामेव जन्मतः । पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ ॥ १८ ॥ वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाभ्यधिकं तथा । नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते ॥ १९ ॥ दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा । सन्नतिः श्रीर्धृति-

किये हैं उन सत्पुरुषोंके मान्य चरित्रोंको मैंने अभ्यागत सज्जनों से अनेकों बार सुना है हे चेदिराज ! हमने केवल किसी कामनासे ही कृष्ण का पूजन नहीं किया है ॥ १३ ॥ १४ ॥ कृष्णकी अवस्था थोड़ी होनेपर भी हमने इनकी परीक्षा कर देखी है कृष्ण की शूरता, वीरता, कीर्त्ति और विजय आदि सब कुछ समझकर इन सकल प्राणियोंके सुखदाता जगत्भरके पूजनीय अच्युतकी पूजा करी है, नहीं तो किसीप्रकारके सम्बन्धका ध्यान देकर अथवा बदलेमें कोई उपकार पानेकी आशासे हमने इनका सत्कार नहीं किया है ॥ १५ ॥ १६ ॥ गुणोंकी अधिकताके कारण वृद्धोंको लांघकर भी कृष्णका पूजन करना चाहिये ब्राह्मणोंमें अधिक ज्ञानी और क्षत्रियोंमें अधिकबलवाला ॥१७॥ वैश्योंमें अधिक धनवाला और शूद्रोंमें केवल अवस्थामें बड़ा ही सन्मान पाने योग्य होता है, परन्तु कृष्णमें पूजनीय होनेके दो हेतु हैं ॥ १८ ॥ यह सकल वेद वेदाङ्गोंके पारगामी हैं और सबसे अधिक बली हैं, सार यह है कि—मनुष्यलोकमें कृष्णसे अधिक विद्वान् और बली है ही कौन ? ॥१९॥ दान, चतुराई, विद्या, शूरता, लज्जा, कीर्त्ति, उत्तम

स्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते ॥ २० ॥ तमिमं लोकसम्पन्नमाचार्य्यं पितरं गुरुम् । अर्घ्यमर्चितमर्चार्हं सर्वे संक्षन्तुमर्हथ ॥२१॥ऋत्विग् गुरुर्विवाह्यश्च स्नातको नृपतिः प्रियः । सर्वमेतद्धृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः ॥ २२ ॥ कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाव्ययः । कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम् ॥ २३ ॥ एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्त्ता चैव सनातनः । परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः ॥ २४ ॥ बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या । चतुर्विधं च यद् भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ २५ ॥ आदित्यश्चन्द्रमाश्चैव नक्षत्राणि ग्रहाश्च ये । दिशश्च विदिशश्चैव सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ २६ ॥ अग्निहोत्रमुखाः वेदा गायत्रीच्छन्दसां मुखम् । राजा मुखं मनुष्याणां नदीनां सागरो मुखम् २७ नक्षत्राणां मुखं

बुद्धि, विनय, अनुपम शोभा, धीरज, संतोष और पुष्टि आदि सब ही गुण कृष्णमें सदा विराजमान रहते हैं ॥ २० ॥ इस कारण ऐसे सकलगुणसंपन्न, आचार्य, पिता और गुरुस्वरूप जगत्पूजित कृष्ण अर्घ और पूजाके योग्य हैं, ऐसा तुम सबको ही मानना चाहिये ॥ २१ ॥ यह ऋत्विक्, गुरु, संबन्धी स्नातक राजा और प्रीतिपात्र हैं इसीकारण इन अच्युत कृष्णका पूजन किया है ॥ २२ ॥ कृष्ण ही इस चराचर विश्वकी रचना, पालन और प्रलय करते हैं और यह चराचर भूतरूप विश्व कृष्णके ही आधार पर है ॥ २३॥ कृष्ण ही अव्यक्त प्रकृति, सनातन, कर्त्ता, और सकल प्राणियोंके अधीश्वर हैं इसकारण निःसंदेह परम पूजनीय हैं ॥ २४ ॥ बुद्धि, मन, महत्तत्त्व, वायु, तेज, जल, आकाश, और पृथिवी तथा चारों प्रकारके जितने प्राणी हैं सब ही कृष्णके आधारसे ठहरे हुए हैं ॥ २५ ॥ सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, दिशा, विदिशा सब ही एकमात्र कृष्णके आधारसे टिके हैं ॥ २६ ॥ जैसे चारों वेदोंका अग्निहोत्र, छन्दोंका गायत्री, मनुष्योंका राजा और नदियोंका समुद्र मुख है ॥ २७ ॥ जैसे

चन्द्र आदित्यस्तेजसां मुखम्। पर्वतानां मुखं मेरुर्गरुडः पततां मुखम् ॥२८॥ ऊर्ध्वन्तिर्य्यगधश्चैव यावती जगतो गतिः। सदेवकेषु लोकेषु भगवान् केशवो मुखम् ॥ २६ ॥ अयन्तु पुरुषो बालः शिशुपालो न बुध्यते। सर्वत्र सर्वदा कृष्णं तस्मादेवं प्रभाषते ॥३०॥यो हि धर्मं विचिनुयादुत्कृष्टं मतिमान्नरः। स वै पश्येद्यथा धर्मं न तथा चेदिराडयम् ॥ ३१ ॥ स वृद्धबालेष्वथवा पार्थिवेषु महात्मसु। को नार्हं मन्यते कृष्णं को वाप्येनं न पूजयेत् ॥३२॥ अथैनां दुष्कृतां पूजां शिशुपालो व्यवस्यति। दुष्कृतायां यथा न्याय्यं तथायं कर्त्तुमर्हति ॥ ३३ ॥

इति सभापर्वण्यर्घाभिहरणपर्वणि भीष्मवाक्येऽष्टत्रिंशो-ऽध्यायः ॥३८॥

वैशम्पायन उवाच। एवमुक्त्वा ततो भीष्मो विरराम महायशाः।

नक्षत्रोंका चन्द्रमा, सकल ज्योतियोंका सूर्य, पर्वतोंका मेरु और पक्षियोंका गरुड़ मुख है तैसे ही त्रिलोकीमें ऊपर, इधर उधर, नीचे जितनी गति कही हैं, देवलोक पर्यन्त सब ही लोकोंके भगवान् केशव मुखरूप हैं ॥ १८—१६ ॥ और यह शिशुपाल तो बालककी समान नासमझ पुरुष है यह नहीं जानता कि-कृष्ण अविनाशी और सर्वव्यापी हैं, तभी तो ऐसा कहरहा है ॥ ३० ॥ जो बुद्धिमान् पुरुष उत्तम धर्मकी खोज करते हैं वह जैसे धर्मका मर्म समझसकते हैं, चेदिराज तैसा नहीं समझ सकता ॥ ३१ ॥ बालकसे लेकर बूढ़े पर्यन्त और सकल महात्मा राजाओंमें कौन कृष्णको पूजनीय नहीं मानता है और कौन इनकी पूजा नहीं करैगा ॥ ३२ ॥ हां एक शिशुपाल ही इस पूजाको अनुचित मानता है यदि हमने अनुचित पूजाकी है तो अब यह जो उचित समझै सो करलेय ॥ ३३ ॥ अष्टत्रिंश अध्याय समाप्त ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-हे जनमेजय! महायशी भीष्मजी तो ऐसा कहकर चुप होरहे, तब इसके उत्तरमें सहदेवने अर्थभरा

,व्याजहारोत्तरं तत्र सहदेवोऽर्थवद्वचः ॥ १ ॥ केशवं केशिहन्तार मप्रमेयपराक्रमम् । पूज्यमानं मया यो वः कृष्णं न सहते नृपाः॥२॥ सर्वेषां बलिनां मूर्ध्नि मयेदं निहतं पदम् । एवमुक्ते मया सम्यगु त्तर मब्रवीतु सः ॥३॥ मतिमन्तश्च ये केचिदाचार्यं पितरं गुरुम् । अर्च्यमर्चितमर्हार्हमनुजानन्तु ते नृपाः॥४॥ततो न व्याजहारैषां कश्चिद् बुद्धिमतां सताम् । मानिनां बलिनां राज्ञां मध्ये दर्शिते पदे ॥ ५॥ ततोऽपतत् पुष्पवृष्टिः सहदेवस्य मूर्द्धनि ॥ अदृश्यरूपा वाचश्चा-प्यब्रुवन् साधु साध्विति ॥ ६ ॥ सर्वसंशयनिर्मोक्ता नारदः सर्वलोकवित् । उवाचाखिलभूतानां मध्ये स्पष्टतरं वचः ॥ ७ ॥ कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः । जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न सम्भाष्याः कदाचन ॥ ८ ॥ वैशम्पायन उवाच । पूजयित्वा

वचन कहा कि-॥ १ ॥ केशीका वध करनेवाले केशव परम पराक्रमी हैं और हमारे परमपूज्य हैं, जो राजे कृष्णकी पूजाको नहीं सहसकते हैं मैं उन बलके अभिमानियोंके मस्तक पर लात मारता हूं, यदि उनमें शक्ति हो तो मेरी इस बातका उत्तर दें ॥ २-३ ॥ और जो बुद्धिमान् तथा भले बुरेका विचार कर सकनेवाले हैं वह राजे अवश्य ही आचार्य पिता और गुरुकी समान पूजनीय कृष्णका पूजन करनेकी अनुमति दें ॥ ४ ॥ सहदेवके इसप्रकार घमण्डके साथ चरण (लात) दिखाने पर उन सकल अभिमानी महाबली राजाओंमेंसे कोई जीभ भी नहीं हिला सका ॥ ५ ॥ उस समय सहदेवके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा हुई और आकाशवाणीने 'साधु साधु, कहकर सहदेवकी बातकी सराहना करी ॥ ६ ॥ उस समय सर्वज्ञ और सबके संदेहोंको काटनेवाले नारदजीने सबके सामने खड़े होकर स्पष्ट बात कही, कि-॥७॥ जो मनुष्य कमलदललोचन कृष्णका पूजन न करें उन अधर्मोंको जीतेही मरे हुए समझो और उनके साथ कभी बात तक नहीं करनी चाहिये ॥ ८ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे राजन् ! तद

च पूजार्हान् ब्रह्मक्षत्रविशेषवित् । सहदेवो नृणां देवः समापयत कर्म तत् । तस्मिन्नभ्यर्चिते कृष्णे सुनीथः शत्रुकर्षणः। अतिताम्रेक्षणः कोपादुवाच मनुजाधिपान् ॥ १० ॥ स्थितः सेनापतिर्योऽहं मन्यध्वं किन्तु साम्प्रतम् । युधि तिष्ठामिसन्नह्य समेतान् वृष्णिपाण्डवान् ॥ ११ ॥ इति सर्वान्समुत्साह्य राज्ञस्तांश्चेदिपुङ्गवः । यज्ञोपघाताय ततः सोऽमन्त्रयत राजभिः ॥ १२ ॥ तत्राहूता गताः सर्वे सुनीथप्रमुखा गणाः । समदृश्यन्त संक्रुद्धा विवर्णवदनास्तथा ॥ १३ ॥ युधिष्ठिराभिषेकश्च वासुदेवस्य चार्हणम् । न स्याद्यथा तथा कार्य्यमेवं सर्वे तदाब्रुवन् ॥ १४ ॥ निष्कर्षान्निश्चयात्सर्वे राजानः क्रोधमूर्च्छिताः । अब्रुवस्तत्र राजानो निर्वेदादात्मनिश्चयात् ॥ १५ ॥ सुहृद्भिर्वार्य्यमाणानां तेषां हि वपुराबभौ । आमिषादप-

---

नंतर ब्राह्मण क्षत्रियोंके भेदको जाननेवाले वीर सहदेवने पूजनीय पुरुषोंका पूजन करके उस कर्मको समाप्त करदिया ॥ ९ ॥ कृष्णकी पूजा होजानेपर उस समय सुनीथ नामक एक महाबली पराक्रमी वीर पुरुषने क्रोधसे शरीरको कँपाते हुए लाल २ आंखें निकालकर सब राजाओंको पुकार कर कहा ॥ १० ॥ कि-मैं पहिले सेनापति था, अब यादव और पाण्डवोंके कुलका नाश करनेके लिये इसी समय रणसागरमें स्नान करूंगा॥ ११ ॥चेदिराज शिशुपाल इसप्रकार राजाओंका उछलता हुआ उत्साह देख कर आवेशमें भर कर यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये राजाओंसे संमति करनेलगा ॥१२॥ शिशुपालके बुलानेपर सुनीथ आदि सब राजे उसके पास गए उस समय वह सब राजे क्रोधमें भर रहे थे और उनके मुखोंकी कान्ति बदल गई थी॥१३॥वह सब कहनेलगे,कि-ऐसा करो, जिसमें युधिष्ठिरका राज्याभिषेक और कृष्णका पूजन न होसके॥१४॥ अपनी २ संमतिका सार निकालकर और निश्चय करके वह सब राजे क्रोधमें भरगये और तहां बड़े दुःखके साथ अपने २ निश्चयको कहने लगे ॥ १५ ॥ मित्रोंके निषेध करने पर

कुद्धानां सिंहानामिव गर्जताम् ॥ १६ ॥ तं बलौघमपर्यन्तं राजसागरमक्षयम् । कुर्वाणं समयं कृष्णो युद्धाय बुबुधे तदा ॥ १७॥

इति सभापर्वण्यर्घाभिहरणपर्वणि राजमन्त्रणे ऊनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥३६॥ समाप्तञ्च अर्घाहरणपर्व॥

अथ शिशुपालवधपर्व ।

वैशंपायन उवाच । ततः सागरसङ्काशं दृष्ट्वा नृपतिमण्डलम्। संवर्त्तवाताभिहतं भीमं क्षुब्धमिवार्णवत् । रोषात् प्रचलितं सर्वमिदमाह युधिष्ठिरः ॥ १ ॥ भीष्मं मतिमतां मुख्यं वृद्धं कुरुपितामहम् । बृहस्पतिं बृहत्तेजा पुरुहूत इवारिहा ॥ २ ॥ असौ रोषात् प्रचलितो महान्नृपतिसागरः । अत्र यत् प्रतिपत्तव्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३ ॥ यज्ञस्य च न विघ्नः स्यात् प्रजानाञ्च हितं भवेत् । यथा सर्वत्र तत्सर्वं ब्रूहि मेऽद्य पितामह ॥ ४ ॥इत्युक्तवति धर्मज्ञे

उनके शरीरोंमें ऐसा आवेश उठता था जैसे मांससे हटाने पर गर्जनेवाले सिंहोंमें क्रोध भरा होता है ॥ १६ ॥ राजाओंको इस प्रकार युद्धके लिये संमति करते हुए देखकर श्रीकृष्णजीने समझा कि—यह तो राजाओंका ऐसा समुद्र उमड़ आया, कि जिनकी सेना के समूहका ओर छोर दिखना भी कठिन है॥१७॥ ऊनचत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥ ३६ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि—तदनन्तर युधिष्ठिर उस समुद्र की समान राजमण्डलको प्रलयकालके पवनसे विलोड़े हुए क्षुब्ध भयानक समुद्रकी समान क्रोधसे चलायमान होते देखकर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुरुकुलके पितामह वृद्ध भीष्मजीसे, मानो शत्रुनाशी परमतेजस्वी इन्द्र बृहस्पतिसे कहरहे हों तैसे, कहने लगे कि— ॥ १ ॥ २ ॥ हे पितामह ! यह बड़ा भारी राजाओंका समुद्र क्रोध से उमड़ रहा है, अब इस विषयमें हमको क्या करना चाहिये सो बताइये ॥ ३ ॥ जैसे यज्ञमें विघ्न न पड़े और सर्व न सब प्रजाओं का हित हो इसका उपाय मुझे बताइये ॥ ४ ॥ धर्म के जानने

धर्मराजे युधिष्ठिरे । उवाचेदं वचो भीष्मस्ततः कुरुपितामहः ॥५॥
मा भैस्त्वं कुरुशार्दूल श्वा सिंहं हन्तुमर्हति । शिवः पन्थाः सुनीतो-
ऽत्र मया पूर्वतरं वृतः ॥ ६ ॥ प्रसुप्ते हि यथा सिंहे श्वानस्तस्मिन्
समागताः । भषेयुः सहिताः सर्वे तथेमे वसुधाधिपाः ॥ ७ ॥
वृष्णिसिंहस्य सुप्तस्य तथामी प्रमुखे स्थिताः ।भषन्ते तात संक्रुद्धाः
श्वानः सिंहस्य सन्निधौ ॥ ८ ॥ नाह संबुध्यते यावत् सुप्तः सिंह
इवाच्युतः । तेन सिंहीकरोत्येतान् नृसिंहश्चेदिपुङ्गवः ॥ ९ ॥
पार्थिवान् पार्थिवश्रेष्ठः शिशुपालो ऽल्पचेतनः । सर्वान् सर्वात्मना
तात नेतुकामो यमक्षयम् ॥ १० ॥ नूनमेतत्समादातुं पुनरिच्छत्य-
धोक्षजः । यदस्य शिशुपालस्य तेजस्तिष्ठति भारत ॥ ११ ॥
विप्लुता चास्य भद्रन्ते बुद्धिर्बुद्धिमतां वर । चेदिराजस्य कौन्तेय
सर्वेषाञ्च महीक्षिताम् ॥ १२ ॥ आदातुञ्च नरव्याघ्रो यं यमिच्छ-

ताजे धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहने पर कुरुकुलके वृद्ध भीष्मजीने यह बात कही, कि-॥ ५ ॥ हे कुरुकुलके वीर ! तुम भय न करो क्या कहीं कुत्ता सिंहको मार सकता है ? मैंने पहिले ही इसका सुलभ उपाय विचार रक्खा है ॥ ६ ॥ जैसे सिंहके सोनेपर तहां आकर इकट्ठे हुए कुत्ते भौंका करते हैं तैसे ही सोयेहुए यदुसिंह वासुदेवके सामने यह कोपमें भरे राजे कोलाहल कर रहे हैं ॥७॥ ८ ॥ सिंहरूप कृष्ण जबतक नहीं जागते हैं तबतक ही यह शिशुपाल आप सिंह बना हुआ इनको भी सिंह बना रहा है ॥ ९ ॥ राजेन्द्र शिशुपाल अनजानमें इन सब राजाओंको सर्वथा यमालयमें लेजाना चाहता है ॥ १० ॥ हे भारत ! इस शिशुपाल का जो कुछ तेज है उसको अब निःसंदेह भगवान् कृष्ण ग्रहण करना चाहते हैं॥ ११ ॥ हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तुम्हारा कल्याण हो, इस शिशुपालकी तथा अन्य सब राजाओंकी बुद्धि भी इस समय उलटी होरही है ॥ १२ ॥ यह नरोत्तम नारायण जिस समय जिसको पृथिवीपरसे उठाना चाहते हैं उसकी बुद्धि

त्वयं तदा। तस्य विप्लवते बुद्धिरेवं चेदिपतेर्यथा ॥ १३ ॥ चतुर्विधानां भूतानां त्रिषु लोकेषु माधवः। प्रभवश्चैव सर्वेषां निधनञ्च युधिष्ठिर॥१४॥ वैशंपायन उवाच। इति तस्य वचः श्रुत्वा ततश्चेदिपतिर्नृपः भीष्मं रूक्षाक्षरा वाचः श्रावयामास भारत १५

इति सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि युधिष्ठिराश्वासने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

शिशुपाल उवाच। विभीषिकाभिर्बह्वीभिर्भीषयन् सर्वपार्थिवान्। न व्यपत्रपसे कस्माद्वृद्धः सन् कुलपांसन ॥१॥ युक्तमेतत्तृतीयायां प्रकृतौ वर्त्तता त्वया। वक्तुं धर्मादपेतार्थं त्वं हि सर्वकुरूत्तम ॥२॥ नावि नौरिव संबद्धा यथान्धो वान्धमन्वियात्। तथाभूता हि कौरव्या येषां भीष्म त्वमग्रणी ॥३॥पूतनाघातपूर्वाणि कर्माण्यस्य विशेषतः। त्वया कीर्त्तयतास्माकं भूयः प्रव्यथितं मनः ॥ ४ ॥

उलटी होजाती है, जैसे, कि-इस शिशुपालकी हो रही है ॥१३॥ हे युधिष्ठिर! यह कृष्ण ही तीनों लोकोंमें चारों प्रकारके सकल प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलय करनेवाले हैं॥ १४ ॥ वैशंपायनजी कहते हैं, कि—हे राजन्! भीष्मजीकी इस बातको सुननेके अनन्तर राजा शिशुपाल उनको कठोर वचन (गालियें) सुनानेलगा ॥ १५ ॥ चत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥ ४० ॥

शिशुपालने कहा कि—हे भीष्म! सब राजाओंको धमकी देतेहुए तुमको लज्जा क्यों नहीं आती तुम वृद्ध होकर अपने कुलको कलङ्क लगाते हो॥ १ ॥ अब वृद्ध अवस्था आगई है और तुम सब कौरवोंके मुखिया हो, इसकारण तुमको धर्मानुकूल बात कहना चाहिये॥२॥ जैसे किसी बड़ी नौकाके पिछले भागमें एक छोटीसी नौका बँधी होती है और जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धेके पीछे चलता है हे भीष्म! तुम जिनके अगुआ हो उन कौरवोंकी भी ऐसी ही दशा है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ३ ॥ विशेषकर इस कृष्णके पूतनावध आदि चरित्रोंका कीर्त्तन करके तुमने हमारे

अवलिप्तस्य मूर्खस्य केशवं स्तोतुमिच्छतः । कथं भीष्म न ते जिह्वा शतधेयं विदीर्य्यते ॥ ५ ॥ यत्र कुत्सा प्रयोक्तव्या भीष्म बालतरैर्नरैः । तमिमं ज्ञानवृद्धः सन् गोपं संस्तोतुमिच्छसि ॥ ६ ॥ यद्यनेन हतो बाल्ये शकुनिश्चित्रमत्र किम् । तौ वाश्ववृषभौ भीष्म यौ न युद्धविशारदौ ॥ ७ ॥ चेतनारहितं काष्ठं यद्यनेन निपातितम् । पादेन शकटं भीष्म तत्र किं कृतमद्भुतम् ॥ ८ ॥ वल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचलः । तदा गोवर्द्धनो भीष्म न तच्चित्रं मतं मम ॥ ९ ॥ भुक्तमेतेन बह्वन्नं क्रीडता नगमूर्द्धनि । इति ते भीष्म शृण्वानाः परं विस्मयमागताः ॥ १० ॥ यस्य चानेन धर्मज्ञ भुक्तमन्नं बलीयसः । स चानेन हतः कंस इत्येतन्न महाद्भुतम् ॥ ११ ॥ न ते श्रुतमिदं भीष्म नूनं कथयतां सताम् । यद्वक्ष्ये त्वा-

पिताको और भी अधिक दुःखित किया है ॥ ४ ॥ हे भीष्म ! तुम अहङ्कारी और बुद्धिहीन होकर दुरात्मा कृष्णकी प्रशंसा करते हो, यह तुम्हारी जीभ सौ टुकड़े होकर क्यों नहीं फट पड़ती ॥ ५ ॥ मूर्ख पुरुषको भी जिससे घृणा करना चाहिये हे भीष्म ! उस ग्वालिये कृष्णकी तुम ज्ञानवृद्ध होकर प्रशंसा करते हो ? ॥ ६ ॥ हे भीष्म ! इस कृष्णने बालकपनमें बकासुर केशी और वृषासुरको मारडाला तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? क्योंकि-वह युद्ध करना ही नहीं जानते थे ॥ ७ ॥ यदि इस कृष्णने चेतना-हीन काठके शकटको चरणसे गिरादिया था तो इसमें भी कौन आश्चर्यकी बात करी ? ॥ ८ ॥ हे भीष्म ! इस कृष्णने जो बरईके पिटारेकी समान गोवर्द्धनको सात दिनतक धारण किया था, मैं तो उसको भी कोई आश्चर्यकी बात नहीं समझता ॥ ९ ॥ हे भीष्म ! इसने जो पहाड़के ऊपर खेलते खेलते बहुतसा अन्न खा लिया था उसको सुनकर ही यह गँवार ग्वालिये आश्चर्यमें होगये ॥ १० ॥ हे धर्मज्ञ ! यह जिस बली कंसके अन्नसे पला था, इसने उस ही कंस को मारडाला क्या इस पुरुषार्थको ही तुमने आश्चर्य माना है ? ११

गधर्मज्ञं शायय कुरुकुलाधम ॥ १२ ॥ स्त्रीषु गोषु न शस्त्राणि पातयेद् ब्राह्मणेषु च । यस्य चान्नानि भुञ्जीत यस्य च स्यात् प्रतिश्रयः ॥ १३ ॥ इति सन्तोऽनुशासन्ति सज्जनं धर्मिणः सदा । भीष्म लोके हि तत्सर्वं वितथं त्वयि दृश्यते ॥ १४ ॥ ज्ञानवृद्धं न वृद्धश्च भूयांसं केशवं मम । अजानत इवाख्यासि संस्तुवन् कौरवाधम ॥ १५ ॥ गोघ्नः स्त्रीघ्नश्च सन् भीष्म कथं संस्तवमर्हति । असौ मतिमतां श्रेष्ठो य एष जगतः प्रभुः ॥ १६ ॥ संभावयति चाप्येवं त्वद्वाक्याच्च जनार्दनः । एवमेतत् सर्वमिति तत्सर्वं वितथं ध्रुवम् ॥ १७ ॥ न गाथा गाथिनं शास्ति बहु चेदपि गायति । प्रकृतिं यान्ति भूतानि भूलिङ्गशकुनिर्यथा ॥ १८ ॥ नूनं प्रकृति-

हे कुरुवंशमें अधम भीष्म ! तुम धर्मको नहीं जानते, इस लिये तुम को कुछ उपदेश देता हूं, सुनो, क्या तुमने सत्पुरुषोंको यह कहते नहीं सुना है, कि—॥ १२ ॥ स्त्री, गौ, ब्राह्मण और जिसका अन्न खाय तथा जिसके आश्रयमें रहता होय इनके ऊपर शस्त्र न छोड़े १३ धर्मात्मा सत्पुरुष सदा लोकमें सज्जनोंको ऐसा उपदेश देते हैं, हे भीष्म ! तुममें यह सब बात उलटी ही देखनेमें आती है ॥ १४ ॥ हे कौरवाधम ! मानो मैं कुछ जानता ही नहीं, तुम मानो अवस्थामें बड़े होनेसे ज्ञानमें भी बड़े होगये, ऐसा समझ कर बड़ी प्रशंसा करते हुए कृष्णकी महिमा गारहे हो ॥ १५ ॥ हे भीष्म ! तुम्हारे कहनेसे क्या गोहत्यारा और स्त्रीकी हत्या करनेवाला पूजनीय होसकता है ? क्या ऐसेको ही तुम बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ और जगत्पति कहते हो ? ॥१६॥ हे भीष्म ! तुम्हारे कहनेसे यह भी अपने को बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ और जगदीश्वर होने का अभिमान करता है, तुम्हारी सब बातें झूठी होनेपर भी मैं तुमसे कुछ नहीं कहना चाहता ॥ १७ ॥ स्तुति करनेवालेकी बातोंमें अत्युक्तिका दोष होनेपर भी इसके लिये उसको कोई दण्ड नहीं दिया जाता क्यों कि—जिसका जैसा स्वभाव होता है, भूलिंग नामक पक्षीकी

रेषा ते जघन्या नात्र संशयः । अतः पापीयसी चैषां पाण्डवानामपीष्यते ॥ १६ ॥ येषामर्च्यतमः कृष्णस्त्वञ्च येषां प्रदर्शकः । धर्मवांस्त्वमधर्मज्ञः सतां मार्गादवप्लुतः ॥ २० ॥ को हि धर्मिणमात्मानं जानन् ज्ञानविदां वरः । कुर्य्याद्यथा त्वया भीष्म कृतं धर्ममवेक्षता ॥२१॥ चेत्त्वं धर्मं विजानासि यदि प्राज्ञा मतिस्तव । अन्यकामा हि धर्मज्ञ कन्यका प्राज्ञमानिना । अम्बा नामेति भद्रन्ते कथं सापहृता त्वया ॥२२॥ यां त्वयापहृतां भीष्म कन्यां नैषितवान् यतः । भ्राता विचित्रवीर्य्यस्ते सतां मार्गमनुष्ठितः ॥ २३ ॥ दारयोर्यस्य चान्येन मिषतः प्राज्ञमानिनः । तव जातान्यपत्यानि सज्जनाचरिते पथि ॥ १४ ॥ को हि धर्मोऽस्ति ते भीष्म ब्रह्मचर्य्यमिदं वृथा । यद्धारयसि मोहाद्वा क्लीबत्वाद्वा न संशयः ॥ २५ ॥ न त्वहं तव धर्मज्ञ पश्याम्युपचयं क्वचित् । न हि ते सेविता वृद्धा

समान वह स्वभाव उसके साथ ही रहता है ॥ १८ ॥ तुम नीचस्वभाव, अधर्मी और सन्मार्गसे भ्रष्ट हो, इसकारण तुम जिनके मंत्री हो और कृष्ण जिनके पूज्य हैं, वह पांडव निःसन्देह खोटे हैं ॥ १९–२०॥ हे भीष्म ! तुमने धर्मकी आड़में जो काम किये हैं, कौन श्रेष्ठ ज्ञानी अपनेको धार्मिक मानकर वैसे काम करेगा ? २१ अजी धर्मात्माजी! काशिराजकी धर्मकन्या दूसरेको चाहती थी, तुम तो अपनेको बड़ा बुद्धिमान धर्मज्ञ समझते हो ? भला तुमने उस अम्बा नामवाली कन्याका हरण कौनसे धर्मके अनुसार किया था ? ॥२२॥ तुम्हारा विचित्रवीर्य भाई सन्मार्गगामी था इससे उसने तुम्हारी हरण कीहुई उस कन्याकी अभिलाषा नहीं करी २३ तुम ऐसे धार्मिक हो और सन्मार्गपर चलने हो कि तुम्हारे सामने ही उनके गर्भमें अन्यके द्वारा पुत्र उत्पन्न हुए ॥२४॥ हे भीष्म ! तुम्हारा धर्म ही क्या रहा? और तुम्हारा ब्रह्मचर्यको धारण करना वृथा है, यह तो तुमने नपुंसक होनेके कारण अथवा मूर्खताके वश धारण कररक्खा है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ २५ ॥ हे धर्मके

य एवं धर्ममब्रवीः ॥२६॥ इष्टं दत्तमधीतं च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः । सर्वमेतदपत्यस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ २७ ॥ व्रतोपवासैर्बहुभिः कृतं भवति भीष्म यत् । सर्वं तदनपत्यस्य मोघं भवति निश्चयात् ॥ २८ ॥ सोऽनपत्यश्च वृद्धश्च मिथ्याधर्मानुसारकः । हंसवत्त्वमपीदानीं ज्ञातिभ्यः प्राप्नुया वधम् ॥ २९॥ एवं हि कथयन्त्यन्ये नरा ज्ञानविदः पुराः । भीष्म यथावदहं सम्यग्वक्ष्यामि तव शृण्वतः ॥ ३० ॥ वृद्धः किल समुद्रान्ते कश्चिद्धंसोऽभवत्पुरा । धर्मवागन्यथावृत्तः पक्षिणः सोऽनुशास्ति च ॥ ३१ ॥ धर्मं चरत मा धर्ममिति तस्य वचः किल । पक्षिणः शुश्रुवुर्भीष्म सततं सत्यवादिनः ॥ ३२ ॥ अथास्य भक्ष्यमाजह्रुः समुद्रजलचारिणः

ज्ञाता बननेवाले ! मैंने तो कहीं उन्नति देखी नहीं, क्यों कि—तुम जैसे धर्मकी बातें कररहे हो इससे मालूम होता है कि–तुमने वृद्धोंकी सेवा नहीं करी है ॥ २६ ॥ यज्ञ, दान, वेद पढ़ना और बहुत दक्षिणाका यज्ञ करना, यह सब सन्तान होनेके फलके सोलहवें भागकी समान भी नहीं हैं ॥ २७ ॥ हे भीष्म ! बहुतसे व्रत उपवास आदि करनेका जो फल है वह सब सन्तानहीनका निष्फल जाता है इसमें संदेह नहीं है ॥ २८ ॥ तुम्हारे भी संतान नहीं है । बूढ़े होगए हो और झूठे ही धर्मका ढोंग दिखाते हो सो तुम इन सजातियोंके हाथसे हंसकी समान मारे जाओगे २९ हे भीष्म ! पुराने इतिहासको जानने वाले ज्ञानी मनुष्योंने जो हंसका इतिहास कहा है, उसको मैं तुम्हारे सामने यथावत् कहता हूं सुनो ॥ ३० ॥ पहिले समुद्रके किनारे पर कोई एक बूढ़ा हंस रहता था, वह बातें तो धर्मकी बनाता था और आचरण अधर्म का करता था तथा पक्षियोंको उपदेश देता था ॥ ३१ ॥ हे भीष्म ! वह सत्यवादी बन कर सदा पक्षियोंको यही उपदेश सुनाता था, कि–धर्माचरण करो, अधर्म मत करो॥३२॥हे भीष्म ! वह समुद्रके जलमें विचरने वाले पक्षी सत्यवादी समझकर उस

अण्डजा भीष्म तस्यान्ये धर्मार्थमिति शुश्रुम ॥ ३३ ॥ ते च तस्य समभ्यासे निक्षिप्याण्डानि सर्वशः । समुद्राम्भस्यमज्जन्त चरन्तो भीष्म पक्षिणः ॥ ३४ ॥ तेषामण्डानि सर्वेषां भक्षयामास पापकृत् स हंसः सम्प्रमत्तानामप्रमत्तः स्वकर्मणि ॥ ३५ ॥ ततः प्रक्षीयमाणेषु तेषु तेष्वण्डजोऽपरः । अशङ्कत महाप्राज्ञः स कदाचिद्ददर्श ह ॥ ३६ ॥ ततः स कथयामास दृष्ट्वा हंसस्य किल्बिषम् । तेषां परमदुःखार्त्तः स पक्षी सर्वपक्षिणाम् ॥ ३७ ॥ ततः प्रत्यक्षतो दृष्ट्वा पक्षिणस्ते समीपगाः । निजघ्नुस्तं तदा हंसं मिथ्यावृत्तं कुरु-[illegible] ॥ ३८ ॥ ते त्वां हंससधर्माणमपीमे वसुधाधिपाः । निहन्युर्भीष्म संक्रुद्धाः पक्षिणस्तं यथाण्डजम् ॥ ३९ ॥ गाथामप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः । भीष्म यान्तास्त्र ते सम्यक् कथयिष्यामि

से उपदेश सुना करते थे और इससे हम धर्मार्थका उपदेश पाते हैं यह समझकर उसके लिये भोजन लाकर दिया करते थे ॥३३॥ हे भीष्म ! वह सब पक्षी उसके पास अपने २ अण्डे रखकर विचरते हुए समुद्रके जलमें गोते लगाते थे ॥ ३४ ॥ पक्षी उसकी बातका विश्वास करके कुछ ध्यान ही नहीं रखते थे, परन्तु दुष्टात्मा हंस अपना काम मन लगाकर करता था, अर्थात् उस अवसरमें उनके अण्डोंको खाया करता था ॥३५॥ उन सब बच्चों का नाश होने पर किसी बुद्धिमान् पक्षीने संदेहमें पड़कर उस दुराचारीके पापकर्मका पता लगाया ॥ ३६ ॥ और उस पक्षीने हंसके पापकर्मको देखकर चित्तमें परम दुःखित होतेहुए तिन सब पक्षियोंसे कहा, ॥ ३७ ॥ हे कुरुवंशके धर्मात्मानी ! तब उन पक्षियों ने समीपसे प्रत्यक्ष देखकर तिस कपटाचारी हंसको मारडाला ३८ हे भीष्म ! तुम भी उस हंसकी समान ही धर्मात्मा बने हुए हो और यह राजे पक्षियोंकी समान है, सो यह क्रोधमें भरकर तुम्हें उसी प्रकार मार डालगे॥३९॥हे भारत भीष्म ! इस विषयमें पुराणोंके ज्ञाता पुरुष जिस कथाको कहा करते हैं वही मैंने तुमको सुनायी

भारत॥४०॥ अन्तरात्मन्यभिहते रौषि पत्ररथाशुचि। अण्डभक्षण-कर्मैतत्तव वाचमतीयते ॥ ४१ ॥

इति सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवाक्य एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

शिशुपाल उवाच। स मे बहुमतो राजा जरासन्धो महाबलः। योऽनेन युद्धं नेयेष दासोयमिति संयुगे ॥ १ ॥ केशवेन कृतं कर्म जरासंधवधे तदा। भीमसेनार्जुनाभ्यां च कस्तत् साध्विति मन्यते ॥ २ ॥ अद्वारेण प्रविष्टेन छद्मना ब्रह्मवादिना। दृष्टः प्रभावः कृष्णेन जरासंधस्य भूपतेः ॥ ३ ॥ येन धर्मात्मनात्मानं ब्रह्मण्यमजानता। नेषितं पाद्यमस्मै तद्दातुमग्रे दुरात्मने ॥ ४ ॥ भुज्यतामिति तेनोक्ताः कृष्णभीमधनञ्जयाः। जरासंधेन कौरव्य कृष्णेन

है ॥४०॥ उन पक्षियोंने मारते समय हंससे कहा, कि-अरे हंस! तेरा अन्तःकरण तो काम क्रोधादिसे मलिन होरहा था तू हमको बनावटी धर्मोपदेश करता था यह तेरा अण्डों को खालेना ही तेरे धर्मोपदेशकी मर्यादाके बाहर होनेको बतारहा है, ऐसे ही हे भीष्म! तुम्हारा धर्मोपदेशक बनना झूठा है, क्योंकि-तुम्हारा ही यह वर्त्ताव उसके विपरीत है॥४१॥एकचत्वारिंश अध्याय समाप्त॥४१॥

शिशुपालने कहा, कि—जिसका हम बड़ा मान्य करते थे उस महाबली राजा जरासन्धने यह दास है ऐसा समझकर रणभूमि में इसके साथ युद्ध नहीं किया था ॥ १ ॥ इस केशवने उस जरासंधका वध करनेके लिये भीमसेन और अर्जुनके द्वारा जो काम किया था उसको अच्छा कौन कहेगा ?॥२॥ इस दुरात्मा कृष्ण ने ब्राह्मणका वेष धारण करके और बलात्कारसे बिना ही द्वार के महलमें घुसकर राजा जरासंधका प्रभाव देखा था ॥ ३ ॥ जब धर्मात्मा जरासन्ध इस दुष्टात्मा को अर्घ देने लगा तब इसने अपनेको अब्राह्मण समझकर उस अर्घको लेना नहीं चाहा था ॥ ४ ॥ हे भीष्म ! जब उस जरासंधने इन कृष्ण, भीम और

विकृतं कृतम् ॥ ५ ॥ यद्ययं जगतः कर्त्ता यथैनं मूर्ख मन्यसे । कस्मान्न ब्राह्मणं सम्यगात्मानमवगच्छति ॥ ६ ॥ इदं त्वाश्चर्यभूतं मे यदीमे पाण्डवास्त्वया । अपकृष्टाः सतां मार्गान् मन्यन्ते तच्च साध्विति ॥७॥ अथवा नैतदाश्चर्यं येषां त्वमसि भारत । स्त्रीसधर्मा च वृद्धश्च सर्वार्थानां प्रदर्शकः ॥ ८ ॥ वैशम्पायन उवाच । तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रूक्षं रूक्षाक्षरं बहु । चुकोप बलिनां श्रेष्ठो भीमसेनः प्रतापवान् ॥ ९ ॥ तथा पद्मप्रतीकाशे स्वभावायतविस्तृते भूयः क्रोधाभिताम्राक्षे रक्ते नेत्रे बभूवतुः ॥ १० ॥ त्रिशिखां भ्रुकुटीं चास्य ददृशुः सर्वपार्थिवाः । ललाटस्थां त्रिकूटस्थां गंगां त्रिपथगामिव ॥ ११ ॥ दन्तान् सन्दशतस्तस्य कोपाद्ददृशुराननम् । युगान्ते सर्वभूतानि कालस्येव जिघांसतः ॥ १२ ॥ उत्पतन्तन्तु वेगेन

अर्जुनसे भोजन करनेको कहा तब इसने ही गड़बड़ी डाली थी ॥ ५ ॥ रे मूर्ख ! यदि यह जगत्का कर्त्ता है, जैसा कि—तू इस को मानता है तो यह आप ही अपनेको ब्राह्मण क्यों नहीं मान लेता ? ॥ ६ ॥ परन्तु मुझे आश्चर्य तो यह मालूम होता है, कि-तुमने पाण्डवोंको सुमार्गसे हटा रक्खा है और यह इसको ही अच्छा मान रहे हैं ॥ ७ ॥ अथवा स्त्रियोंकी समान पुरुषार्थहीन बूढ़ा तू जिनको सब बातोंकी सम्मति देनेवाला है उनको इस बातका आश्चर्य नहीं मानना चाहिये ॥ ८ ॥ वैशंपायन कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! महाबली परम पराक्रमी भीमसेनको शिशुपालकी यह रूखे अक्षरोंकी बहुतसी कठोर बात सुनकर क्रोध आगया ॥९॥ तथा उसके कमल समान स्वाभाविक ही लम्बे चौड़े लाल २ नेत्र अधिक क्रोधके कारण और भी लाल होगये ॥१०॥ सब राजाओं ने देखा, कि-उस समय त्रिकूटाचल पर तीन मार्गसे बहनेवाली गङ्गाकी समान भीमसेनके ललाट पर तीन रेखाकी भ्रुकुटी होगई ॥११॥ राजाओंने देखा कि भीमसेन प्रलयकालमें सकल प्राणियों को ग्रसना चाहनेवाले कालान्तककी समान क्रोधके मारे दांतोंसे दांतोंको पीस रहा है ॥ १२ ॥ वह क्रोधके वेगमें उठनेको था,

जग्राहैनं मनस्विनम् । भीष्म एव महाबाहुर्महासेनमिवेश्वरः ॥१३॥ तस्य भीमस्य भीष्मेण वार्य्यमाणस्य भारत । गुरुणा विविधैर्वाक्यैः क्रोधः प्रशममागतः ॥ १४ ॥ नातिचक्राम भीष्मस्य स हि वाक्यमरिन्दमः । समुद्धृतो घनापाये वेलामिव महोदधिः ॥ १५ ॥ शिशुपालस्तु संक्रुद्धे भीमसेने जनाधिप । नाकम्पत तदा वीरः पौरुषे स्वे व्यवस्थितः ॥ १६ ॥ उत्पतन्तन्तु वेगेन पुनः पुनररिन्दमः । न स तं चिन्तयामास सिंहः क्रुद्धो मृगं यथा ॥ १७ ॥ प्रहसंश्चाब्रवीद्वाक्यं चेदिराजः प्रतापवान् । भीमसेनमतिक्रुद्धं दृष्ट्वा भीमपराक्रमम् ॥ १८ ॥ मुञ्चैनं भीष्म पश्यन्तु यावदेनं नराधिपाः । मत्प्रभावविनिर्दग्धं पतङ्गमिव वह्निना ॥ १९ ॥ ततश्चेदिपतेर्वाक्यं श्रुत्वा तत् कुरुसत्तमः । भीमसेनमु-

कि—महाबाहु भीष्मजीने ही उसको रोका उस समय ऐसा प्रतीत हुआ, कि—भगवान् शिव देवसेनापति स्वामिकार्त्तिकेयको रोकरहे हैं ॥१३॥ भीष्मजीके अनेकों गौरवभरी बातोंसे निषेध करने पर भीमसेनका क्रोध शान्त हुआ ॥ १४ ॥ जैसे हिलोर लेताहुआ महानद वर्षा काल बीतने पर अपनी वेलाको नहीं लांघता है तैसे ही शत्रुविजयी भीमने भीष्मपितामहकी बातका उल्लंघन नहीं किया ॥ १५ ॥ परन्तु हे महाराज ! भीमसेनके क्रोधमें भरजाने परभी वीर शिशुपाल अपने पुरुषार्थके भरोसेपर उस समय अटल रहा ॥ १६ ॥ हे जनमेजय ! आवेगमें भरकर बार २ उठनेवाले भीमसेनको शिशुपालने ऐसा समझा जैसे क्रोधमें भरा सिंह हिरन को कुछ नहीं समझता है ॥ १७ ॥ भीमपराक्रमी भीमसेनको क्रोधमे भरा देखकर प्रतापी शिशुपालने हँसते हुए यह बात कही, कि—॥ १८ ॥ हे भीष्म ! तुम इसको छोड़दो, अभी सब राजे देखेंगे, कि—यह मेरी प्रतापाग्निमें पतङ्गकी समान भस्म होजायगा ॥ १९ ॥ तदनन्तर कुरुश्रेष्ठ परम बुद्धिमान् भीष्मजीने

वाचेदं भीष्मो मतिमतां वरः ॥ २० ॥

इति सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि भीमक्रोधे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

भीष्म उवाच । चेदिराजकुले जातस्त्र्यक्ष एष चतुर्भुजः । रासभारावसदृशं ररास च ननाद च ॥ १ ॥ तेनास्य मातापितरौ त्रेसतुस्तौ सबान्धवौ । वैकृतं तस्य तौ दृष्ट्वा त्यागाय कुरुतां मतिम् ॥२॥ततः सभार्यं नृपतिं सामात्यं सपुरोहितम् । चिन्तासंमूढहृदयं वागुवाचाशरीरिणी ॥ ३ ॥ एष ते नृपते पुत्रः श्रीमान् जातो बलाधिकः । तस्मादस्मान्न भेतव्यमव्यग्रः पाहि वै शिशुम् ॥ ४ ॥ न चैव तस्य मृत्युर्वै न कालः प्रत्युपस्थितः । मृत्युर्हन्तास्य शस्त्रेण स चोत्पन्नो नराधिप ॥ ५ ॥ संश्रुत्योदाहृतं वाक्यं भूतमन्तर्हितं ततः । पुत्रस्नेहाभिसन्तप्ता जननी वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥ येनेदमीरितं

शिशुपालकी इस बातको सुनकर भीमसेनसे कहा ॥ २० ॥
द्विचत्वरिंश अध्याय समाप्त ॥ ४२ ॥ छ ॥ छ ॥

भीष्मजीने कहा, कि-शिशुपाल चेदिराजकुलमें जन्मा है, जन्मकाल में यह तीन नेत्र और चार भुजा वाला था और उत्पन्न होते ही यह गधेके रैंकनेका समान रोने और शब्द करने लगा १ इसने इसके माता पिता और भाई बांधव भयभीत होगए और इस अद्भुत घटनाको देखकर इसको कहीं डाल आनेको विचार करने लगे ॥ २ ॥ चेदिराज, उनकी स्त्री, मंत्री और पुरोहित हृदयमें व्याकुल हुए चिन्ता कर रहे थे, उसी समय यह आकाशवाणी हुई, कि ॥ ३ ॥ हे राजन् ! तुम्हारे जो पुत्र उत्पन्न हुआ है, यह श्रीमान् और बड़ा बली है, अतः इससे डरो मत, किंतु सावधान होकर इस बालकका पालन करो ॥ ४ ॥ हे राजन् ! यमराज इसका अन्त नहीं करसकेंगे इसका मृत्यु केवल शस्त्र ही होगा, जो इस के प्राण लेगा वह भी उत्पन्न होगया है ॥ ५ ॥ ऐसा कहकर जब आकाशवाणी अन्तर्धान होगई तब पुत्रके स्नेहमें पगीहुई माताने कहा

सार्धमप्येतं तनयं प्रति। प्रांजलिस्तं नमस्यामि ब्रवीतु स पुनर्वच ॥७॥ याथातथ्येन भगवान् देवो वा यदि नेतरः। श्रोतुमिच्छामि पुत्रस्य कोऽस्य मृत्युर्भविष्यति ॥ ८ ॥ अन्तर्भूतं ततो भूतमुवाचेदं पुनर्वचः। यस्योत्सङ्गे गृहीतस्य भुजावभ्यधिकावुभौ ॥ ९॥पतिष्यतः क्षितितले पञ्चशीर्षाविवोरगौ। तृतीयमेतद्बालस्य ललाटस्थं तु लोचनम् ॥ १० ॥ निमज्जिष्यति यं दृष्ट्वा सोऽस्य मृत्युर्भविष्यति। त्र्यक्षं चतुर्भुजं श्रुत्वा तथा च समुदाहृतम् ॥११॥पृथिव्यां पार्थिवाः सर्व अभ्यागच्छन् दिदृक्षवः। तान् पूजयित्वा संप्राप्तान् यथार्हं स महीपतिः ॥१२॥ एकैकस्य नृपस्याङ्के पुत्रमारोपयत्तदा एवं राजसहस्राणां पृथक्त्वेन यथाक्रमम् ॥ १३ ॥ शिशुरङ्के समारूढो न तत् प्राप निदर्शनम्। एतदेव तु संश्रुत्य द्वारवत्यां महा-

कि ॥ ६ ॥ मेरे पुत्रके विषयमें यह बात जिसने कही है, वह देवता हो चाहे और कोई, मैं हाथ जोडकर उसको प्रणाम करती हूं, वह मुझे ठीक २ इतनी बात और बतादेय, कि–मेरे इस पुत्रको मारने वाला कौन होगा, मैं यह सुनना चाहती हूं ॥ ७ ॥ ८ ॥ तब यह अन्तर्धान हुई आकाशवाणी फिर कहने लगी,कि–हे देवि ! जिसकी गोदमें चढनेपर तुम्हारे पुत्रकी यह अधिक दोनों भुजा,पांच शिर-वाले दो सर्पोंकी समान भूमिपर गिरपडेंगी और जिसको देखकर इस बालकका ललाटमेंका तीसरा नेत्र अन्तर्धान होजायगा वही इसका कालरूप होगा, इसके तीन नेत्र और चार भुजा तथा आकाशवाणीके कहे हुए वृत्तान्तको सुनकर पृथ्वीके प्रायः सब ही राजे इसको देखनेकी इच्छासे आये, राजा चेदिपतिने उन सब आये हुए राजाओंका यथोचित पूजन किया ॥ ९–१२ ॥ और एक २ करके क्रमसे उन सब राजाओंकी गोदमें अपने पुत्रको दिया ऐसे अलग २ सहस्रों राजाओंकी गोदमें देता रहा ॥ १३ ॥ परंतु आकाशवाणीका बताया हुआ लक्षण नहीं पाया, इस समाचारको द्वारकापुरीमें महाबली बलराम और कृष्णने भी सुना तथा यह दोनों

ययौ ॥१४॥ ततश्चेदिपुरं प्राप्तौ सङ्कर्षणजनार्दनौ। यादवौ यादवीं दृष्टुं स्वसारं तौ पितुस्तदा ॥ १५ ॥ अभिवाद्य यथान्यायं यथा श्रेष्ठं नृपञ्च ताम्। कुशलानामयं पृष्ट्वा निषण्णौ रामकेशवौ १६ साभ्यर्चितौ तदा वीरौ प्रीत्या चाभ्यधिकं ततः। पुत्रं दामोदरोत्सङ्गे देवी संन्यदधात् स्वयम् ॥ १७ ॥ न्यस्तमात्रस्य तस्यांके भुजा-वभ्यधिकावुभौ। पेततुस्तच्च नयनं न्यमज्जत ललाटजम् ॥१८॥ तद् दृष्ट्वा व्यथिता त्रस्ता वरं कृष्णमयाचत। ददस्व मे वरं कृष्ण भयार्त्ताया महाभुज ॥ १९ ॥ त्वं ह्यार्त्तानां समाश्वासो भीताना-मभयप्रदः। एवमुक्तस्ततः कृष्णः सोऽब्रवीत् यदुनन्दनः ॥ २० ॥ मा भैस्त्वं देवि धर्मज्ञे न मत्तोऽस्ति भयं तव। ददामि कं वरं किञ्च ते करवाणि पितृष्वसः॥२१॥ शक्यं वा यदि वा शक्यं करिष्यामि वचस्तव। एवमुक्ता ततः कृष्णमब्रवीद्यदु-

---

यादव यादवकुलकी अपनी बुआके पास चेदिपुरीमें आये १४-१५ उन्होंने बड़प्पनके अनुसार यथाविधि चेदिराज और अपनी बुआ यादवी को प्रणाम किया तदन्तर कुशल और आरोग्य बूझकर बलराम और श्रीकृष्ण बैठगए ॥ १६ ॥ उनका प्रीतिके साथ खूब सत्कार करके देवी यादवीने आप ही अपने पुत्रको कृष्णकी गोदमें देदिया ॥ १७ ॥ उनकी गोदमें देते ही वह उसके दोनों अधिक बाहु गिरपड़े और ललाटमेंका तीसरा नेत्र भी विलीन होगया ॥ १८ ॥ यह देखकर यादवीने बहुत व्याकुल और भयभीत होकर कृष्णसे वर मांगा, कि-हे महाबाहो ! कृष्ण ! मुझ भयसे व्याकुल हुईको वरदान दो ॥ १९ ॥ तुम आर्त्तोंको धीरज और भयभीतोंको अभय देते हो उसके ऐसा कहने पर यदुनन्दन श्रीकृष्णने कहा, कि-॥२०॥ हे धर्मज्ञे देवि ! डरो मत तुम्हें मुझ से भय नहीं होगा, हे बुआ जी ! कहो मैं तुमको क्या वरदान दूँ और तुम्हारा कौनसा प्रिय कार्य करूं ? ॥ २१ ॥ मुझसे हो सकता हो, चाहे मेरी शक्तिके बाहर हो, मैं तुम्हारा कहना करूंगा

नन्दनम् ॥ २२ ॥ शिशुपालस्यापराधान् क्षमेथास्त्वं महाबल। मत्कृते यदुशार्दूल विद्ध्येनं मे वरं प्रभो ॥ २३ ॥ कृष्ण उवाच। अपराधशतं क्षाम्यं मया ह्यस्य पितृस्वसः। पुत्रस्य ते वधार्हस्य मा त्वं शोके मनः कृथा ॥ २४ ॥ एवमेव नृप. पापः शिशुपालः सुमन्दधीः। त्वां समाह्वयते वीर गोविन्दवरदर्पितः ॥ २५॥

इति सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवृत्तांत-कथने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

भीष्म उवाच। नैषा चेदिपतेर्बुद्धिर्यया त्वाह्वयतेऽच्युतम्। नूनमेष जगद्भर्त्तुः कृष्णस्यैव विनिश्चयः॥ १ ॥ को हि मां भीमसेनाद्य क्षितावर्हति पार्थिवः। क्षेप्तुं कालपरीतात्मा यथैष कुलपांसनः ।२। एष ह्यस्य महाबाहुस्तेजोंऽशश्च हरेर्ध्रुवम्। तमेव पुनरादातुमिच्छत्पृथु-

---

ऐसा कहनेपर उसने यदुनन्दन श्रीकृष्ण से कहा, कि—॥ २२ ॥ हे महाबल ! तुमको शिशुपालके सब अपराध क्षमा करने होंगे हे यदुवीर ! मैं बस यही वर मांगती हूं ॥ २३ ॥ उस समय कृष्णने कहा, कि— हे बुआजी ! तुम शोक न करो मैं तुम्हारे इस पुत्रके वध करनेके कारणरूप भी सौ अपराधोंको क्षमा करूंगा ॥ २४ ॥ भीष्मजी कहते हैं कि–हे वीर युधिष्ठिर ! यह मन्दबुद्धि पापात्मा शिशुपाल श्रीकृष्णके ऐसा वरदान देनेके कारण घमंड में होकर तुमको युद्धके लिये आह्वान करता है ॥ २५ ॥ त्रिचत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥ ४३ ॥ छ ॥ छ

भीष्मजीने कहा, कि-शिशुपाल जिस बुद्धिसे कृष्णको अनुचित वचन कहरहा है, यह बुद्धि इसकी अपनी नहीं है किन्तु यह जगत्कर्त्ता भगवान् कृष्णकी ही है इसमें सन्देह नहीं है ॥१॥ हे भीमसेन ! इस कालके वशमें हुए कुलकलङ्कने आज मेरा जैसा अपमान किया है, भूतल पर कौनसा राजा ऐसा कर सकता है ॥ २ ॥ यह शिशुपाल निःसन्देह नारायणके तेजका अंश है, इसीसे तो यह दुर्बुद्धि हम सबोंको कुछ न गिनकर सिंहकी समान

यथा हरिः॥३॥येनैष कुरुशार्दूल शार्दूल इव चेदिराट्। गर्जत्यतीव दुर्बुद्धिः सर्वानस्मानचिन्तयन् ॥ ४ ॥ वैशम्पायन उवाच। ततो न ममृषे चैद्यस्तद्भीष्मवचनं तदा। उवाच चैनं संक्रुद्धः पुनर्भीष्ममथोत्तरम् ॥ ५ ॥ शिशुपाल उवाच। द्विषतां नोऽस्तु भीष्मैव प्रभावः केशवस्य यः। यस्य संस्तववक्ता त्वं बन्दिवत् सततोत्थितः ॥ ६ ॥ संस्तवे च मनो भीष्म परेषां रमते यदि। तदा संस्तौहि राज्ञस्त्वमिमं हित्वा जनार्दनम् ॥ ७ ॥ दरदं स्तुहि बाह्लीकमिमं पार्थिवसत्तमम्। जायमानेन येनेयमभवद्दारिता मही ॥ ८ ॥ वङ्गाङ्गविषयाध्यक्षं सहस्राक्षसमं बले। स्तुहि कर्णमिमं भीष्म महाचापविकर्षणम् ॥९॥ यस्येमे कुण्डले दिव्ये सहजे देवनिर्मिते। कवचश्च महाबाहो बालार्कसदृशप्रभम् ॥ १० ॥ वासवप्रतिमो येन जरासन्धोऽति-

---

गरज रहा है,परन्तु महाबाहु वासुदेव थोड़े ही समयमें इस अपने तेजको फिर लेलेना चाहते हैं॥ ३ ॥ ४ ॥ वैशंपायनजी कहते हैं कि-हे जनमेजय ! शिशुपाल उस समय भीष्मजीकी इस बातको नहीं सहसका और क्रोधमें भरकर फिर भीष्मजीको उत्तर देने लगा ॥ ५॥ शिशुपालने कहा, कि-हे भीष्म ! तुम भाटकी समान उठकर वार वार जिसकी प्रशंसा करते हो, हमारा प्रभाव उस केशवका ही है ? ॥ ६ ॥ परन्तु हे भीष्म ! तुम्हारा मन यदि केवल दूसरोंकी प्रशंसा करनेमें ही सन्तुष्ट होता है तो कृष्णको छोड़कर इन सब राजाओंकी प्रशंसा करो ॥ ७ ॥ राजाओंमें प्रधान इस बाह्लीकराज दरदका स्तुति करो कि-जिसके भूतल पर जन्मते ही पृथिवी कांपने लगी थी ॥ ८ ॥ हे भीष्म ! महावीर कर्णकी प्रशंसा करो, जो अंग बंग देशोंका राजा, बलमें इन्द्रकी समान और बड़ेभारी धनुषको खेंचता है. ॥ ९ ॥ जिसके दोनों कुण्डल जन्मसे ही कानोंमें पड़े हुए,दिव्य और देवताओंके बनाये हुए हैं और हे महाबाहो ! जिसका कवच बालसूर्य की समान है ॥ १० ॥ जिसने इन्द्रकी समान दुर्जय राजा जरासन्धको

दुर्जयः। विजितो बाहुयुद्धेन देहभेदश्च लम्भितः ॥ ११ ॥ द्रोणं द्रौणिञ्च साधु त्वं पितापुत्रौ महारथौ। स्तुहि स्तुत्यावुभौ भीष्म सततं द्विजसत्तमौ ॥ १२ ॥ ययोरन्यतरो भीष्म सङ्क्रुद्धः सचराचरम्। इमां वसुमतीं कुर्यान्निःशेषामिति मे मतिः ॥ १३ ॥ द्रोणस्य हि समं युद्धे न पश्यामि नराधिपम्। नाश्वत्थाम्नः समं भीष्म न च ता स्तोतुमिच्छसि ॥ १४ ॥ पृथिव्यां सागरान्तायां यो वै प्रतिसमो भवेत्। दुर्योधनं त्वं राजेन्द्रमतिक्रम्य महाभुजम् ॥ १५ ॥ जयद्रथञ्च राजानं कृतास्त्रं दृढविक्रमम्। द्रुमं किम्पुरुषाचार्य्यं लोके प्रथितविक्रमम्। अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ १६ ॥ वृद्धञ्च भरताचार्यं तथा शारद्वतं कृपम्। अतिक्रम्य महावीर्य्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ १७ ॥ धनुर्द्धराणां प्रवरं रुक्मिणं पुरुषोत्तमम्। अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ १८ ॥ भीष्म-

---

बाहुयुद्धमें जीता और उसके शरीरको तोड़दिया था ॥ ११ ॥ हे भीष्म! इन महारथी पिता पुत्र द्रोण और अश्वत्थामाकी भलेप्रकार स्तुति करो यह दोनों द्विजवर सदा ही स्तुतिके योग्य हैं ॥ १२॥ हे भीष्म! जिन दोनोंमेंका एक भी वीर क्रोधमें भरजाय तो मेरी समझमें इस चराचर सहित सकल भूमण्डलको निःशेष करसकता है ॥ १३ ॥ मुझे तो द्रोण की समान वा अश्वत्थामाकी समान युद्धमें पराक्रम दिखलानेवाला कोई भी राजा नहीं मालूम होता, कैसे आश्चर्यकी बात है, कि—ऐसे अद्वितीय वीरोंकी स्तुति करने की तुम्हारी इच्छा नहीं होती ॥ १४ ॥ हे भीष्म ! समुद्रपर्यन्त भूमण्डल पर जिसकी समान कोई नहीं है उस राजेन्द्र दुर्योधन को छोड़कर कृष्णकी स्तुति करना क्या ठीक है? ॥ १५ ॥ अस्त्रविद्यामें प्रवीण दृढ़पराक्रम राजा जयद्रथ, लोकमें जिसका पराक्रम प्रसिद्ध है वह किम्पुरुषाचार्य द्रुम, भरतकुलके गुरु वृद्ध कृपाचार्य इन महावीरोंको छोड़कर तुम कृष्णकी प्रशंसा क्यों करते हो॥१६॥ ॥ १७ ॥ धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ महावीर राजा रुक्मीको छोड़कर

कञ्च महावीर्यं दन्तवक्त्रञ्च भूमिपम्। भगदत्तं यूपकेतुं जयत्सेनञ्च मागधम् ॥ १६ ॥ विराटद्रुपदौ चोभौ शकुनिञ्च बृहद्बलम्। विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पाण्ड्यं श्वेतमथोत्तमम् ॥ २० ॥ शङ्खञ्च सुमहाभागं वृषसेनञ्च मानिनम्। एकलव्यञ्च विक्रान्तं कालिङ्गञ्च महारथम् ॥ २१ ॥ अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम्। शल्यादीनपि कस्मात्त्वं न स्तौषि वसुधाधिपान्। स्तवाय यदि ते बुद्धिर्वर्त्तते भीष्म सर्वदा ॥ २२ ॥ किं हि शक्यं मया कर्त्तुं यद्वृद्धानां त्वया नृप। पुरा कथयतां नूनं न श्रुतं धर्मवादिनाम् ॥२३॥ आत्मनिन्दात्मपूजा च परनिन्दा परस्तवः। अनाचरितमार्याणां वृत्तमेतच्चतुर्विधम् ॥ २४ ॥ यदस्तव्यमिमं शश्वन्मोहात् संस्तौषि भक्तितः। केशवं तच्च ते भीष्म न कश्चिदनुमन्यते ॥ २५ ॥ कथं भोजस्य पुरुषे वर्गपाले दुरात्मनि। समावेशयसे सर्वं जगत् केवल

कृष्णकी प्रशंसा क्यों करते हो ॥ १८ ॥ महावीर भीष्मक, राजा दन्तवक्त्र, भगदत्त, यूपकेतु, जयत्सेन मगधपति ॥ १६ ॥ विराट और द्रुपद, शकुनि, बृहद्बल, अवन्ति देशके विन्द और अनुविन्द, पाण्ड्य, श्वेत और उत्तम ॥ २० ॥ महाभाग शङ्ख, अभिमानी वृषसेन, पराक्रमी एकलव्य, महारथी कलिङ्ग ॥ २१ ॥ इन सब वीरोंको छोड़कर तुम कृष्णकी ही प्रशंसा क्यों करते हो ? और हे भीष्म ! यदि तुम्हारा स्वभाव सदा प्रशंसा करनेका ही होगया है तो तुम इन शल्य आदि राजाओंकी प्रशंसा क्यों नहीं करते हो ? ॥ २२ ॥ हे राजन् ! शिशुपालने कहा कि—मैं क्या करूँ तुमने धर्मोपदेश देनेवाले वृद्धोंकी शिक्षा पहिले कभी सुनी ही नहीं है।२३॥ हे भीष्म ! हमने पण्डितोंको कहते सुना है कि अपनी वा दूसरोंकी निन्दा वा स्तुति करना सज्जनोंका काम नहीं है, वही तुम कर रहे हो ॥ २४॥ तुम जो अज्ञानके कारण भक्तिके साथ स्तुतिके अयोग्य केशवकी स्तुति कररहे हो, तुम्हारी इस बातको कोई भी अच्छा नहीं करेगा ॥ २५॥ तुम केवल अपने मनमें ही

काम्यया ॥ २६ ॥ अथ चैषा न ते बुद्धिः प्रकृतिं याति भारत। मयैव कथितं पूर्वं भूलिङ्गशकुनिर्यथा ॥ २७॥ भूलिङ्गशकुनिर्नाम पार्श्वे हिमवतः परे। भीष्म तस्याः सदा वाचः श्रूयन्तेऽर्थविगर्हिताः ॥ २८ ॥ मा साहसमितीदं सा सततं वाशते किल साहसञ्चात्मनातीव चरन्ती नावबुध्यते ॥ २६ ॥ सा हि मासार्गलं भीष्म मुखात्सिंहस्य खादतः। दन्तान्तरविलग्नं यत्तदादत्तेऽल्पचेतना ॥ ३० ॥ इच्छतः सा हि सिंहस्य भीष्म जीवत्यसशयम्। तद्वत्त्वमप्यधर्मिष्ठ सदा वाचः प्रभाषसे ॥३१॥ इच्छतां भूमिपालानां भीष्म जीवस्यसशयम्। लोकविद्विष्टकर्मा हि नान्योऽस्ति भवता समः॥ ३२ ॥ वैशम्पायन उवाच। ततश्चेदिपतेः श्रुत्वा भीष्मः

सकल जगत्को भोजपति कंसके पशु चरानेवाले दुष्टात्मा पुरुषमें स्थापित करदेते हो ॥ २६ ॥ हे भारत ! जो कुछ भी हो, परंतु तुम्हारी यह बुद्धि ठीक नहीं है, मैं पहिले ही कहचुका हूं, कि-तुम्हारी दशा भूलिङ्ग पक्षीकी समान है ॥ २७ ॥ इतना कह कर शिशुपालने कहा, कि-हे भीष्म ! सुनो हिमालय पर्वतके पास ही एक भूलिङ्ग नामक पक्षी रहता है उसकी बातें सदा निंदित अर्थोंसे भरी होती हैं ॥ २८ ॥ वह सदा यही पुकारा करता है कि—साहस मत करो, परंतु वह आप ही बडे २ साहसके काम करता है, कि-जिनका उसको ध्यान ही नहीं होता ॥ २६ ॥ वह अनजान पक्षी खाते हुए सिंहके मुखमें दांतोंके बीचमें जो मासका टुकडा अटका होता है उसको लेलेता है ॥ ३० ॥ निःसन्देह वह पक्षी जब तक सिंह चाहता है तबतक ही जीरहा है सिंह जब चाहे तब उसके प्राण लेसकता है, हे अधर्मी भीष्म ! तुम भी उस पक्षीकीसी ही बातें करते हो ॥ ३१ ॥ हे भीष्म ! वैसे ही निःसंदेह जबतक यह राजा अनुग्रह कर रहे हैं तबतक ही तुम जीवित हो यह जब चाहें तब तुम्हारे प्राण लेसकते हैं, वास्तवमें लोकमें तुम्हारी समान खोटे कर्म करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥ ३२ ॥

सकटुकं वचः । उवाचेदं वचो राजंश्चेदिराजस्य शृण्वतः ॥३३॥ इच्छतां किल नामाहं जीवाम्येषां महीक्षिताम् । सोऽहं न गण यामयेतांस्तृणेनापि नराधिपान् ॥ ३४ ॥ एवमुक्ते तु भीष्मेण ततः संचुक्रुशुर्नृपाः । केचिज्जहृषिरे तत्र केचिद्भीष्मं जगर्हिरे ॥ ३५ ॥ केचिदूचुर्महेष्वासाः श्रुत्वा भीष्मस्य तद्वचः । पापोऽवलिप्तो वृद्धश्च नायं भीष्मोऽर्हति क्षमाम् ॥ ३६ ॥ हन्यतां दुर्मतिर्भीष्मः पशुवत् साध्वयं नृपाः । सर्वैः समेत्य संरब्धैर्दह्यतां वा कटाग्निना ॥ ३७॥ इति तेषां वचः श्रुत्वा ततः कुरुपितामहः । उवाच मतिमान् भीष्म-स्तानेव वसुधाधिपान् ॥ ३८ ॥ उक्तोस्योक्तस्य नेहान्तमहं समुप लक्षये । यत्तु वक्ष्यामि तत्सर्वं शृणुध्वं वसुधाधिपाः ॥ ३९ ॥ पशुवद्घातनं वा मे दहनं वा कटाग्निना । क्रियतां मूर्ध्नि वो न्यस्तं

वैशम्पायनजी कहते हैं कि—हे जनमेजय! भीष्मजीने शिशुपाल के ऐसे कटुवचनोंको सुनकर उस को सुनाते हुए यह बात कही कि—॥ ३३ ॥ हे शिशुपाल! तू कहता है, कि-जबतक यह राजे चाहते हैं तबतक ही मेरा जीवन है परन्तु मैं इन राजाओंको तृण की समान भी नहीं समझता ॥ ३४ ॥ भीष्मजीके ऐसा कहनेपर सब राजाओंको क्रोध आगया, उनमें से कोई हँसने लगे और कोई भीष्मजीकी निन्दा करने लगे ॥३५॥ किन्हीं २ धनुषधारियों ने भीष्मजीकी इस बातको सुनकर कहा कि- इस बूढ़े पापी भीष्म को बड़ा घमण्ड होगया है इसको क्षमा नहीं करना चाहिये॥३६॥ हे राजाओं! सब जने मिलकर इस दुष्टात्मा भीष्मको पशुकी समान अच्छे प्रकारसे पीटो अथवा इसके ऊपर बड़ा क्रोध आरहा है अतः इसको फूसमें लपेटकर आग लगादो ॥ ३७ ॥ कुरुपितामह बुद्धिमान् भीष्मजीने इनके ऐसे कहनेको सुनकर उन राजाओंसे ही कहा, कि-॥३८॥ मैं देखता हूं कि-तुम्हारी यह बातें बन्द नहीं होती अब मैं जो कुछ कहता हूं उसको तुम सब राजे सुन लो॥ ३९ ॥

मपैद स्फुरत्तं पदम् ॥ ४० ॥ एष तिष्ठति गोविन्दः पूजितोऽस्माभिरच्युतः । यस्य वस्त्वरते बुद्धिर्मरणाय स माधवम् ॥ ४१ ॥ कृष्णमाह्वयतामद्य युद्धे चक्रगदाधरम् । यादवस्यैव देवस्य देहं विशतु पातितः ॥ ४२ ॥ छ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि भीष्मवाक्ये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन उवाच। ततः श्रुत्वैव भीष्मस्य चेदिराडुरुविक्रमः। युयुत्सुर्वासुदेवेन वासुदेवमुवाच ह ॥ १ ॥ आह्वये त्वां रणं गच्छ मया सार्द्धं जनार्दन। यावदद्य निहन्मि त्वां सहितं सर्वपाण्डवैः ॥ २ ॥ सह त्वया हि मे वध्याः सर्वथा कृष्ण पाण्डवाः। नृपतीन् समतिक्रम्य यैरराजा त्वमर्चितः ॥ ३ ॥ ये त्वां दासमराजानं

तुम मुझे पशुकी समान मारो चाहे तृणाग्निसे जलाओ मैं तुम सबोंके शिरपर लात मारता हूं ॥ ४० ॥ हमने जिन कृष्णकी पूजा करी है वह भी सामने ही बैठे हैं जिनको बहुत ही शीघ्र मरनेके लिये खुजली उठ रहीहो वह गदा-चक्र धारी माधव कृष्णको युद्ध के लिये पुकारें परन्तु मैं निश्चयके साथ कहता हूं, कि-पुकारने वाला रणभूमिमें सोकर अवश्य ही यादव कृष्णके शरीरमें प्रविष्ट होजायगा॥४१॥४२॥ चतुश्चत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥४४॥

वैशंपायनजी कहते हैं, कि—हे महाराज ! बड़ा पराक्रमी शिशुपाल, भीष्मजीकी इस बातको सुनते ही कृष्णके साथ संग्राम करनेकी इच्छासे उनसे कहनेलगा कि ॥ १ ॥ हे जनार्दन ! मैं तुम्हें पुकारता हूं मेरे साथ संग्राम करो, आओ आज पाण्डवों सहित तुमको यमपुरीमें भेजूँ ॥ २ ॥ हे कृष्ण ! मुझे पाण्डवों सहित तुम्हारा मार डालना ही योग्य है, क्यों कि-इन पाण्डवों ने सब राजाओंको छोडकर तुझ राजहीनका पूजन किया है ॥ ३ ॥ हे कृष्ण ! जिन पाण्डवोंने मूर्खताके कारण तुझ दास दुर्मति और-अयोग्य पात्रको योग्य मानकर पूजा करी है,

बाल्यादर्चन्ति दुर्मतिम् । अनर्हमर्हवत् कृष्ण,वध्यास्त इति मे मतिः । इत्युक्तो राजशार्दूलस्तस्थौ गर्जन्नमर्षणः ॥ ४ ॥ एवमुक्तस्ततः कृष्णो मृदुपूर्वमिदं वचः । उवाच पार्थिवान् सर्वान् स समक्षं च वीर्यवान् ॥ ५ ॥ एष नः शत्रुरत्यन्तं पार्थिवाः सात्वतीसुतः । सात्वतानां नृशंसात्मा न, हितोऽनपकारिणाम् ॥ ६ ॥ प्राग-ज्योतिषपुरं यातानस्मान् ज्ञात्वा नृशंसकृत् । अदहद्द्वारका मेष स्वस्रीयः सन्नराधिपाः ॥ ७ ॥ क्रीडतो भोजराजस्य एष रैवतके गिरौ । हत्वा बध्वा च तान् सर्वानुपायात् स्वपुरं पुरा ।८। अश्वमेधे हयं मेध्यमुत्सृष्ट रक्षिभिर्वृतम् । पितुर्मे यज्ञविघ्नार्थमहरत्पापनिश्चयः ॥ ९॥ सौवीरान् प्रतियाताञ्च बभ्रोरेष तपस्विनः। भार्यामभ्यहरन्मोहादकामां तामितो गताम् ॥ १० ॥ एष माया-प्रतिच्छन्नः कारूषार्थे तपस्विनीम् । जहार भद्रां वैशाली मातुलस्य

इसकारण मेरी समझमें इन पाण्डवोंको अवश्य ही मारडालना चाहिये शिशुपाल ऐसा कहकर क्रोधमें भराहुआ गर्जना करने लगा, ॥ ४ ॥ शिशुपालके ऐसा कह चुकनेपर श्रीकृष्णजीने पाण्डवोंके सामने कोमलताके साथ सब राजाओंसे यह वचन कहा कि-॥५॥ हे राजाओं ! यह सात्वतीका पुत्र हमारा बड़ा शत्रु है यह दुरात्मा हितकारी यादवोंको सदा हानि पहुंचानेकी चेष्टा करता है ॥ ६ ॥ हे राजाओं ! इस दुराचारीने हमारी बुआका पुत्र होकर भी हमको प्राग्ज्योतिषपुरमें गयाहुआ जानकर द्वारकापुरी को जलाकर भस्म करदिया था ॥७॥ जब भोजराज रैवतक पर्वत पर विहार करनेको गये थे तब इस पापात्माने उनके साथियोंमें से कितनोंहीको मार डाला और कितनो ही को बांधकर अपने नगर को चला आया ॥ ८ ॥ मेरे पिताके अश्वमेध यज्ञ करनेके समय इस पापात्माने विघ्न डालनेकी इच्छासे उत्तम रक्षकोंसे घिरे हुए यज्ञके पवित्र घोड़ेको हरलिया था॥९॥इसकी इच्छा न करने वाली सौवीर देशको जाती हुई तपस्वी बभ्रु की स्त्रीको इसने मोहित,होकर हर लिया था ॥ १० ॥ इस दुराचारीने कारूषके

नृशंसकृत् ॥ ११ ॥ पितृष्वसुः कृते दुःखं सुमहन्मर्षयाम्यहम् । दिष्टया त्विदं सर्वराज्ञां सन्निधावद्य वर्त्तते ॥ १२ ॥ पश्यन्ति हि भवन्तोऽद्य मय्यतीव व्यतिक्रमम् । कृतानि तु परोक्षं मे यानि तानि निबोधत ॥ १३ ॥ इमं त्वस्य न शक्ष्यामि क्षन्तुमद्य व्यतिक्रमम् । अवलेपाद्वधार्हस्य समग्रे राजमण्डले ॥ १४ ॥ रुक्मिण्यामस्य मूढस्य प्रार्थनासीन्मुमूर्षतः । न च तां प्राप्तवान् मूढः शूद्रो वेदश्रुतीमिव ॥ १५ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवमादि ततः सर्वे सहितास्ते नराधिपाः । वासुदेववचः श्रुत्वा चेदिराजं व्यगर्हयन् १६ तस्य तद्वचनं श्रुत्वा शिशुपालः प्रतापवान् । जहास स्वनवद्धासं वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ १७ ॥ मत्पूर्वां रुक्मिणीं कृष्णः संसत्सु

निमित्त तप करनेवाली अपने मामा, विशालाधिपतिकी कन्या भद्राको छलसे रूप बदलकर हरलिया था ॥ ११ ॥ मैंने केवल अपनी बुआके कहनेसे इस दुष्टात्माके सब काम इतने दिनों तक सहे, यह दुष्टात्मा शिशुपाल आज भाग्यवश तुम सब राजाओंके सामने ही विद्यमान है ॥ १२ ॥ इस पापात्माने आज मेरे विषय में जैसा बुरा व्यवहार किया है उसको आप सब राजाओंने देख ही लिया और इसने मेरे पीछे जो कुछ किया है उसको भी सुन लिया ॥ १३ ॥ इस दुष्टात्माने आज सकल राजमण्डलके सामने घमण्डमें भरकर मेरा अपमान किया है अतः आज मैं इसके अपराधको नहीं सह सकता ॥ १४ ॥ इस मूढमति शिशुपालने यमालयमें जानेके लिये रुक्मिणीसे विवाह करना चाहा था, परन्तु जैसे शूद्र वेदकी श्रुतियोंको नहीं पासकता, तैसे ही इसको रुक्मिणी नहीं मिली ॥ १५ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-हे महाराज ! इसप्रकार श्रीकृष्णकी बातें सुनकर वह सभामें बैठे हुए सब राजे शिशुपालकी बड़ीही निन्दा करने लगे प्रतापी शिशुपाल श्रीकृष्णजीके ऐसे कथनको सुनकर ठहाका मारकर हँसा और श्रीकृष्णजीसे यह कहने लगा कि-॥ १७ ॥

परिकीर्त्तयन्। विशेषतः पार्थिवेषु व्रीडां न कुरुषे कथम् ॥ १८ ॥ मन्यमानो हि कः सत्सु पुरुषः परिकीर्त्तयेत्। अन्यपूर्वां स्त्रियं जातु त्वदन्यो मधुसूदन ॥ १९ ॥ क्षमस्व यदि ते श्रद्धा मा वा कृष्ण मम क्षम। क्रुद्धाद्वापि प्रसन्नाद्वा किं मे त्वत्तो भविष्यति ॥ २० ॥ तथा ब्रुवत एवास्य भगवान् मधुसूदनः। मनसाऽचिन्तयच्चक्रं दैत्यगर्वनिषूदनम् ॥ २१ ॥ एतस्मिन्नेव काले तु चक्रे हस्तगते सति उवाच भगवानुच्चैर्वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ २२ ॥ शृण्वन्तु मे महीपाला येनैतत् क्षमितं मया। अपराधशतं क्षाम्यं मातुरस्यैव याचने ॥ २३ ॥ दत्तं मया याचितश्च तद्वै पूर्णं हि पार्थिवाः। अधुना वधयिष्यामि पश्यतां वो महीक्षिताम् ॥ २४ ॥ एवमुक्त्वा

हे कृष्ण ! इस सभामें और विशेषकर राजाओंके सामने रुक्मिणीको पहिले मेरी चाहीहुई कहतेहुए तुम्हें कुछ लज्जा नहीं आती? ॥ १८ ॥ पुरुषत्वका अभिमान रखनेवाला तुम्हारे सिवाय और कौन ऐसा होगा जो यह कहे, कि—मेरी स्त्रीको पहिले अमुक पुरुष चाहता था ॥ १९ ॥ हे कृष्ण ! तेरी श्रद्धा हो तो मुझे क्षमा कर न हो तो मत करै, क्योंकि–तेरे क्रुद्ध होनेसे मेरी कुछ हानि नहीं होसकती और तेरे प्रसन्न होनेसे मुझे कोई लाभ नहीं है ॥ २० ॥ भगवान् कृष्णने शिशुपालके ऐसा कहते ही कहते मनमें दैत्यगर्वनाशी अपने चक्रका स्मरण किया ॥२१॥ सो स्मरण करते क्षण ही उस चक्रके हाथमें आजाने पर सुन्दर बोलने वाले भगवान्ने ऊँचे स्वरसे कहा, कि–॥ २२ ॥ हे राजाओं ! सुनों ! दुष्टात्मा शिशुपालकी माताने पहिले मुझसे प्रार्थना की थी, कि-मेरे पुत्रके सौ अपराध तुमको क्षमा करने चाहियें मैंने उस की प्रार्थनाको स्वीकार कर लिया था इसीसे आजतक मैं इसको क्षमा करता रहा ॥ २३ ॥ हे राजाओं! मेरे दियेहुए वरदानके अनुसार इसके सौ अपराध पूरे होगये अतएव आज मैं तुम्हारे सामने ही इसका प्राणान्त करदेता हूं ॥ २४ ॥ क्रोधमें भरे शत्रुनाशी

यदुश्रेष्ठश्चेदिराजस्य तत्क्षणात्। व्यपाहरच्छिरः क्रुद्धश्चक्रेणामित्रकर्षणः ॥ २५ ॥ स पपात महाबाहुर्वज्राहत इवाचलः। ततश्चेदिपतेर्देहात्तेजोऽग्र्यं ददृशुर्नृपाः ॥ २६ ॥ उत्पतन्तं महाराज गगनादिव भास्करम् । ततः कमलपत्राक्षं कृष्णं लोकनमस्कृतम् । ववन्दे तत्तदा तेजो विवेश च नराधिप ॥ २७ ॥ तदद्भुतममन्यन्त दृष्ट्वा सर्वे महीक्षितः । यद्विवेश महाबाहुं तत्तेजः पुरुषोत्तमम् २८ अनभ्रे प्रववर्ष द्यौः पपात ज्वलिताशनिः । कृष्णेन निहते चैद्ये चचाल च वसुन्धरा ॥ २९ ॥ ततः केचिन्महीपाला नाब्रुवंस्तत्र किञ्चन। अतीतवाक्पथे काले प्रेक्षमाणा जनार्दनम् ॥ ३० ॥ हस्तैर्हस्ताग्रमपरे प्रत्यपिंषन्नमर्षिताः । अपरे दशनैरोष्ठानदशन् क्रोधमूर्छिताः ॥ ३१ ॥ रहश्च केचिद्वार्ष्णेयं प्रशशंसुर्नराधिपाः । केचिदेव सुसंरब्धा मध्यस्थास्त्वपरेऽभवन् ॥ ३२ ॥ प्रहृष्टाः केशवं

मधुसूदनने - इतना कहकर उसी समय तीखी धारवाले चक्रसे शिशुपालका शिर काट डाला ॥२५॥ महाबाहु शिशुपाल वज्रसे तोड़े हुए पहाड़की समान भूमिपर गिरपड़ा उससमय राजाओंने देखा, कि—शिशुपालके शरीरमेंसे एक बड़ाभारी तेजका पुञ्ज निकला॥२६॥ मानो आकाशमेंसे सूर्यमण्डल उतर आया, हे महाराज ! वह तेजःपुञ्ज जगद्वन्दित कमलदलनयन कृष्णको प्रणाम करके उनमें ही प्रवेश करगया वह सब राजे इस अद्भुत घटनाको देखकर बड़े आश्चर्यमें हुए ॥ २७ ॥ २८ ॥ वह तेज ज्योंही महाबाहु पुरुषोत्तम भगवान्में लीन हुआ त्योंही शिशुपाल मारागया उसी समय विना मेघोंके ही आकाशमेंसे वर्षा होनेलगी और जहां तहां प्रज्वलित वज्रपात होनेलगे, पृथ्वी डगमगाने लगी और तहां बैठेहुए राजाओंमेंसे कितनों ही ने तो कुछ कहा ही नहीं ॥ २९ ॥ ३० ॥ कितने ही उस समय कुछ बोलनेका अवसर न समझकर क्रोधमें भरेहुए हाथोंको मलने लगे ॥ ३१ ॥ दूसरे क्रोध में भरे हुए दांतोंसे ओंठोंको चवाने लगे और कोई राजे मन ही मनमें कृष्णकी प्रशंसा करने लगे ॥ ३२ ॥ इस प्रकार कितनों

जग्मुः संस्तुवन्तो महर्षयः । ब्राह्मणाश्च महात्मानः पार्थिवाश्च
महाबलाः ॥ ३३ ॥ शशंसुर्निर्वृताः सर्वे दृष्ट्वा कृष्णस्य विक्रमम्
पाण्डवस्त्वब्रवीत् भ्रातॄन् सत्कारेण महीपतिम् ॥ ३४ ॥ दमघो-
षात्मजं वीरं संस्कारयत मा चिरम् । तथा च कृतवन्तस्ते भ्रातुर्वै
शासनं तदा ॥ ३५ ॥ चेदीनामाधिपत्ये च पुत्रमस्य महीपतेः ।
अभ्यषिञ्चत्तदा पार्थः सह तैर्वसुधाधिपैः ॥ ३६ ॥ ततः स कुरु-
राजस्य क्रतुः सर्वसमृद्धिमान् । यूनां प्रीतिकरो राजन् स बभौ
विपुलौजसः ॥ ३७ ॥ शान्तविघ्नः सुखारम्भः प्रभूतधनधान्य-
वान् । अन्नवान् बहुभक्ष्यश्च केशवेन सुरक्षितः ॥ ३८ ॥ समा-
पयामास च तं राजसूयं महाक्रतुम् । तन्तु यज्ञं महाबाहुरासमाप्ते-
र्जनार्दनः । ररक्ष भगवान्शौरिः शार्ङ्गचक्रगदाधरः ॥ ३९ ॥
ततस्त्ववभृतस्नातं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् । समस्तं पार्थिवं क्षत्रमुप-

ही को तो बड़ाभारी क्रोध आया और कितने ही उदासीन रहे
महर्षि महात्मा ब्राह्मण और कितने ही राजे भगवान् वासुदेवके
पराक्रमको देख अत्यन्त ही प्रसन्न होकर उनकी स्तुति करते हुए
चलेगये ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ युधिष्ठिरने अपने भाइयोंसे कहा, कि-
दमघोषके पुत्र राजा शिशुपालका प्रेतसंस्कार सत्कारके साथ करो
इसमें देर न हो ॥ ३५ ॥ उन्होंने भी ज्येष्ठ भ्राताकी आज्ञाके अनु-
सार शिशुपालका संस्कार करदिया फिर युधिष्ठिरने राजा शिशु-
पालके पुत्रका उन सब राजाओंको साथमें लेकर चेदिराज्यमें
अभिषेक करदिया।३६॥हे महाराजा तदनन्तर सकल समृद्धियोंसे
से युक्त युवाओंको प्रसन्न करनेवाले जिसका आरम्भ बड़े सुख
किया था और भगवान् कृष्णने सबप्रकार रक्षाकरके जिसके विघ्नों
को शान्त किया उस बहुत धन धान्य अन्न और भोजनके पदार्थों
वाले परमशोभायमान राजसूय महायज्ञको प्रतापी युधिष्ठिरने समाप्त
किया, शंख चक्र गदाधारी महाबाहु भगवान् कृष्णने समाप्तिपर्यन्त
उस यज्ञ की रक्षा करी ॥ ३७-३९ ॥ इसप्रकार यज्ञको समाप्त

गम्येदमब्रवीत् ॥ ४० ॥ दिष्ट्या वर्द्धसि धर्मज्ञ साम्राज्यं प्राप्तवानसि । आजमीढाजमीढानां यशः संवर्द्धितं त्वया ॥ ४१ ॥ कर्मणैतेन राजेन्द्र धर्मश्च सुमहान् कृतः । आपृच्छामो नरव्याघ्र सर्वकामैः सुपूजिताः ॥४२॥ स्वराष्ट्राणि गमिष्यामस्तदनुज्ञातुमर्हसि । श्रुत्वा तु वचनं राज्ञां धर्मराजो युधिष्ठिरः॥४३॥यथार्हं पूज्य नृपतीन् भ्रातॄन् सर्वानुवाच ह । राजानः सर्व एवैते प्रीत्यास्मान् समुपागताः ॥४४॥ प्रस्थिताः स्वानि राष्ट्राणि मामापृच्छ्य परन्तपाः । अनुव्रजत भद्रं वो विषयान्तं नृपोत्तमान् ॥ ४५ ॥ भ्रातुर्वचनमाज्ञाय पाण्डवा धर्मचारिणः । यथार्हं नृपतीन् सर्वानेकैकं समनुव्रजन् ॥ ४६ ॥ विराटमन्वयाचूर्णं धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् । धनञ्जयो यज्ञसेनं महात्मानं महारथम् ॥ ४७ ॥ भीष्मञ्च धृतराष्ट्रञ्च

करके अवभृथ नामक स्नान करलेने पर सकल क्षत्रिय राजाओं ने राजा युधिष्ठिरके पास आकर कहा, कि—॥ ४० ॥ हे धर्मज्ञ! आपका बड़ा सौभाग्य है जो आपने निर्विघ्न साम्राज्य पदको पाकर अजमीढ़वंशी राजाओंके यशको बढ़ाया ॥४१॥ हे राजेन्द्र ! आपने इस कर्मसे बड़ाभारी धर्मानुष्ठान किया हमने आपके यज्ञमें आकर सकल भोग्य पदार्थोंको यथेच्छ पाया, हे महाराज ! अब आज्ञा दीजिये, कि–हम अपने २ राज्यको जायँ धर्मराज युधिष्ठिर ने उन राजाओंकी इस बातको सुनकर उनका पूजन किया और अपने भाइयों से कहने लगे, कि–हे भ्राताओं ! यह राजे प्रीतिके कारण हमारे यहां आये थे॥ ४२-४४ ॥ अब यह अपने २ राज्यों को जाते हैं तुम हमारे राज्यकी सीमापर्यन्त इनको पहुंचा आओ हे राजाओं ! पधारिये आपका मङ्गल हो॥४५॥ धर्मात्मा पाण्डवोंने अपने भाईकी आज्ञा पाकर एक२ राजाको अपने राज्यकी सीमा पर्यन्त साथ जाकर विदा करदिया ॥ ४६ ॥ प्रतापी धृष्टद्युम्न विराटको, अर्जुन महारथी महात्मा द्रुपदको,महाबली भीमसेन भीष्म और धृतराष्ट्रको, युद्धविद्याविशारद सहदेव अश्वत्थामा सहित

भीमसेनो महाबलः। द्रोणन्तु ससुतं वीरं सहदेवो युधां पतिः
॥ ४८ ॥ नकुलः सुबलं राजन् सहपुत्रं समन्वयात्। द्रौपदेयाः
ससौभद्राः पार्वतीयान् महारथान् ॥४९॥ अन्वगच्छंस्तथैवान्यान्
क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभाः। एवं सुपूजिताः सर्वे जग्मुर्विप्राः सहस्रशः
॥ ५० ॥ गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु सर्वेषु ब्राह्मणेषु च। युधिष्ठिरमुवाचेदं
वासुदेवः प्रतापवान् ॥ ५१ ॥ आपृच्छे त्वां गमिष्यामि द्वारकां
कुरुनन्दन। राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं दिष्ट्या त्वं प्राप्तवानसि ॥ ५२ ॥
तमुवाचैवमुक्तस्तु धर्मराजो जनार्दनम्। तव प्रसादाद्गोविन्द प्राप्तः
क्रतुवरो मया ॥ ५३ ॥ क्षत्रं समग्रमपि च त्वत्प्रसादाद्वशे स्थितम्।
उपादाय बलिं मुख्यं मामेव समुपस्थितम् ॥ ५४ ॥ कथं त्वद्गमनार्थं मे वाणी विरमतेऽनघ। न ह्यहं त्वामृते वीर रतिं प्राप्नोमि
कर्हिचित् ॥ ५५ ॥ अवश्यश्चैव गन्तव्या भवता द्वारका पुरी।

द्रोणाचार्यके और नकुल पुत्रसहित सुबलके साथ पहुंचानेको गए,
द्रौपदी और सुभद्राके पुत्र महारथी पहाड़ी राजाओंको तथा अन्य
क्षत्रिय राजाओंको पहुंचाने गए इसप्रकार अच्छे प्रकार पूजन
पाकर वह सब राजे और सहस्रों ब्राह्मण विदा हुए॥४७—५०॥
सब राजाओं और ब्राह्मणोंके विदा होजाने पर प्रतापी कृष्णने
युधिष्ठिरसे कहा, कि—॥५१॥ हे कुरुनन्दन! सौभाग्यसे राजसूय
महायज्ञ को आपने समाप्त करलिया, अब मैं भी द्वारकाको जाने
के लिये तुम्हारी आज्ञा चाहता हूं ॥ ५२ ॥ श्रीकृष्णजीके ऐसा
कहने पर धर्मराजने कहा, कि—हे गोविंद! केवल आपके अनुग्रहसे ही मैंने राजसूय यज्ञको पूरा करपाया है॥ ५३ ॥ आपके
अनुग्रहसे ही सब क्षत्रिय राजे मेरे वशमें हुए और उत्तम २ भेटें
लेकर मेरे पास आये ॥ ५४ ॥ हे अनघ! इस समय मेरी वाणी
आपको जानेके लिये कैसे कह सकती है?हे वीर! मैं तो आपके विना
एक क्षणभरको भी प्रसन्न चित्तसे नहीं रहसकता॥५५॥परन्तु क्या
करूं आपको द्वारका पुरीको अवश्य जानापड़ेगा ही, युधिष्ठिरकी

एवमुक्तः स धर्मात्मा युधिष्ठिरसहायवान् ॥ ५६ ॥ अभिगम्याब्रवीत् प्रीतः पृथां पृथुयशा हरिः । साम्राज्यं समनुप्राप्ताः पुत्रास्तेऽद्य पितृष्वसः ॥ ५७ ॥ सिद्धार्था वसुमन्तश्च सा त्वं प्रीतिमवाप्नुहि । अनुज्ञातस्त्वया चाहं द्वारकां गन्तुमुत्सहे ॥ ५८ ॥ सुभद्रां द्रौपदीञ्चैव सभाजयत केशवः । निष्क्रम्यान्तःपुरात्तस्माद्युधिष्ठिरसहायवान् ॥ ५९ ॥ स्नातश्च कृतजप्यश्च ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च । ततो मेघवपुःप्रख्यं स्यन्दनञ्च सुकल्पितम् । योजयित्वा महाबाहुर्दारुकः समुपस्थितः ॥६०॥ उपस्थितं रथं दृष्ट्वा तार्क्ष्यप्रवरकेतनम् । प्रदक्षिणमुपावृत्य समारुह्य महामनाः ॥ ६१ ॥ प्रययौ पुण्डरीकाक्षस्ततो द्वारवतीं पुरीम् ॥ ६२ ॥ तं पद्भ्यामनुवव्राज धर्मराजो युधिष्ठिरः । भ्रातृभिः सहितः श्रीमान् वासुदेवं महाबलम् ॥ ६३ ॥ ततो मुहूर्त्तं संगृह्य स्यन्दनप्रवरं हरिः । अब्रवीत् पुण्डरी-

---

बात पूरी होनेपर महायशा भगवान् कृष्ण उनको साथ लियेहुए कुन्तीके पास जाकर प्रसन्न होते हुए कहनेलगे, कि-हे बुआजी ! आपके पुत्रोंने साम्राज्य पद पालिया॥५६-५७॥इनकी अभिलाषा सिद्ध होगई और धन भी बहुतसा पालिया,इस बातसे तुम्हें प्रसन्न होना चाहिये और मैं अब तुम्हारी आज्ञा पाकर द्वारकापुरीको जाना चाहता हूं ॥ ५८॥ श्रीकृष्ण इसीप्रकार द्रौपदी और सुभद्रा से भी संभाषण करके युधिष्ठिरको साथमें लिये रणवाससे बाहर आगए॥ ५९ ॥ स्नान करके अपने आप जप किया, और ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराया, इतने ही में कृष्णका सारथि महाबाहु दारुक सुन्दर सजेहुए मेघवपु नामक रथको जोड़कर लेआया ॥ ६० ॥ उदारमन श्रीकृष्णजी उस गरुड़की ध्वजावाले रथके समीप आये और प्रदक्षिणा करके उसमें बैठगये ॥६१॥ और पुण्डरीकाक्ष भगवान् द्वारकापुरीको चलदिये ॥ ६२ ॥ उस समय धर्मराज युधिष्ठिर भ्राताओंको साथमें लिये पैदल ही महाबली कृष्ण के पीछे २ चलनेलगे ॥६३॥तब कमलनयन भगवान् नेक्षणभरको

कान्तः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥६४॥ अप्रमत्त स्थितो नित्यं प्रजाः
पाहि विशाम्पते। पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिव द्विजाः ॥ ६५ ॥
बान्धवास्त्वोपजीवन्तु सहस्राक्षमिवामराः । कृत्वा परस्परेणैवं
सम्विदं कृष्णपाण्डवौ ॥ ६६ ॥ अन्योऽन्यं समनुज्ञाप्य जग्मतुः
स्वगृहान् प्रति। गते द्वारवतीं कृष्णे सात्वतप्रवरे नृप ॥ ६७ ॥
एको दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः। तस्यां सभायां दिव्य-
यामूषतुस्तौ नरर्षभौ ॥ ६८ ॥

इति सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवधे
पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

समाप्तञ्च शिशुपालवधपर्व

अथ द्यूतपर्व

वैशम्पायन उवाच। समाप्ते राजसूये तु क्रतुश्रेष्ठे सुदुर्लभे
शिष्यैः परिवृतो व्यासः पुरस्तात्समपद्यत ॥ १ ॥ सोऽभ्ययादा-
सनात्तूर्णं भ्रातृभिः परिवारितः । पाद्येनासनदानेन पितामह-
पूजयत् ॥ २ ॥ अथोपविश्य भगवान् काञ्चने परमासने । आस्य-

रथका वेग रोककर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे कहा, कि—॥६४॥
हे राजन्! जैसे मेघ सकल प्राणियोंकी रक्षा करता है,महावृक्ष जैसे
पक्षियोंको आश्रय देता है तैसे ही तुम भी सावधान मनसे सदा
प्रजाओंका पालन करो ॥६५॥ जैसे देवता इन्द्रके अनुगामी रहते हैं
तैसे ही तुम्हारे भ्राता तुम्हारे अनुगामी रहें,इसप्रकार कहकर तथा
परस्पर अनुमति लेकर कृष्ण और युधिष्ठिर अपने२ घरोंको गए,
यदुवीर श्रीकृष्णजीके द्वारकापुरीको चलेजाने पर राजा दुर्योधन
और दूसरा सुबलका पुत्र शकुनि यह दोनों राजे ही उस दिव्य
सभामें ठहरे रहे॥६६-६८॥पञ्चचत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥४५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—परमदुर्लभ राजसूय महायज्ञके
समाप्त होने पर शिष्यों सहित व्यासजी युधिष्ठिरके सन्मुख आये १
राजा युधिष्ठिरने शीघ्र ही भ्राताओं सहित आसनसे उठकर पाद्य
आसन आदि दे पितामह व्यासजीकी पूजा करी ॥ २ ॥ भगवान्

यनो व्यासः सह शिष्यैः श्रुतानुगैः ॥ १७ ॥ पितामहे गते राजा चिन्ताशोकसमन्वितः । निःश्वसन्नुष्णमसकृत्तमेवार्थं विचिन्तयन् ॥ १८ ॥ कथन्तु दैवं शक्येत पौरुषेण प्रबाधितुम् । अवश्यमेव भविता यदुक्तं परमर्षिणा ॥ १९ ॥ ततोऽब्रवीन्महातेजाः सर्वान् भ्रातॄन् युधिष्ठिरः ॥ श्रुतं वै पुरुषव्याघ्रा यन्मां द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ २० ॥ तदा तद्वचनं श्रुत्वा मरणे निश्चिता मतिः । सर्वक्षत्रस्य निधने यद्यहं हेतुरीप्सितः ॥ २२ ॥ कालेन निर्मितस्तात को ममार्थोऽस्ति जीवतः । एवं ब्रुवन्तं राजानं फाल्गुनः प्रत्यभाषत ॥ २२ ॥ मा राजन् कश्मलं घोरं प्राविशो बुद्धिनाशनम् । सम्प्रधार्य्य महाराज यत् क्षेमं तत् समाचर ॥ २३ ॥ ततोऽब्रवीत् सत्यधृतिर्भ्रातॄन् सर्वान् युधिष्ठिरः । द्वैपायनस्य वचनं तत्रैव समचिन्तयन् ॥ २४ ॥ अद्य प्रभृति भद्रं वो प्रतिज्ञां मे निबोधत ।

ऐसा कहकर अपने शिष्यों सहित कैलास पर्वतको चले गए १७ व्यासजीके चले जाने पर राजा युधिष्ठिर चिंता और शोकसे व्याकुल होकर गरम श्वास छोड़ते हुए बारंबार उस विषयकी ही चिंता करने लगे॥१८॥वह विचारने लगे कि–पुरुषार्थसे दैवशक्ति को कैसे हटाया जासकता है ? महर्षिने जो कुछ कहा है वह अवश्य ही होगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ १९ ॥ तदनन्तर महातेजस्वी युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंसे कहा कि–हे पुरुषसिंहों ! मुझसे व्यासजीने जो कुछ कहा वह तुमने सुना ॥ २० ॥ मैंने उनकी बातको सुनते ही अपने प्राणोंको त्याग देनेका निश्चय किया है, यदि कालने सब क्षत्रियोंके नाशका कारण मुझे ही बनाना चाहा है तब तो अब मेरा जीवन धारण करना भी किस कामका है ? राजा युधिष्ठिरके ऐसा कहने पर अर्जुनने उनसे कहा कि–॥ २१ ॥ २२ ॥ हे राजन् ! बुद्धिनाशक घोर मोहमें न पड़िये, हे महाराज! विचार करके जिसमें कल्याण हो सो करिये२३ अटल धैर्यधारी युधिष्ठिर बीच२ में व्यासदेवकेकी बातकीही चिंता करते हुए सब भाइयोंसे कहने लगे, कि—॥ २४ ॥ हे भाइयों !

त्रयोदश समास्तात को ममार्थोऽस्ति जीवतः ॥२५॥ न प्रवक्ष्यामि परुषं भ्रातृनन्यांश्च पार्थिवान्। स्थितो निदेशे ज्ञातीनां योक्ष्ये तत्समुदाहरन् ॥२६॥ एवं मे वर्त्तमानस्य स्वसुतेष्वितरेषु च। भेदो न भविता लोके भेदमूलो हि विग्रहः ॥ २७ ॥ विग्रहं दूरतो रक्षन् प्रियाण्येव समाचरन्। वाच्यतां न गमिष्यामि लोकेषु मनुजर्षभाः ॥ २८ ॥ भ्रातुर्ज्येष्ठस्य वचनं पाण्डवाः सन्निशम्य तत्। तमेव समवर्त्तन्त धर्मराजहिते रताः॥२९॥ संसत्सु समयं कृत्वा धर्मराट् भ्रातृभिः सह। पितॄंस्तर्प्य यथान्यायं देवताश्च विशाम्पते ॥ ३०॥ कृतमङ्गलकल्याणो भ्रातृभिः परिवारितः। गतेषु क्षत्रियेन्द्रेषु सर्वेषु भरतर्षभ ॥ ३१ ॥ युधिष्ठिरः सहामात्यः प्रविवेश पुरोत्तमम्। दुर्य्योधनो महाराज शकुनिश्चापि सौबलः। सभायां रमणी-

---

तुम्हारा कल्याण हो, मेरी प्रतिज्ञाको सुनो, तेरह वर्ष पर्यन्त मेरे जीवनसे ही कौन लाभ है? यदि जीना ही है तो आजसे मैं भ्राताओं को वा और राजाओंको कठोर वचन नहीं कहूंगा, ज्ञातिबांधवोंकी आज्ञामें रह कर उनके कथनानुसार काम करता हुआ समयको बिताऊँगा ॥२५-२६॥ अपने पुत्र तथा अन्य पुरुषोंके साथ ऐसा बर्त्ताव करने पर मेरा किसीमें भेदभाव नहीं रहैगा क्योंकि-लोकमें भेदभाव होनेसे ही विरोध हुआ करता है ॥ २७ ॥ हे भाइयों ! मैं विरोधभावको दूर फेंककर केवल सबके प्रिय काम ही करूंगा, ऐसा होनेसे लोकमें मेरी निन्दा नहीं होगी ॥ २८ ॥ बड़े भाई युधिष्ठिर की प्रसन्नतामें ही प्रसन्न रहनेवाले पांडवोंने उनकी इस बातको सुनकर ऐसा ही करनेकी अनुमति दी ॥ २९ ॥ धर्मराजने सभामें भाइयोंके साथ ऐसा नियम करके पितरोंका तर्पण और देवताओं का यथोचित पूजन किया॥३०॥सकल राजाओंके बिदा होजानेपर इसप्रकार मङ्गलाचरण करके भ्राताओं और मंत्रियों सहित राजा युधिष्ठिरने नगरमें प्रवेश किया हे महाराज जनमेजय ! दुर्योधन

यार्या तत्रैवास्ते नराधिप ॥ ३२ ॥

इति सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरसभये षट्चत्वारिंशोऽध्याय ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच । वसन् दुर्योधनस्तस्यां सभायां पुरुषर्षभ । शनैर्ददर्श तां सर्वां सभां शकुनिना सह ॥ १ ॥ तस्यां दिव्यानभिप्रायान् ददर्श कुरुनन्दनः । न दृष्टपूर्वा ये तेन नगरे नागसाह्वये ॥ २ ॥ स कदाचित् सभामध्ये धार्त्तराष्ट्रो महीपतिः । स्फाटिकं स्थलमासाद्य जलमित्यभिशङ्कया ॥३॥ स्ववस्त्रोत्कर्षणं राजा कृतवान् बुद्धिमोहितः । दुर्मना विमुखश्चैव परिचक्राम तां सभाम् ॥४॥ ततः स्थले निपतितो दुर्मना व्रीडितो नृपः । निःश्वसन्विमुखश्चापि परिचक्राम तां सभाम् ॥५॥ ततः स्फाटिकतोयां वै स्फाटिकाम्बुजशोभिताम् । वापीं मत्वा स्थलमिव सवासाः प्रापतज्जले ॥ ६ ॥ जले निपतितं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः । जहास जहसुश्चैव किङ्कराश्च सुयोधनम् ॥

और सुबलपुत्र शकुनि यह उस रमणीय सभामें ही ठहरे रहे ३१-३२

षट्चत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥ ४६ ॥ छ ॥ छ

राजा दुर्योधनने शकुनिके साथ उस सभामें ठहर कर क्रमसे उस सब सभाको देखा ॥ १ ॥ दुर्योधनने उस सभामें वह दिव्य भाव देखे कि—जो पहिले हस्तिनापुरमें कभी देखे ही नहीं थे २ दुर्योधन एक समय सभामें किसी स्फटिकके बनेहुए चौकमें पहुंच गया, तहां जलके धोखेमें अपने वस्त्र ऊपरको उठाकर बड़ा दुःखित हुआ और उसमें प्रवेश करनेकी इच्छासे चारों ओर घूमने लगा३४ तदनन्तर राजा दुर्योधन जलके धोखेसे उस स्फटिक भूमिमें गिरकर बड़ा लज्जित हुआ फिर तहांसे लौटकर लंबी २ श्वासें लेता हुआ मनमें दुखित हो इधर उधर घूमनेलगा ॥ ५ ॥ तदनन्तर स्थलके धोखेमें स्फटिककी समान निर्मल जल और कमलोंसे शोभायमान बावड़ीमें कपड़ोंसहित गिरगया॥६॥ महाबली भीमसेन और उसके सेवक दुर्योधनको इसप्रकार जलमें गिरते देखकर हँसनेलगे ॥७॥

॥७॥ वासांसि च शुभान्यस्मै प्रददू राजशासनात् । तथागतन्तु तं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः॥८॥ अर्जुनश्च यमौ चोभौ सर्वे ते प्राहसं-स्तदा । नामर्षयत्ततस्तेषामवहासममर्षणः ॥ ९ ॥ आकारं रक्ष-माणस्तु न स तान् समुदैक्षत । पुनर्वसनमुत्क्षिप्य प्रतरिष्यन्निव स्थलम् ॥ १० ॥ आरुरोह ततः सर्वे जहसुश्च पुनर्जनाः । द्वारन्तु विहिताकारं स्फाटिकं प्रेक्ष्य भूमिपः । प्रविशन्नाहतो मूर्ध्नि व्याघूर्णित इव स्थितः ॥ ११ ॥ तादृशं च परं द्वारं स्फाटिकोरु-कपाटकम् विघट्टयन् कराभ्यान्तु निष्क्रम्याग्रे पपात ह॥१२॥ द्वारन्तु वितताकारं समापेदे पुनश्च सः । तद्वृत्तं चेति मन्वानो द्वारस्थाना-दुपारमत् ॥ १३ ॥ एवं प्रलम्भान् विविधान् प्राप्य तत्र विशाम्पते।

तदनन्तर युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर सेवकोंने दुर्योधन को उत्तम २ वस्त्र लाकर दिये, दुर्योधन फिर पहिलेकी समान ही थलमें जल का और जलमें थलका धोखा खाकर गिरता पड़ता आने लगा यह देख कर भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव यह सब हँसनेलगे क्रोधी स्वभाववाला दुर्योधन उनके इस उपहासको सह नहीं सका ८-९ परन्तु उस समय अपने मनके भावको छुपा ही रक्खा और उनकी ओरको दृष्टि उठाकर भी नहीं देखा, वह फिर वैसे ही धोखेमें पड़ गया और परले पार जानेकी इच्छासे वस्त्र उठाकर स्थलमें ही चलने लगा यह देखकर सब लोग फिर हँसने लगे, उसने केवल स्फटिकके कुट्टिम (फरस) पर ही धोखा नहीं खाया, किंतु स्फटिककी भीतको भी द्वार समझकर ज्योंही उसमेंको घुसने लगा, ऐसी टक्कर लगी,कि-चक्करसा खाकर बैठगया १०-११ तैसे ही स्फटिककी बड़ी २ किवाड़ोंवाले एक द्वारको हाथोंसे धक्का मारकर खोलते हुए एकायकी निकलकर आपड़ा ॥ १२ ॥ आगे चलकर खुले किवाड़ोंवाले बहुत बड़े द्वारपर पहुंचा, उसको भी तैसा ही धोखा देनेवाला स्फटिककी किवाड़ोंसे बंद समझ कर उसके पाससे लौट आया ॥ १३ ॥ हे महाराज ! राजा दुर्यो-

पाण्डवैःपाभ्यनुज्ञातस्ततो दुर्योधनो नृपः ॥१४॥ अप्रहृष्टेन मनसा राजसूये महाक्रतौ। प्रेक्ष्य तामद्भुतामृद्धिं जगाम गजसाह्वयम् ॥१५॥ पाण्डवश्रीप्रतप्तस्य ध्यायमानस्य गच्छतः। दुर्योधनस्य नृपतेः पापा मतिरजायत ॥१६॥ पार्थान् सुमनसो दृष्ट्वा पार्थिवांश्च वशानुगान्। कृत्स्नं चापि हितं लोकमाकुमारं कुरूद्वह ॥ १७॥ महिमानं परं चापि पाण्डवानां महात्मनाम्। दुर्योधनो धार्तराष्ट्रो विवर्णः समपद्यत ॥ १८॥ स तु गच्छन्ननेकाग्रः सभामेकोऽन्वचिन्तयत्। श्रियञ्च तामनुपमां धर्मराजस्य धीमतः॥ १९॥ प्रमत्तो धृतराष्ट्रस्य पुत्रो दुर्योधनस्तदा। नाभ्यभाषत् सुबलजं भाषमाणं पुनः पुनः ॥२०॥ अनेकाग्रन्तु तं दृष्ट्वा शकुनिः प्रत्यभाषत। दुर्योधन कुतो मूलं निश्वसन्निव गच्छसि ॥ २१ ॥ दुर्योधन उवाच। दृष्ट्वेमां

धन इस प्रकार तहां अनेकों धोखे खाकर और राजसूय महायज्ञकी उस परम श्रीसम्पदाको देखकर युधिष्ठिरसे आज्ञा ले मनमें दुःखित होता हुआ हस्तिनापुरको चलदिया ॥१४—१५॥ राजा दुर्योधन मार्गमें चलते २ पाण्डवोंकी श्रीसम्पदाका विचार कर करके चित्तमें दुःखित हुआ और उसके मनमें खोटे विचार उठनेलगे१६ हे कुरुवंशी जनमेजय ! वह धृतराष्ट्रकुमार दुर्योधन, पांडवोंकी बड़ी भारी महिमा, बड़ा भारी प्रभाव, राजाओंका वशमें होना और बालकों पर्यन्त सब लोकोंका हितैषीपन देखकर पीला पड़गया१७ ॥ १८ ॥ धृतराष्ट्रकुमार मार्गमें चलते समय उस अनुपम सभाकी शोभा और बुद्धिमान् धर्मराजकी राजलक्ष्मीकी चिंतामें ऐसा निमग्न हुआ, कि—उसका मामा उससे बार २ बातें करता था परन्तु वह किसी बातका उत्तर ही नहीं देता था ॥ १९-२० ॥ शकुनिने उसको व्याकुल देखकर कहा, कि-हे दुर्योधन ! तुम मनमें ऐसे खिन्न होते हुए क्यों चल रहे हो ? ॥२१॥ यह सुनकर दुर्योधनने कहा, कि-हे मामा ! महात्मा अर्जुनके शस्त्रके प्रताप

पृथिवीं कृत्स्नां युधिष्ठिरवशानुगाम् । जितामस्त्रप्रतापेन श्वेताश्वस्य महात्मनः ॥२२॥ तञ्च यज्ञं यथाभूतं दृष्ट्वा पार्थस्य मातुल । यथा शक्रस्य देवेषु तथाभूतं महाद्युतेः ॥ २३ ॥ अमर्षेण तु सम्पूर्णो दह्यमानो दिवानिशम् । शुचिशुक्रागमे काले शुष्येत्तोयमिवाल्पकम् ॥ २४ ॥ पश्य सात्वतमुख्येन शिशुपालो निपातितः । न च तत्र पुमानासीत् कश्चित्तस्य पदानुगः ॥ २५ ॥ दह्यमाना हि राजानः पाण्डवोत्थेन वह्निना । क्षान्तवन्तोऽपराधं ते को हि यस्तन्तुमर्हति ॥ २६ ॥ वासुदेवेन तत् कर्म यथायुक्तं महत् कृतम् । सिद्धं च पाण्डुपुत्राणां प्रतापेन महात्मनाम् ॥ २७ ॥ तथा हि रत्नान्यादाय विविधानि नृपा नृपम् । उपातिष्ठन्त कौन्तेयं वैश्या इव करप्रदाः ॥२८॥श्रियं तथाविधां दृष्ट्वा ज्वलन्तीमिव पाण्डवे । अमर्षवशमापन्नो दह्यामि न तथोचितः ॥ २९ ॥ एवं स

से प्राप्त हुई इस समुद्रपर्यन्त पृथिवीको युधिष्ठिरके परमवशीभूत और इन्द्रके यज्ञकी समान उस राजसूय महायज्ञको देखकर क्रोध के मारे जलता हुआ मेरा शरीर ग्रीष्मकालके थोड़े जलवाले सरोवरकी समान सूखा जाता है ॥ २२–२४ ॥ देखो जिस समय कृष्णने शिशुपालको मारगिराया उस समय राजसभामें ऐसा कोई भी राजा नहीं था जो शिशुपालका पक्ष करता ॥ २५ ॥ उस समय राजाओंने पाण्डवोंके किये हुए तिरस्कारकी अग्निसे भस्मीभूत होते हुए भी अपराधको क्षमा किया, परन्तु ऐसे अपराधको कौन क्षमा कर सकता है ? ॥ २६ ॥ कृष्ण ने जैसा वह बड़ा अनुचित कर्म किया वह भी महात्मा पाण्डवों के प्रतापसे सिद्ध होगया ॥ २७ ॥ तथा उस समय राजे अनेकों प्रकारके रत्न लेकर कर देनेवाले वैश्योंकी समान राजा युधिष्ठिर की उपासना करने लगे ॥२८॥पांडवोंके प्रतापसे प्राप्त हुई राज्यलक्ष्मीको इसप्रकार दमकती हुई देखकर मैं क्रोधके मारे बहुत ही भस्मीभूत हुए जाता हूं इसके अनन्तर विचार करता हुआ कुरु

निश्चयं कृत्वा ततो वचनमब्रवीत् । पुनर्गान्धारनृपतिं दह्यमान इवाग्निना ॥ ३० ॥ वह्निमेव प्रवेक्ष्यामि भक्षयिष्यामि वा विषम् । अपो वापि प्रवेक्ष्यामि नहि शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ ३१ ॥ को हि नाम पुमान् लोके मर्षयिष्यति सत्ववान् । सपत्नानृध्यतो दृष्ट्वा हानमात्मानमेव च ॥३२॥ सोऽहं न स्त्री नचाप्यस्त्री न पुमान्नापुमानपि । योऽहं तां मर्षयाम्यद्य तादृशीं श्रियमागताम् ॥ ३३ ॥ ईश्वरत्वं पृथिव्याश्च वसुमत्तां च तादृशीम् । यज्ञञ्च तादृशं दृष्ट्वा मा दृशः को न संज्वरेत् ॥ ३४ ॥ अशक्तश्चैक एवाहं तामाहर्तुं नृपश्रियम् । सहायांश्च न पश्यामि तेन मृत्युं विचिन्तये ॥ ३५ ॥ दैवमेव परं मन्ये पौरुषञ्च निरर्थकम् । दृष्ट्वा कुन्तीसुते शुद्धां

निश्चय करके कहनेलगा, कि-हे मामाजी ! मेरे हृदयमें ऐसी जलन पड़ीहुई है, कि-॥ २६ ॥ ३० ॥ अब तो मैं जीवित भी नहीं रह सकूँगा, या तो जलतीहुई अग्निमें कूदजाऊँगा नहीं तो विष खा कर अपने जीवनको समाप्त करदूँगा अथवा जलमें डूबकर इस असह्य ज्वालाको बुझाऊँगा ॥ ३१ ॥ कौनसा शक्तिमान् पुरुष शत्रुकी उन्नति और अपनी अवनति देखकर सहन कर सकेगा ॥ ३२ ॥ मैं जब पाण्डवोंकी ऐसी राज्यलक्ष्मीको देखकर दुःखित होता हुआ भी अभीतक सहरहा हूं तब तो मैं न स्त्री हूं न पुरुष हूं, कुछ भी नहीं हूं, क्योंकि—यदि मैं स्त्री होता तो ऐसा दुःख नहीं भोगना पड़ता और यदि पुरुष होता तो उसको पानेका कोई उपाय बिना किये नहीं रहता ॥ ३३॥ वैसा पृथ्वीका प्रभुत्व, वैसी धनसम्पदा और वैसे ही यज्ञको देखकर मुझसा कौन पुरुष दुःखित नहीं होगा? ॥ ३४ ॥ और विशेष बात यह है, कि-मैं अकेला उस राज्यलक्ष्मीको हरण नहीं करसकता और मेरा कोई सहायक भी नहीं है इसीलिये मैंने प्राण खोदेनेका ही विचार किया है ॥ ३५ ॥ युधिष्ठिरकी उस निष्कण्टक पवित्र राजलक्ष्मी को देखकर मैंने निश्चय करलिया कि-प्रारब्धही प्रधान है, पुरु-

श्रियं तां महतीं तथा ॥ ३६ ॥ कृतो यत्नो मया पूर्वं विनाशे तस्य सौबल। तच्च सर्वमतिक्रम्य संवृद्धोऽप्स्विव पङ्कजम् ॥३७॥ तेन दैवं परं मन्ये पौरुषञ्च निरर्थकम्। धार्त्तराष्ट्राश्च हीयन्ते पार्था वर्द्धन्ति नित्यशः ॥ ३८ ॥ सोऽहं श्रियञ्च तां दृष्ट्वा सभां तां च तथाविधाम्। रक्षिभिश्चावहासं तं परितप्ये यथाग्निना॥३९॥ स मामभ्यनुजानीहि मातुलाद्य सुदुःखितम्। अमर्षञ्च समाविष्टं धृतराष्ट्रे निवेदय ॥ ४० ॥

इति श्रीसभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

शकुनिरुवाच। दुर्योधन न तेऽमर्षः कार्य्यः प्रति युधिष्ठिरम्। भागधेयानि हि स्वानि पाण्डवा भुञ्जते सदा॥१॥ विधानं विविधाकारं परं तेषां विधानतः। अनेकैरभ्युपायैश्च त्वया न शकिताः

पार्थ बृथा है ॥ ३६ ॥ हे मामा! मैंने पहिले इन पाण्डवोंके नाश करनेका यत्न किया था परन्तु यह उन सब के पार होकर जलमें कमलकी समान बढ़रहे हैं ॥ ३७ ॥ इससे मैं तो दैवको ही बलवान् मानता हूं पुरुषार्थ निरर्थक है दैवके अनुकूल होनेसे पाण्डव बढ़ रहे हैं और पुरुषार्थ करने पर भी हमारी दिन २ हीनदशा होती चली जारही है ॥३८॥ उस राज्यलक्ष्मी और तैसी सभा को देखकर तथा पहरेदारोंके उस उपहासको सुनकर मैं ऐसा संताप पारहा हूं जैसे कोई अग्निसे जलता हो ॥३९॥ इसकारण हे मामा जी! आप मुझे मरण ओढ़ देनेकी आज्ञा दीजिये और पिताजीसे इस मेरे क्रोधवश मरनेके समाचारको कहदेना ॥ ४० ॥ सप्तचत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥ ४७ ॥ ॥

दुर्योधनके दुःखभरे वचनोंको सुनकर शकुनिने कहा, कि-हे दुर्योधन! पांडव अपने भागको भोगते हैं उसको देखकर तुम्हें युधिष्ठिरके विषयमें ऐसा क्रोधमें मरना उचित नहीं है ॥ १ ॥ विशेषकर वह भी अनेकों प्रकारके विधि विधानोंको जानते हैं

पुरा ॥ २ ॥ आरब्धापि महाराज पुनः पुनररिन्दम । विमुक्ताश्च नरव्याघ्रा भागधेयपुरस्कृताः ॥ ३ ॥ तैर्लब्धा द्रौपदी भार्य्या द्रुपदश्च सुतैः सह । सहायः पृथिवीलाभे वासुदेवश्च वीर्यवान्॥४॥ लब्धश्चानभिभूतार्थैः पित्र्योऽशः पृथिवीपते । विवृद्धस्तेजसा तेषां तत्र का परिदेवना ॥ ५ ॥ धनञ्जयेन गाण्डीवमक्षय्यौ च महेषुधी। लब्धान्यस्त्राणि दिव्यानि तोषयित्वा हुताशनम् ॥ ६ ॥ तेन कार्मुकमुख्येन बाहुवीर्येण चात्मनः । कृता वशे महीपालास्तत्र का परिदेवना ॥ ७ ॥ अग्निदाहान्मयश्चापि मोक्षयित्वा स दानवम् । सभां तां कारयामास सव्यसाची परन्तपः ॥८॥ तेन चैव मयेनोक्ताः किङ्करा नाम राक्षसाः । वहन्ति तां सभां भीमास्तत्र का परिदेवना ॥ ९ ॥ यच्चासहायतां राजन्नुक्तवानसि भारत।

तुमने पहिले अनेकों उपाय किये परन्तु उनके ऊपर एक भी नहीं चला ॥ २ हे शत्रुंजय ! बार २ उपाय करने पर भी जब वह बच गये तो अन्तमें उनको राज्यका भाग देकर ही तुम्हारा पीछा छूटा ॥ ३ ॥ उन्होंने द्रौपदी स्त्री पायी और पृथिवीको पानेमें सहायता करनेवाले पुत्र सहित द्रुपद और तेजस्वी कृष्णको पाया है ॥ ४ ॥ हे राजन् ! अपने पिताके भागको पाकर सफल मनोरथ हुए पाण्डवोंने अपने प्रतापसे उसको बढ़ा लिया उसमें तुम क्यों विलाप करते हो ? ॥५॥ अर्जुनने अग्निको प्रसन्न करके गांडीव धनुष और जिनमेंके बाण कभी कम न हों ऐसे दो तर्कस तथा बहुतसे दिव्य अस्त्र पाये ॥ ६ ॥ उस श्रेष्ठ धनुष और भुजबलसे राजाओंको वशमें किया है इसमें भी तुम्हारे दुःखित होनेकी कौन बात है ? ॥ ७ ॥ शत्रुतापी अर्जुनने अग्निदाहसे मय दानवकी रक्षा करके उससे वह सभा बनवाई है ॥ ८ ॥ उस ही मय दानव के आज्ञा दियेहुए किङ्कर नामक राक्षस उस सभाकी सम्हाल रखते हैं उसमें भी तुम्हारे दुःख माननेकी कौन बात है ? ॥ ९ ॥ और हे राजन् ! तुमने जो कहा कि-मेरे पास सहायता नहीं है

तन्मिथ्या भ्रातरो हीमे तव सर्वे वशानुगाः ॥ १० ॥ द्रोणस्तव महेश्वास सह पुत्रेण वीर्यवान्। सूतपुत्रश्च राधेयो गौतमश्च महारथः ॥ ११ ॥ अहञ्च सह सौदर्य्यैः सौमदत्तिश्च पार्थिव ।एतैस्त्वं सहितः सर्वान् जय कृत्स्नां वसुन्धराम् ॥ १२ ॥ दुर्य्योधन उवाच। त्वया च सहितो राजन्नेतैश्चान्यैर्महारथैः। एतानेव विजेष्यामि यदि त्वमनुमन्यसे ॥१३॥एतेषु विजितेष्वद्य भविष्यति मही मम। सर्वे च पृथिवीपालाः सभा सा च महाधना ॥१४॥ शकुनिरुवाच। धनञ्जयो वासुदेवो भीमसेनो युधिष्ठिरः। नकुलः सहदेवश्च द्रुपदश्च सहात्मजैः ॥१५॥ नैते युधि पराजेतुं शक्या देवगणैरपि। महारथा महेष्वासाः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ॥१६ ॥ अहन्तु तद्विजानामि विजेतुं येन शक्यते। युधिष्ठिर स्वयं राजंस्तन्निबोध जुषस्व च ॥१७॥अप्रमादेन सुहृदामन्येषाञ्च महात्मनाम्। यदि शक्या विजेतुं

यह तुम्हारा कहना वृथा है, क्योंकि–यह सब भाई तुम्हारे वशीभूत हुए अनुगामी रहते है॥ १० ॥ और महाधनुर्धर वीर द्रोण उनका पुत्र अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कर्ण, महारथी गौतम ॥ ११ ॥ मैं और अपने भाइयों सहित राजा सौमदत्ति, इन सबको साथमें लेकर तुम अखिल भूमण्डलका विजय करो ॥ १२ ॥ यह सुन कर दुर्योधनने कहा, कि–हे राजन्! यदि आप आज्ञा दें तो मैं आपको और आपके बताये इन राजाओंको तथा औरोंको भी साथमें लेकर आज ही इन पांडवोंको जीतलूँ ॥ १३ ॥ इनको जीत लेनेपर आज ही सकल भूमण्डल मेरा हो जायगा सब राजे और वह सभा भी मेरे वशमें हो जायगी ॥ १४ ॥ यह सुनकर शकुनिने कहा, कि—अर्जुन, कृष्ण, भीमसेन, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव और पुत्रों सहित द्रुपद ॥ १५ ॥ इनको युद्धमें जीतना देवताओंकी भी शक्तिके बाहर है क्योंकि—यह सब महारथी बड़े धनुषधारी अस्त्रविद्यामें प्रवीण और रणमें डटनेवाले हैं ॥ १६ ॥ परन्तु हे राजन्! जिस उपायसे युधिष्ठिरको जीता जासकता है उसको मैं जानता हूं तुम मुझसे सुनो और अब उसी से काम लो

ते तन्ममाचक्ष्व मातुल ॥ १८ ॥ शकुनिरुवाच । द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न स जानाति देवितुम् । समाहूतश्च राजेन्द्रो न शक्ष्यति निवर्त्तितुम् ॥ १९ ॥ देवने कुशलश्चाहं न मेऽस्ति सदृशो भुवि। त्रिषु लोकेषु कौरव्य तं त्वं द्यूते समाह्वय ॥ २० ॥ तस्याक्षकुशलो राजन्नादास्येऽहमसंशयम् । राज्यं श्रियश्च तां दीप्तां त्वदर्थं पुरुषर्षभ ॥ २१ ॥ इदन्तु सर्वं त्वं राज्ञे दुर्योधन निवेदय । अनुज्ञातस्तु ते पित्रा विजिष्ये तान्न संशयः ॥ २२ ॥ दुर्योधन उवाच ॥ त्वमेव कुरुमुख्याय धृतराष्ट्राय सौबल । निवेदय यथान्यायं नाहं शक्ष्ये निवेदितुम् ॥ २३ ॥

इति सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसन्तापेऽष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

॥ १७ ॥ यह सुनकर दुर्योधन कहनेलगा, कि—हे मामाजी ! मेरे मित्र तथा अन्य महात्माओंके ध्यान देने पर यदि किसी उपायसे इन पांडवोंको जीता जासकता है तो वह उपाय मुझे बताओ ॥ १८ ॥ यह सुनकर शकुनिने कहा, कि–राजा युधिष्ठिरको जुए का प्रेम तो है परन्तु वह खेलना नहीं जानते हैं इससे तुम उनको जुआ खेलनेको बुलाओ वह बुलानेपर निषेध नहीं करेंगे ॥ १९ ॥ मैं खेलनेमें ऐसा चतुर हूं, कि—भूमण्डलमें तो क्या त्रिलोकी भरमें मेरी समान कोई है ही नहीं इसलिये तुम उनको द्यूत खेलनेको बुलाओ मैं तुम्हारे लिये चतुराई से पांसे फेंककर उनकी उस दमकती हुई सकल राज्यलक्ष्मीको लेलूंगा॥२१॥ हे दुर्योधन ! यह सब बात तुम अपने पिता राजा धृतराष्ट्रसे कहो यदि वह मुझे आज्ञा दें तो मैं पांडवोंको निःसन्देह जीत लूंगा ॥ २२॥ दुर्योधन ने कहा, कि हे मामाजी! महाराज धृतराष्ट्र से यह बात आप ही ठीक २ समझा कर कहें मैं उनसे नहीं कहसकता ॥ २३ ॥ अष्टचत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥ ४८ ॥

वैशम्पायन उवाच ॥ अनुभूय तु राज्ञस्तं राजसूयं महाक्रतुम् । युधिष्ठिरस्य नृपतेर्गान्धारीपुत्रसंयुतः ॥१॥ प्रियकृन्मतमाज्ञाय पूर्वं दुर्योधनस्य तत् । प्रज्ञाचक्षुषमासीनं शकुनिः सौबलस्तदा ॥ २ ॥ दुर्योधनवचः श्रुत्वा धृतराष्ट्रं जनाधिपम् । उपगम्य महाप्राज्ञं शकुनिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ३ ॥ शकुनिरुवाच ॥ दुर्योधनो महाराज विवर्णो हरिणः कृशः । दीनश्चिन्तापरश्चैव तं विद्धि मनुजाधिप ॥४॥ न वै परीक्षसे सम्यगसह्यं शत्रुसम्भवम् । ज्येष्ठपुत्रस्य हृच्छोकं किमर्थं नावबुध्यसे॥५॥ धृतराष्ट्र उवाच । दुर्योधन कुतो मूलं भृशमार्त्तोऽसि पुत्रक । श्रोतव्यश्चेन्मया सोऽर्थो ब्रूहि मे कुरुनन्दन॥६॥ अयं त्वां शकुनिः प्राह विवर्णं हरिणं कृशम् । चिन्तयंश्च न पश्यामि शोकस्य तव सम्भवम् ॥ ७ ॥ ऐश्वर्यं हि महत्पुत्र त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् । भ्रातरः सुहृदश्चैव नाचरन्ति तवाप्रियम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि हे जनमेजय ! युधिष्ठिरके उस राजसूय महायज्ञको देखकर गांधारीके पुत्रों सहित लौटकर आयाहुआ सुबल पुत्र शकुनि दुर्योधनसे सम्मति करकै उसका प्रिय कार्य करनेकी इच्छासे उसके कहनेके अनुसार बैठे हुए प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रके पास गया और उनसे कहने लगा ॥ १-३ ॥ शकुनिने कहा, कि-हे महाराज ! मैं आपको जताये देता हूं, कि-दुर्योधनका रङ्ग बदलकर पीला पड़गया है और यह दुर्बल, दीन तथा चिन्तामें मग्न रहता है ॥४॥ ज्येष्ठ पुत्रके शत्रुके कारण उत्पन्न हुए हृदयके शोकको तुम परीक्षा करकै क्यों नहीं समझते हो ? ॥५॥ धृतराष्ट्रने शकुनिके मुखसे ऐसा सुनकर दुर्योधनसे कहा, कि-हे प्रियपुत्र दुर्योधन! तू इतना खिन्न होरहा है इसका कारण क्या है? हे कुरुनन्दन ! इसका कारण मेरे सुननेके योग्य हो तो बता ।६। यह शकुनि तुझे रंग बदलकर पीला पड़ा हुआ और दुर्बल बता रहा है परन्तु मैं ध्यान देता हूं तो मुझे शोकमें होनेका कोई कारण नहीं मालूम होता ॥ ७ ॥ हे पुत्र ! बड़ाभारी ऐश्वर्य तेरे पास है,

आच्छादयसि प्रावारानश्नासि पिशितौदनम् । आजानेया वहन्त्यश्वाः केनासि हरिणः कृशः ॥ ९ ॥ शयनानि महार्हाणि योषितश्च मनोरमाः । गुणवन्ति च वेश्मानि विहाराश्च यथासुखम् ॥ १० ॥ देवानामिव ते सर्वं वाचि बद्धं न संशयः । स दीन इव दुर्धर्षः कस्माच्छोचसि पुत्रक ॥ ११ ॥ दुर्योधन उवाच। अश्नाम्याच्छादये चाहं यथा कुपुरुषस्तथा । अमर्षं धारये चोग्रं निनीषुः कालपर्ययम् ॥ १२ ॥ अमर्षणः स्वाः प्रकृतीरभिभूय परं स्थितः । क्लेशान्मुमुक्षुः परजान् स वै पुरुष उच्यते ॥ १३ ॥ सन्तोषो वै श्रियं हन्ति ह्यभिमानश्च भारत । अनुक्रोशभये चोभे यैर्वृतो नाश्नुते महत् ॥ १४ ॥ न मां प्रीणाति मद्भुक्तं श्रियं दृष्ट्वा युधिष्ठिरे। अतिज्वलन्तीं कौन्तेये

तेरे भ्राता वा मित्र कुछ अप्रिय काम नहीं करते हैं ॥ ८ ॥ राजाओं के योग्य वस्त्र पहनता है, पिशितमय भोजन पाता है और उत्तमोत्तम घोड़ोंपर चढ़ता है, फिर तू किस दुःखसे दुर्बल होकर पीला पड़ गया है ? ॥ ९ ॥ तेरी शय्याएं बहुमूल्य हैं स्त्रियें मनोहरणी हैं, महल सजेहुए हैं और सुखके साथ विहार करता है ॥ १० ॥ यह सब पदार्थ देवताओंकी समान, मुखसे शब्द निकालते ही तुझे मिल जाते हैं हे प्रिय पुत्र ! फिर क्या कारण है, कि-तू दीनकी समान शोक करता है ? ॥ ११ ॥ दुर्योधनने कहा, कि-हे पिताजी ! केवल कालक्षेप करनेके लिये कायर पुरुषकी समान खाता पीता हूं, वस्त्र पहरता हूं और घोर क्रोधको धारण करता हूं ॥ १२ ॥ परन्तु जो पुरुष क्रोधमें भरकर अपनी प्रजाओंको वशमें रख सकता है और शत्रुके तिरस्कारसे छूटना चाहता है वह ही वास्तव में पुरुष है ॥ १३ ॥ हे महाराज ! संतोष श्री और अभिमान दोनों को नष्ट करदेता है और जो केवल अनुग्रह वा भयके वशमें होकर चलता है वह कभी गौरव नहीं पाता ॥ १४ ॥ जिस दिनसे मैंने कुन्तीनन्दन, युधिष्ठिरकी दिपती हुई राजलक्ष्मीको देखा है उस दिनसे कोई भी भोगका पदार्थ मुझे अच्छा नहीं लगता उसने ही

विवर्णं हरणों मम ॥ १५ ॥ सपत्नानृध्यतोऽस्त्मानं हीयमानं निशम्य च । अदृश्यामपि कौन्तेय श्रियं पश्यन्निवोद्य ताम् ॥ १६ ॥ तस्मादहं विवर्णश्च दीनश्च हरिणः कृशः । अष्टाशीति सहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ॥ १७ ॥ त्रिंशद्दासीक एकैको यान्बिभर्ति युधिष्ठिरः । दशान्यानि सहस्राणि नित्यं तत्रान्नमुत्तमम् ॥ १८ ॥ भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने । कदलीमृगमोकानि कृष्णश्यामारुणानि च ॥ १९ ॥ काम्बोजः प्राहिणोत्तस्मै परार्ध्यानपि कम्बलान् । गजयोषिद्गवाश्वस्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २० ॥ त्रिंशतं चोष्ट्रवामीनां शतानि विचरन्त्युत । राजन्या बलिमादाय समेता हि नृपक्षये ॥ २१ ॥ पृथग्विधानि रत्नानि पार्थिवाः पृथिवीपते । आहरन् क्रतुमुख्येऽस्मिन् कुन्तीपुत्राय भूरिशः॥२२॥ न क्वचिद्धि मया तादृग् दृष्टपूर्वो न च श्रुतः । यादृग्धनागमो यज्ञे

मुझे पीला कर दिया है ॥१५ ॥ मैं शत्रुओंकी उन्नति और अपनेको हीन दशामें देख रहा हूं, यद्यपि युधिष्ठिरकी राज्यलक्ष्मी मेरे सामने नहीं है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि-मानो मैं उसको अपने नेत्रोंसे देखरहा हूं, ॥१६॥ इस कारण ही मैं दीन दुर्बल होता हुआ पीला पड़ाजाता हूं. युधिष्ठिर प्रतिदिन अट्ठासी सहस्र स्नातक और गृहस्थी ब्राह्मणोंका पोषण करते हैं और उनमेंसे हरएककी सेवाके लिये तीस २ दासी नियत करदी हैं, इनके सिवाय और दश सहस्र पुरुष भी युधिष्ठिरके यहां प्रतिदिन सोनेके पात्रोंमें भोजन करते हैं, कम्बोजदेशके राजाने युधिष्ठिरके पास काली, हरी और लाल वर्णकी कदली वनके मृगोंकी मृगचर्म, बहुमूल्य कम्बल, सैंकड़ों सहस्रों हथनियोंके पाठे, घोड़े और तीनसौ ऊँट तथा घोड़ियें भेजी हैं, जिनके सैंकड़ोंके झुण्ड वहां विचरते रहते हैं. हे महाराज ! इस महायज्ञमें युधिष्ठिरके यहां बहुतसे राजे इकट्ठे हुए जो अनेकों रत्नोंकी भेंट लेकर आये थे और वह उन्होंने युधिष्ठिरको अर्पण करदीं ॥ १७—२२ ॥ अधिक क्या कहूं,

पाण्डुपुत्रस्य धीमता ॥ २३ ॥ अपर्य्यन्तं धनौघं तं दृष्ट्वा शत्रोरहं नृप । शर्म नैवाधिगच्छामि चिन्तयानो विशाम्पते ॥२४॥ ब्राह्मणा वाटधानाश्च गोमन्तः शतसंघशः । त्रिखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः॥२५॥कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयान् शुभान् । एतद्धनं समादाय प्रवेशं लेभिरे न च ॥ २६ ॥ यथैव मधु शक्राय धारयन्त्यमरस्त्रियः । तदस्मै कांस्यमाहार्षीत् वारुणं कलशोदधिः ॥ २७ ॥ शैक्यं रुक्मसहस्रस्य बहुरत्नविभूषितम् । शंखप्रवरमादाय वासुदेवोऽभिषिक्तवान् ॥ २८॥ दृष्ट्वा च मम तत्सर्वं ज्वररूपमिवाभवत् । गृहीत्वा तत्तु गच्छन्ति समुद्रौ पूर्वदक्षिणौ ॥२९॥ तथैव पश्चिमं यान्ति गृहीत्वा भरतर्षभ । उत्तरन्तु न गच्छन्ति विना तात पतत्रिणः ॥ ३०॥ तत्र गत्वार्जुनो दण्डमाजहारामितं

बुद्धिमान् युधिष्ठिरके यज्ञमें जितना धन आया उतना मैंने अपनी आंखोंसे पहिले कहीं नहीं देखा और न कहीं सुना ॥ २३ ॥ शत्रुके उस असंख्य धनसमूहको देखकर मैं बड़ी चिन्तामें हूं और मुझे चैन नहीं पड़ता ॥ २४ ॥ हाथोंमें सोनेके कमण्डलु लिये सैकड़ों पथिक ब्राह्मण गौओंके समूहोंके सहित बहुतसी भेंट लिये हुए भीतर घुसनेका भी अवसर नहीं पाते थे द्वारपर ही खड़े थे२५ जैसे देवांगनाएं देवराज इन्द्रके लिये मधुको लिये रहती हैं वैसे ही युधिष्ठिरके लिये भी समुद्र समान वरुण देवताका दिया हुआ सुवर्णकी टोंटियोंवाला कांसीका गड़ुआ सदा सुन्दरियोंके हाथमें रहता था ॥ २६ ॥ २७ ॥ वासुदेवने अनेकों रत्नोंसे जड़े बहुमूल्य सुवर्णके छीके और सुन्दर शंख लेकर युधिष्ठिरका अभिषेक किया ॥२८ ॥ उन छींकोंको लेकर कोई पूर्वसमुद्रको कोई दक्षिण समुद्रको और कोई पश्चिम समुद्रको जल लेने गए और हे तात ! उत्तरसागर पर तो पक्षियोंके सिवाय कोई जाही नहीं सकता उस सम्पदाको देखकर मुझे ज्वरसा आगया ॥ २९–३० ॥ परन्तु पिताजी ! सुनिये, कैसी अद्भुत बात है कि अर्जुन वहां-

धनम् । इदं चाद्भुतमत्रासीत्तन्मे निगदतः शृणु । पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां परिविष्यताम् ॥ ३१ ॥ स्थापिता तत्र संज्ञाभूच्छंखो ध्मायति नित्यशः । मुहुर्मुहुः प्रणदतस्तत्र शंखस्य भारत ॥३२॥ अनिशं शब्दमश्रौषं ततो रोमाणि मेऽहृषन् । पार्थिवैर्बहुभिः कीर्णमुपस्थानं दिदृक्षुभिः ॥ ३३ ॥ अशोभत महाराज नक्षत्रैर्द्यौरिवामला । सर्वरत्नान्युपादाय पार्थिवा वै जनेश्वर ॥ ३४ ॥ यज्ञे तस्य महाराज पाण्डुपुत्रस्य धीमतः । वैश्या इव महीपाला द्विजातिपरिवेशकाः ॥ ३५ ॥ न सा श्रीर्देवराजस्य यमस्य वरुणस्य च । गुह्यकाधिपतेर्वापि या श्री राजन् युधिष्ठिरे ॥ ३६ ॥ तां दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रस्य श्रियं परमिकामहम् । शांतिं न परिगच्छामि दह्यमानेन चेतसा ॥ ३७ ॥ शकुनिरुवाच । यामेतामतुलां लक्ष्मीं दृष्टवा-

भी पहुँच गया और दण्डरूप बहुतसा धन लाया, सुनिये तो सही यज्ञमें ऐसा संकेत कर लिया था कि-एक लक्ष ब्राह्मणोंके भोजन कर चुकने पर शंख बजाया जाय, ऐसी शंखध्वनि तहां बराबर होती रहती थी, बारंबार उस शंखध्वनिको सुनकर मेरा तो रोमाञ्च खड़ा होता था, सभास्थान दर्शक राजाओंसे भरकर तारागणोंसे भरे निर्मल आकाशकी समान शोभा पाता था, हे महाराज! उन बुद्धिमान् युधिष्ठिरके यज्ञमें जहां तहांके राजे सब ही प्रकार के रत्नरूप श्रेष्ठ २ पदार्थ लेकर आये थे, और वह सब राजे वैश्योंकी समान द्विजातियोंको भोजन परोसनेका काम करते थे ॥ ३१ ॥ ॥ ३५ ॥ हे राजन् ! मैंने उस समय युधिष्ठिरकी जैसी राज्यलक्ष्मी देखी, कदाचित् वैसी राज्यलक्ष्मी देवराज इन्द्रकी भी नहीं होगी यमराजकी भी नहीं होगी वरुणकी भी नहीं होगी और कुबेरकी भी नहीं होगी ॥ ३६ ॥ राजा युधिष्ठिरकी उस बड़ी भारी राजलक्ष्मीको मैंने जबसे देखा है तबसे मेरा चित्त भस्म हुआ जाता है और शान्ति नहीं मिलती ३७ दुर्योधनके ऐसा कहने पर शकुनिने कहा, कि-हे सत्यपराक्रमी

नसि पांडवे। तस्याःप्राप्तुमुपायं मे शृणु सत्यपराक्रम ॥ ३८ ॥ अक्षद्यूतेष्वभिज्ञातः पृथिव्यामपि भारत । हृदयज्ञः पणज्ञश्च विशेषज्ञश्च देवने॥ ३९ । द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न च जानाति देवितुम्। आहूतश्चैष्यति व्यक्तं द्यूतादपि रणादपि ॥ ४० ॥ नियतं तं विजेष्यामि कृत्वा तु कपटं विभो । आनयामि समृद्धिं तां दिव्या चोपाह्वयस्व तत् ॥ ४१ ॥ वैशम्पायन उवाच ॥ एवमुक्तः शकुनिना राजा दुर्योधनस्ततः । धृतराष्ट्रमिदं वाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ॥ ४२ ॥ अयमुत्सहते राजन् श्रियमाहर्तुमक्षवित् । द्यूतेन पांडुपुत्रस्य तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४३ ॥ धृतराष्ट्र उवाच ॥ क्षत्ता मन्त्री महाप्राज्ञः स्थितो यस्यास्मि शासने। तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्यास्य विनिश्चयम् ॥ ४४ ॥ स हि धर्मं पुरस्कृत्य दीर्घदर्शी परं हितम् ।

दुर्योधन ! तुमने जो पाण्डवोंकी बड़ी भारी राज्यलक्ष्मी देखी है उसको पानेका उपाय मुझसे सुनो ॥ ३८ ॥ हे भारत ! मैं पाशों के खेलको भूमण्डलभरमें सबसे अच्छा जानता हूं, उसके मर्मको जानता हूं, दाव लगाना जानता हूं और चालचलनेमें भी प्रवीण हूं. ॥ ३९ ॥ युधिष्ठिरको फांसोंका खेल तो प्यारा है, परन्तु वह खेलनेमें चतुर नहीं हैं क्षत्रियोंकी रीतिके अनुसार द्यूतके लिये वा रणके लिये बुलाये जाने पर उनको अवश्य ही आना पड़ेगा ॥४०॥ उनको बुलवाओ मैं कपटसे फांसे डालकर उनको जीतलूंगा और उनकी उस सकल दिव्य संपदाको निःसन्देह मँगवा लूंगा ४१ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-हे जनमेजय ! शकुनिके इस बातको पूरा करते ही राजा दुर्योधनने धृतराष्ट्रसे यह बात कही, कि-४२ हे राजन् ! यह फांसोंके खेलको जाननेवाले गान्धारराज द्यूतके द्वारा पाण्डवोंकी राज्यलक्ष्मीको छीन लेनेका उत्साह कररहे हैं, आप इनको आज्ञा दीजिये ॥ ४३ ॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि-परम प्रवीण विदुर मेरे मंत्री हैं, मैं उनके उपदेशके अनुसार ही काम किया करता हूं, उनसे संमति करके मैं निश्चय करूगा, कि--इस विषय में क्या करना चाहिये ॥ ४४ ॥ वह दूरदर्शीपनेके प्रभावसे दोनों

उभयोः पक्षयोर्युक्तं वक्ष्यत्यर्थविनिश्चयम् ॥४५॥ दुर्योधन उवाच । निवर्तयिष्यति त्वासौ यदि क्षत्ता समेष्यति । निवृत्ते त्वयि राजेन्द्र मरिष्येऽहं न संशयः ॥ ४६ ॥ स त्वं मयि मृते राजन् विदुरेण सुखी भव । भोक्ष्यसे पृथिवीं कृत्स्नां किं मया त्वं करिष्यसि॥४७॥ वैशम्पायन उवाच ॥ आर्तवाक्यन्तु तत्तस्य प्रणयोक्तं निशम्य सः। धृतराष्ट्रोऽब्रवीत्प्रेष्यान् दुर्योधनमते स्थितः ॥ ४८ ॥ स्थूणासहस्रै-र्बृहतीं शतद्वारां सभां मम । मनोरमां दर्शनीयामाशु कुर्वन्तु शिल्पिनः ॥ ४९ ॥ ततः संस्तीर्य रत्नैस्तां तक्ष्ण आनाय्य सर्वशः। सुकृतां सुप्रवेशाञ्च निवेदयत मे शनैः॥५०॥ दुर्योधनस्य शान्त्यर्थ-मिति निश्चित्य भूमिपः । धृतराष्ट्रो महाराज प्राहिणोद्विदुराय वै५१ अपृष्ट्वा विदुरं ह्यस्य नासीत्कश्चिद्विनिश्चयः । द्यूते दोषांश्च जानन्

ओरकी हितकारी और धर्मानुकूल सम्मति देंगे ॥ ४५ ॥ दुर्योधनने कहा, कि हे महाराज ! यदि विदुरजी आजायँगे तो वह आपको निषेध करदेंगे और यदि आप द्यूत करानेसे बचेंगे तो निःसन्देह मैं प्राणोंको त्यागदूँगा तब आप विदुरके साथ सुख भोगैं मेरा क्या करोगे ॥ ४७ ॥ वैशंपायन कहते हैं, कि-हे जनमेजय धृतराष्ट्रने दुर्योधनके नम्रता भरे कातर वचनको सुनकर उसकी ही बात मान ली और अपने दूतोंको बुलाकर कहा, कि---४८ शिल्पियोंको बुलाकर सहस्रों खम्भोंसे शोभायमान, सैंकड़ों द्वारों वाली नयनानंददायक एक सुन्दर सभा शीघ्र ही बनवाओ ४९ फिर उसमें सुन्दर गलीचे बिछाओ और बहुत से बढ़इयोंको बुलवा कर उसमें जानेके बहुतसे द्वार बनवाओ और शीघ्र ही मुझे समाचार दो ॥ ५० ॥ धृतराष्ट्रने दुर्योधनके सन्तापको शांत करने के लिये केवल पुत्रप्रेमके कारण ऐसी बात कही परन्तु पाशोंके खेलको अनेकों दोषोंकी खान जानकर, और विदुरसे बिना पूछे कुछ निश्चय नहीं होगा ऐसा विचार कर विदुरके पास समा-चार भेज दिया, यद्यपि धृतराष्ट्र जुएकी बुराइयोंको जानते थे परन्तु

पुत्रस्नेहादकृष्यत ॥ ५२ ॥ तच्छ्रुत्वा विदुरो धीमान् कलिद्वार-
मुपस्थितम् । विनाशमुखमुत्पन्नं धृतराष्ट्रमुपाद्रवत् ॥ ५३ ॥ सोऽ-
भिगम्य महात्मानं भ्राता भ्रातरमग्रजम् । मूर्ध्ना प्रणम्य चरणा-
विदं वचनमब्रवीत् ॥ ५४ ॥ विदुर उवाच । नाभिनन्दामि ते
राजन् व्यवसायमिमं प्रभो । पुत्रैर्भेदो यथा न स्याद् द्यूतहेतो-
स्तथा कुरु ॥ ५५ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । क्षत्तः पुत्रेषु पुत्रैर्मे कलहो
न भविष्यति । यदि देवाः प्रसादं नः करिष्यन्ति न संशयः ५६
अशुभं वा शुभं वापि हितं वा यदि वाहितम् । प्रवर्ततां सुहृद्द्यूतं
दिष्टमेतन्न संशयः ॥ ५७ ॥ मयि सन्निहिते द्रोणे भीष्मे त्वयि च
भारत । अनयो दैवविहितो न कथञ्चिद्भविष्यति ॥ ५८ ॥ गच्छ
त्वं रथमास्थाय हयैर्वातसमैर्जवे । खाण्डवप्रस्थमद्यैव समानय युधि-
ष्ठिरम् ॥ ५९ ॥ न वार्यो व्यवसायो मे विदुरैतद् ब्रवीमि ते ।

पुत्रके प्रेमने उनको बुराइयोंकी ओरको ही खैंचा ॥ ५१ ॥ ५२ ॥
बुद्धिमान् विदुरजीने यह समाचार पाते ही समझ लिया कि—
कलिका द्वार खुलता है और विनाशकी जड़ जमी जाती है सो उसी
समय दौड़े हुए धृतराष्ट्रके पास आये ॥ ५३ ॥ छोटे भाई विदुरजी
बड़ेभाई महात्मा धृतराष्ट्रके चरणोंमें मस्तकसे प्रणाम करके कहने
लगे ॥ ५४ ॥ विदुरजीने कहा, कि—हे राजन् ! मैं आपके इस
उद्योगको अच्छा नहीं समझता, आप ऐसा करिये, कि—जिस
में जुएके कारणसे आपके पुत्र और भतीजोंमें परस्पर विरोध न
होय ॥ ५५ ॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि—हे विदुर ! यदि देवता अनु-
कूल होंगे तो हमारे पुत्र और भतीजोंमें कलह नहीं होगा ॥५६॥
अथवा शुभ हो वा अशुभ हो, हित हो वा अहित हो इन भाइयों
में द्यूत होना निःसन्देह दैवी घटना है मैं क्या करूँ ॥ ५७ ॥ हे
भाई ! मेरे, तुम्हारे, द्रोण और भीष्मजीके पास बैठे रहने पर
द्यूतमें कुछ भी अनीति नहीं होसकेगी ॥ ५८ ॥ तुम आज ही
शीघ्रगामी घोड़ोंसे जुतेहुए रथमें चढ़कर खाण्डवप्रस्थको जाओ
और युधिष्ठिर को लिवालाओ ॥ ५९ ॥ परन्तु हे विदुर ! उनसे

दैवमेव परं मन्ये येनैतदुपपद्यते ॥६०॥ इत्युक्तो विदुरो धीमान्नेद-मस्तीति चिन्तयन् । आपगेयं महाप्राज्ञमभ्यगच्छत् सुदुःखितः ६१

इति सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंताप ऊन-पंचाशोऽध्यायः ॥४९॥

जनमेजय उवाच । कथं समभवद्द्यूतं भ्रातॄणां तन्महात्ययम् । यत्र तद्व्यसनं प्राप्तं पांडवैर्मे पितामहैः ॥ १ ॥ के च तत्र सभा-स्तारा राजानो ब्रह्मवित्तम । के चैनमन्वमोदन्त के चैनं प्रत्य-षेधयन् ॥२॥ विस्तरेणैतदिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज । मूलं ह्येतद्विनाशस्य पृथिव्या द्विजसत्तम ॥ ३ ॥ सौतिरुवाच । एवमुक्त-स्तदा राज्ञा व्यासशिष्यः प्रतापवान् । आचचक्षेऽथ यद्वृत्तं तत् सर्वं वेद तत्त्ववित् ॥ ४ ॥ वैशम्पायन उवाच । शृणु मे

यह मत कहना कि— यह उद्योग धृतराष्ट्रने किया है, इतना मैं तुमसे कहे देता हूं क्योंकि— प्रारब्ध बड़ा बलवान् है, कि— जिसके कारण यह घटना होरही है । ६० ॥ धृतराष्ट्र के ऐसा कहने पर बुद्धिमान् विदुरजीने सोचा कि—ऐसा होना उचित नहीं है, सो चित्तमें बहुत ही दुःखित होते हुए परम प्रवीण भीष्मपितामहके पास गए॥ ६१ ॥ एकोनपञ्चाशत् अध्याय समाप्त

जनमेजयने वैशम्पायनजीसे पूछा, कि—हे द्विजवर ! जिस से कि-हमारे पितामह पांडवोंने बड़ाभारी दुःख पाया वह बड़ा अनर्थकारी भाइयों भाइयों का द्यूत किमप्रकार हुआ था ॥ १ ॥ उसमें मुखिया बनकर कौन २ बैठे थे, किन २ ने ऐसा होनेमें संमति दी थी और किन २ ने निषेध किया था? ।२। हे महाराज । पृथिवी भरके विनाशके मूलभूत इस सब वृत्तांतको सुननेकी मेरी बड़ी अभिलाषा है आप विस्तारके साथ सुनावें ३ सौति कहते हैं,कि-हे ऋषियों ! जब राजा जनमेजयने व्यासजीके शिष्य वैशंपायनजीसे ऐसा कहा, तब उन प्रतापी ऋषिने जैसा२ हुआ था सब सुनाया, क्योंकि-वह जग जा करके जा-ते थे४

विस्तरेणेमां कथां भारतसत्तम । भूय एव महाराज यदि ते श्रवणे मतिः ॥ ५ ॥ विदुरस्य मतिं ज्ञात्वा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः । दुर्योधनमिदं वाक्यमुवाच विजने पुनः ॥ ६ ॥ अलं द्यूतेन गान्धारे विदुरो न प्रशंसति । न ह्यसौ सुमहाबुद्धिरहितं नो वदिष्यति॥७॥ हितं हि परमं मन्ये विदुरो यत् प्रभाषते । क्रियतां पुत्र तत्सर्वमेतन्मन्ये हितं तव ॥ ८ ॥ देवर्षिर्वासवगुरुर्देवराजाय धीमते । यत् प्राह शास्त्रं भगवान् बृहस्पतिरुदारधीः । तद्वेद विदुरः सर्वं सरहस्यं महाकविः ॥९॥ स्थितस्तु वचने यस्य सदाहमपि पुत्रक । विदुरो वापि मेधावी कुरूणां प्रवरो मतः ॥ १० ॥ उद्धवो वा महाबुद्धिर्वृष्णीनामर्चितो नृप । तदलं पुत्र द्यूतेन द्यूते भेदो हि दृश्यते॥११॥भेदे विनाशो राज्यस्य तत् पुत्र परिवर्जय । पिता माता

वैशम्पायनजीने कहा, कि-हे जनमेजय ! यदि फिर दुसराकर विस्तारसे सुननेको तुम्हारी अभिलाषा हुई है तो सुनो ॥ ५ ॥ अम्बिकानंदन धृतराष्ट्रने विदुरजीके कहने पर विचार करके दुर्योधनसे फिर एकांतमें यह बात कही, कि-॥ ६ ॥ हे बेटा ! परम बुद्धिमान् विदुर हमें खोटी समति कभी नहीं देगा, इसलिये जब विदुर अच्छा नहीं बताता तो तुम जुआ मत खेलो ॥ ७ ॥ जो विदुर कहता है मैं तो उसको ही परम हितकी बात समझता हूं, हे बेटा ! मेरी समझमें तुम सब काम विदुरकी सम्मतिसे करो तब ही तुम्हारा हित होगा ॥ ८ ॥ उदारबुद्धि भगवान् बृहस्पतिजीने देवराज इन्द्रको जो नीतिशास्त्र सिखाया था उस सबको बुद्धिमान् विदुरजी मर्मके साथ जानते हैं ॥ ९ ॥ हे प्रिय पुत्र ! मैं तो सदा विदुरका कहना मानता हूं, जैसे महामति उद्धवजी यादवोंमें पूज्य हैं वैसे ही बुद्धिमान् विदुर कुरुवंशमें प्रधान माने गये हैं, इसकारण जब विदुर निषेध करते हैं तो तुम जुएको मत खेलो मूर्ख दीखता है,कि-जुएमें अवश्य ही विरोध होगा१०-११ और मित्रोंमें परस्पर विरोध होनेसे राज्यका नाश होजाता है इस

पुत्रस्य यद्दै कार्यं परं स्मृतम् ॥ १२ ॥ प्राप्तस्त्वमपि तन्नाम पितृ-
पैतामहं पदम् । अधीतवान् कृती शास्त्रे लालितः सततं गृहे॥१३॥
भ्रातृज्येष्ठः स्थितो राज्ये किन्दसे किं न शोभनम् । पृथग् जनै-
रलभ्यं यच्छोजनाच्छादनं परम् ॥ १४ ॥ तत् प्राप्तोऽसि महाबाहो
कस्माच्छोचसि पुत्रक । स्फीतं राष्ट्रं महाबाहो पितृपैतामहं महत्
॥ १५ ॥ नित्यमाज्ञापयन् भासि दिवि देवेश्वरो यथा । तस्य
ते विदितप्रज्ञ शोकमूलमिदं कथम् ॥ समुत्थितं दुःखकरं तन्मे
शंसितुमर्हसि १६ ॥ दुर्योधन उवाच । अश्नाम्याच्छादयामीति
प्रपश्यन् पापपूरुषः । नामर्षं कुरुते यस्तु पुरुषः सोऽधमः स्मृतः
॥ १७ ॥ न मां प्रीणाति राजेन्द्र लक्ष्मीः साधारणी विभो ।

लिये जुआ खेलनेके उद्योगको बंद करदो, माता पिताका काम है कि-पुत्रको हित अहित समझा दें इसीसे मैंने ऐसा कहा है १२ देखो तुमने पिता पितामहादिका प्रसिद्ध राज्यपद पाया है हमने तुमको लिखा पढ़ाकर शास्त्रमें प्रवीण कर दिया,सदा घरमें लालन पालन किया ॥ १३ ॥ और सब भाइयोंमें बड़ा होनेके कारण राजसिंहासन पर बैठा दिया, ऐसा कौनसा उत्तम पदार्थ है जो तुमको न मिलता हो ? जो उत्तम भोजन वस्त्र औरोंको मिलना कठिन है हे महाबाहो ! वह तुमको मिलता है और हे वीर ! तुमने यह पितृपितामहका बड़ाभारी सुन्दर राज्य पाया है हे प्रियपुत्र ! फिर तुम काहे को शोक करते हो ॥१४॥ १५॥ निरन्तर आज्ञाएं देतेहुए इन्द्रकी समान शोभा पाते हो और हम यह भी जानते हैं कि-तुम बड़े बुद्धिमान् हो फिर शोक करनेका क्या कारण होगया जिससे कि-तुमको यह बड़ा दुःख होरहा है वह मुझसे कहो ॥ १६ ॥ दुर्योधनने कहा, कि-हे महाराज ! मैं खाता हूं, पहरता हूं इतना ही देखकर जो सन्तुष्ट रहता है वह पापी कायर है और जो पुरुष क्रोधशून्य होता है वह अधम है ॥ १७ ॥ हे महाराज !

ज्वलितामेव कौन्तेये श्रियं दृष्ट्वा च विव्यथे ॥ १८ ॥ सर्वाञ्च पृथिवीं चैव युधिष्ठिरवशानुगाम् । स्थिरोऽस्मि योऽहं जीवामि दुःखादेतद्ब्रवीति ते ॥ १९ ॥ आवर्जिता इवाभान्ति नीपाश्चित्रक-कौकुराः कारस्करा लोहजङ्घा युधिष्ठिरनिवेशने ॥ २० ॥ हिमवत्सागरानूपाः सर्वे रत्नाकरास्तथा । अन्त्याःसर्वे पर्युदस्ता युधिष्ठिरनिवेशने ॥ २१ ॥ ज्येष्ठोऽयमिति मां मत्वा श्रेष्ठश्चेति विशाम्पते । युधिष्ठिरेण सत्कृत्य युक्तो रत्नपरिग्रहे ॥ २२ ॥ उपस्थितानां रत्नानां श्रेष्ठानामर्घहारिणाम् । नादृश्यत परः पारो नापरस्तत्र भारत ॥ २३ ॥ न मे हस्तः समभवद्वसु तत् प्रतिगृह्णतः । अतिष्ठन्त मयि श्रान्ते गृह्य दूराहृतं वसु ॥ २४ ॥ कृतां बिन्दु-सरोरत्नैर्मयेन स्फाटिकच्छदाम् । अपश्यन्नलिनीं पूर्णामुदकस्येव

इस साधारण राजलक्ष्मीसे मेरा चित्त प्रसन्न नहीं होता कुन्ती-नन्दन युधिष्ठिरकी दिपती हुई राज्यलक्ष्मी और उनके वशीभूत हुई सकल पृथिवीको देखकर मेरी छाती फटी जाती है मैं बड़ा ही पाषाणहृदय हूं इसीसे इतना दुःख पड़नेपर भी जीरहा हूं और आपसे यह बातें कर रहा हूं ॥ १८॥ १९ ॥ हे महाराज ! युधि-ष्ठिरके यहां नीप चित्रक कौकुर कारस्कर और लोहजंघ नामक राजे दासोंकी समान नम्रताके साथ टहल करते थे ॥ २० ॥ हिमालय,समुद्रके द्वीप और रत्नोंकी सकल खानोंके स्वामी जो राजे युधिष्ठिरके यहां पीछेसे आये थे उनको हटा दिया गया ॥२१॥ हे महाराज! युधिष्ठिरने मुझे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ जानकर सत्कारके साथ रत्नोंको इकट्ठा करनेपर रक्खा था ॥२२॥ हे महाराज ! तहां महामूल्य श्रेष्ठ रत्नोंके इतने ढेर लगगए थे कि-उनका ओर छोर ही नहीं मालूम होता था ॥ २३ ॥ उस धनको लेते २ मेरा हाथ थकगया तब मैंने जो जराएक विश्राम लिया इतने ही में भेटका धन लेकर खड़ेहुए राजाओंकी दूरतक भीड़ लगगई ॥ २४ ॥ हे महाराज ! मय दानवने बिन्दुसरोवरके बहुतसे रत्नों से स्फटिक

भारत ॥ २५ ॥ वस्त्रमुत्कर्षति मयि प्राहसत् स वृकोदरः । शत्रोर्ऋद्धिविशेषेण विमूढं रत्नवर्जितम् ॥ २६ ॥ तत्र स्म यदि शक्तः स्यां पातयेऽहं वृकोदरम् । यदि कुर्य्यां समारम्भं भीमं हन्तुं नराधिप ॥ २७ ॥ शिशुपाल इवास्माकं गतिः स्यान्नात्र संशयः । सपत्नेनावहासो मे स मां दहति भारत ॥ २८ ॥ पुनश्च तादृशीमेव वापीं जलजशालिनीम् । मत्वा शिलासमां तोये पतितोऽस्मि नराधिप ॥ २९ ॥ तत्र मां प्राहसत्कृष्णः पार्थेन सह सुस्वरम् द्रौपदी च सह स्त्रीभिर्व्यथयन्ती मनो मम ॥ ३० ॥ क्लिन्नवस्त्रस्य तु जले किङ्करा राजनोदिताः । ददुर्वासांसि मेऽन्यानि तच्च दुःखं परं मम ॥ ३१ ॥ प्रलम्भञ्च शृणुष्वान्यद्वदतो मे नराधिप । अद्वारेण विनिर्गच्छन् द्वारसंस्थानरूपिणा । अभिहत्य शिलां भूयो

की शिलाएं बिछाकर जो बावड़ी बनाई है उसको देखकर मैंने जलसे भरीहुई समझा ॥ २५ ॥ और जलके भ्रमसे उस स्फटिक के फर्शपर ही मैंने अपने वस्त्र ऊपरको कर लिये तब भीमसेनने मुझे शत्रुकी सम्पदा देखकर भौचका और रत्नोंको पहिचाननेमें मूर्ख मानकर मेरा उपहास किया ॥ २६ ॥ यदि मेरा वश चलता तो मैं भीमसेनको तहां ही मारडालता हे महाराज ! यदि मैं उस समय भीमसेनके मारनेका उत्साह करता तो निःसन्देह मेरी भी शिशुपालकीसी दशा होती परन्तु हे महाराज ! वह शत्रुका हास्य करना मुझे भस्म कर रहा है ॥ २७ ॥ २८ ॥ हे महाराज ! फिर उसी आकारकी कमलोंसे शोभायमान बावड़ीको जलसे भरी होने पर भी स्फटिकका थल (फर्श) समझकर मैं उसके जलमें गिर पड़ा ॥२९॥ मुझे उसमें गिरा हुआ देखकर कृष्ण अर्जुन और बहुतसी स्त्रियों सहित द्रौपदी यह सब जोरसे हँसने लगे, कि-जिससे मेरे मनको बड़ा दुःखहुआ ॥ ३० ॥ और सबसे अधिक दुःखकी बात यह है,कि-किंकरोंने मेरे गीले वस्त्र देखकर युधिष्ठिर की आज्ञा पा दूसरे वस्त्र लाकर दिये ॥ ३१ ॥ हे महाराज ! मेरा

ललाटेनास्मि विक्षतः ॥ ३२ ॥ तत्र मां यमजौ दूरादालोक्या-
भिहतं तदा । बाहुभिः परिगृह्णातां शोचन्तौ सहिताबुभौ ॥ ३३ ॥
उवाच सहदेवस्तु तत्र मां विस्मयन्निव । इदं द्वारमितो गच्छ
राजन्निति पुनः पुनः ॥ ३४ ॥ भीमसेनेन तत्रोक्तो धृतराष्ट्रात्मजेति
च । सम्बोध्य प्रहसित्वा च इतो द्वारं नराधिप ॥ ३५ ॥
नामधेयानि रत्नानां पुरस्तान्न श्रुतानि मे । यानि दृष्टानि मे
तस्यां मनस्तपति तच्च मे ॥ ३६ ॥

इति सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसन्तापे पंचाशो-
ऽध्यायः ॥ ५० ॥

दुर्योधन उवाच । यन्मया पांडवेयानां दृष्टं तच्छृणु भारत ।

और जो तिरस्कार हुआ उसको भी कहता हूं सुनो—एक स्थान पर द्वार तो था नहीं परन्तु वह ऐसा बना था कि—द्वार मालूम होता था, मैं जो उधरको निकलने लगा कि स्फटिकशिलाकी जोरसे टक्कर लग गई, जिसके कारण मेरा ललाट घायल होगया ॥ ३२ ॥ उस समय नकुल और सहदेव मेरे टक्कर लगी देखकर दूरसे भागे हुए आये और दोनोंने मुझे कौलियामें भरकर उठाते हुए शोक प्रकाशित किया ॥ ३३ ॥ उस समय सहदेव मानो अचंभे में होकर मुझसे वार २ कहने लगा, कि—हे राजन् ! द्वार इधरको है इधर आइये ॥ ३४ ॥ उससमय भीमसेनने हँसते हुए मुझे पुकार कर कहा, कि—अरे धृतराष्ट्रके पुत्र ! (अन्धेके अन्धे) द्वार इधर है ॥ ३५ ॥ इसके सिवाय हे राजन् ! पहिले कभी मैंने जिन रत्नोंके नाम भी नहीं सुने थे वह मैंने पाण्डवोंके पास आँखोंसे देखे इन ही सब कारणोंसे मैं बड़ा दुःखी होरहा हूं ॥ ३६ ॥ पञ्चाशत् अध्याय समाप्त ॥ ५० ॥ ॥ ॥

हे महाराज ! मैंने देखा, कि—अनेकों दिशाओंसे आये हुए भूपालोंने राजा युधिष्ठिरको बहुतसी श्रेष्ठ वस्तुएँ भेटमें दीं, उनका

आहृतं भूमिपालैर्हि वसुमुख्यं ततस्ततः ॥ १ ॥ नाविदं मूढमात्मानं दृष्ट्वाहं तदरेर्धनम् । फलतो भूमितो वापि प्रतिपद्यस्व भारत ॥ २ ॥ और्णान् बैलान् वार्षदंशान् जातरूपपरिष्कृतान् । प्रावाराजिन मुख्यांश्च काम्बोजः प्रददौ बहून् ॥३॥ अश्वांस्तित्तिरिकल्माषांस्त्रिशतं शुकनासिकान् । उष्ट्रवामीस्त्रिशतम् पुष्टाः पीलुशमीङ्गुदैः ॥४॥ गोवासना ब्राह्मणाश्च दासनीयाश्च सर्वशः । प्रीत्यर्थं ते महाराज धर्मराज्ञो महात्मनः॥५॥ त्रिखर्वबलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः॥ ब्राह्मणा वाटधानाश्च गोमन्तः शतसंघशः ॥६ ॥ कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयान् शुभान् । एवं बलि समादाय प्रवेशं लेभिरे न च । शतं दासीसहस्राणां कार्पासिकनिवासिनाम् ॥ ७॥ श्यामास्तन्व्यो दीर्घकेश्यो हेमाभरणभूषिताः । शूद्रा विप्रोत्तमार्हाणि राङ्कवाजिनानि च ॥ ८॥ बलिञ्च कृत्स्नमादाय भरुकच्छनिवासिनः । उपनिन्युर्महाराज हयान् गान्धारदेशजान् ॥९ ॥ इन्द्रकृष्टैर्वर्त्तयन्ति

वृत्तांत सुनिये ॥ १ ॥ मैंने उस सभामें जो रत्नोंका समूह देखा है पहिले मैंने उनके नाम भी नहीं सुने थे, मैं तो शत्रुके उस धनको देखकर अपने आपेको ही भूल गया आप फल और भूमिको देखकर युधिष्ठिरके ऐश्वर्यका अनुमान करलें ॥ २ ॥ काम्बोजराजने बहुत से ऊनी, समुद्री बिलावके रोमोंके और सिंहकी चर्मके सुनहरी कामके ओढ़ने और बिछानेके उत्तम वस्त्र दिये । ३ । सैंकड़ों सहस्रों गोसेवक ब्राह्मण और दास, महात्मा युधिष्ठिरकी प्रसन्नताके लिये पीलु, जगड और इंगली खाकर पुष्ट हुए विचित्र वर्णके तीन सौ ऊँट और घोड़ियें, बहुतसी भेंट, सोनेके कमण्डलु और कार्पासिक देशकी सैंकड़ों सहस्रों दासियें साथमें लाये थे परन्तु भीतर प्रवेश न कर सके बाहर ही खड़े रहे ॥ ४—७ ॥ श्यामा, कृशोदरी, दीर्घकेशी और सुवर्णके गहने पहरे हुए शूद्रोंकी स्त्रियें ब्राह्मणोंके योग्य रंकु मृगोंकी मृगछालाएँ और भरुकच्छके रहनेवाले लोग नानाप्रकारकी भेंट और कंधार देशके घोड़ोंको लेकर उपस्थित थे

धान्यैर्ये च नदीमुखैः । समुद्रनिष्कुटे जाताः पारेसिन्धु च मानवाः ॥१०॥ ते वैरामाः पारदाश्च आभीराः कितवैः सह । विविधं बलिमादाय रत्नानि विविधानि च ॥ ११ ॥ अजाविकं गोहिरण्यं खरोष्ट्रं फलजं मधु । कम्बलान् विविधांश्चैव द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ १२ ॥ प्राग्ज्योतिषाधिपः शूरो म्लेच्छानामधिपो बली । यवनैः सहितो राजा भगदत्तो महारथः ॥ १३ ॥ आजानेयान् हयान् शीघ्रानादायानिलरंहसः । बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठति वारितः ॥ १४ ॥ अश्मसारमयं भाण्डं शुद्धदन्तत्सरूनसीन् । प्राग्ज्योतिषाधिपो दत्त्वा भगदत्तोऽव्रजत्तदा ॥ १५ ॥ द्व्यक्षांस्त्र्यक्षान् ललाटाक्षान्नानादिग्भ्यः समागतान् । औष्णीषानन्तवासांश्च

॥ ८—९ ॥ जो समुद्रके पारसे और समुद्रके पासके वनोंसे आये थे, जो कि—नदियोंकी सिंचाई वा वर्षाके जलआश्रसे उत्पन्न हुए अन्नसे निर्वाह करते हैं वह वैराम,पारद, आभीर और कितव जाति के पुरुष अनेकों प्रकारकी भेंट, बहुत प्रकारके रत्न, बकरे, मेंढे, गौ, सुवर्ण खचर, ऊँट, फलोंके आसव और नाना प्रकारके कंबल लेकर द्वार पर खड़े थे और उनको कोई भीतर नहीं घुसने देता था, ॥ १०—१२ ॥ म्लेच्छदेश का स्वामी, शूरवीर, महारथी प्राग्ज्योतिष देशका राजा भगदत्त यवनोंको साथ लिये प्रसिद्ध वंशमें उत्पन्न हुए शीघ्रगामी घोड़े और अनेकों प्रकारकी भेट लिये हुए आये थे वह भीतर नहीं घुमने पाये तब घोड़ोंके लोहेके आभूषण और निर्मल हाथी दांतकी सुन्दर मूठसे शोभायमान तलवारें देकर लौट गए ॥ १३—१४ ॥ कितने ही लोग अनेकों दिशा और देशोंसे आकर द्वार पर ही खड़े थे ॥ १५ ॥ उनमेंसे कितने ही दो नेत्रवाले, कितने ही तीन नेत्र वाले, कितने ही ललाटमें नेत्रवाले,कितने ही पगड़ी पहिरे और कितनों ही को सर्वथा नंगे शरीर देखा जिन्होंके शरीर पर अधिक रोम थे, कोई नरमांस-

रोमकान् पुरुषादकान् ॥ १६ ॥ एकपादांश्च तत्राहमपश्यं द्वारि वारितान्। राजानो बलिमादाय नानावर्णाननेकशः ॥ १७ ॥ कृष्णग्रीवान्महाकायान् रासभान् दूरपातिनः। आजहुर्दशसाहस्रान् विनीतान्दिक्षु विश्रुतान् ॥ १८ ॥ प्रमाणरागसम्पन्नान् वङ्क्षुतीरसमुद्भवान्। बल्यर्थं ददतस्तस्मै हिरण्यं रजतं बहु ॥ १९ ॥ दत्त्वा प्रवेशं प्राप्तास्ते युधिष्ठिरनिवेशने। इन्द्रगोपकवर्णाभान् शुकवर्णान्मनोजवान् ॥ २० ॥ तथैवेन्द्रायुधनिभान् सन्ध्याभ्रसदृशानपि। अनेकवर्णानारण्यान् गृहीत्वाश्वान् महाजवान् ॥ २१ ॥ जातरूपमनर्घ्यं च ददुस्तस्यैकपादकाः। चीनान् शकांस्तथैवोड्रान् बर्बरान् वनवासिनः ॥२२॥ वार्ष्णेयान् हारहूणांश्च कृष्णान् हैमवतांस्तथा। नीपानूपानधिगतान् विविधान् द्वारवारितान् ॥ २३ ॥ बल्यर्थं ददतस्तस्य नानारूपाननेकशः। कृष्णग्रीवान् महाकायान् रासभान्

भेजी थे ॥ १६ ॥ मैंने वहां एक चरणवालोंको भी देखा जिन को द्वारपरसे हटादिया, यह पुरुष नाना प्रकारकी अनेकों भेट लेकर आये थे ॥ १७ ॥ कोई काली गर्दनवाले महाशरीर, दूरका धावा करनेवाले सुन्दर आकार और रंगके, दिशाओंमें प्रसिद्ध वंक्षु नदीके तटपर उत्पन्न हुए दश सहस्र खच्चर लेकर आये तथा उन्होंने बहुतसा सोना चांदी भी भेटमें दिया ॥ १८-१९ ॥ इतनी भेट देकर वह युधिष्ठिरके यहां भीतर घुसने पाये, एकपाद वीरबहूटीकेसे लाल २ तोतेकेसे रंगके इन्द्रधनुषकी समान विचित्र वर्णके संध्यासमयके बादलोंके रंगके, ऐसे अनेकों वर्णके बड़े शीघ्रगामी वनोंमें विचरनेवाले घोड़ोंको लेकर आये ॥ २०-२१ ॥ उन्होंने बहुमूल्य सुवर्ण युधिष्ठिरको भेटमें दिया तब उनके यहां भीतर घुसने पाये फिर चीन, शक, उड्रदेशी वनवासी बर्बर, वृष्णिवंशी काले हारहूणदेशी, हिमालय, नीप और अनूप देशोंके बहुतसे राजे रोके जाने पर द्वार पर ही खड़े रहे ॥ २२ ॥ २३ ॥ वह राजा युधिष्ठिरके अर्थ भेंटदेनेके लिये

शतपातिनः॥२४॥ महापुर्दशसाहस्रान् विनीतान् दिक्षु विश्रुतान्। प्रमाणरागस्पर्शाढ्यं वाह्लीचीनसमुद्भवम् ॥२५॥ और्णञ्च राङ्कवञ्चैव कीटजं पट्टजं तथा। कुट्टीकृतं तथैवात्र कमलाभं सहस्रशः ॥२६॥ श्लक्ष्णं वस्त्रमकार्पासमाविकं मृदु चाजिनम्। निशितांश्चैव दीर्घासीनृष्टिशक्तिपरश्वधान् ॥ २७ ॥ अपरान्तसमुद्भूतांस्तथैव परशून् शितान्। रसान् गन्धांश्च विविधान् रत्नानि च सहस्रशः ॥ २८ ॥ बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः। शकास्तुखाराः कंकाश्च रोमशाः शृङ्गिणो नराः ॥२९॥ महागजान् दूरगमान् गणितानर्बुदान् हयान्। शतशश्चैव बहुशः सुवर्णं पद्मसम्मितम् ॥३०॥ बलिमादाय विविधं द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः। आसनानि महार्हाणि यानानि शयनानि च ॥ ३१॥ मणिकांचनचित्राणि गजदन्तमयानि च। कवचानि विचित्राणि शस्त्राणि विवि-

विचित्रवर्ण, काली गर्दन और बड़े शरीरवाले सौ कोसके धावे के दश सहस्र खच्चर लाये, जो सधाये हुए थे और दिशाओंमें प्रसिद्ध थे तथा यह लंबे चौड़े सुन्दर रंग और कोमल स्पर्शके वाह्लीक तथा चीनके बने वस्त्र भी लाये ॥ २१–२५ ॥ शक, तुखार, कंक, रोमस और सींग पहरनेवाले मनुष्य, ऊनी मृगचर्मके, रेशमी, पाटके, कूट २ कर बनायेहुए सहस्रा गुच्छे लटके हुए और चिकने बहुत से वस्त्र लाये, जिनमें सूती थे ही नहीं किंतु सब ऊनी और कोमल मृगरोमके बने थे, तीखी धारवाली बड़ी२ तलवारें, दुधारे खड्ग, शक्ति, फरसे,पश्चिमके फरसे अनेकों प्रकारके रस और सुगंधिकी वस्तुए और बहुतसे रत्न ऐसी बड़ी भारी भेंट लेकर आये परन्तु वह रोक देनेपर बाहर ही खड़े रहे ॥ २६–२८ ॥ कितने ही लोग दूरके धावेके अर्बुद हाथी सैंकड़ों घोड़े और पद्मोंके मूल्यका बहुतसा सोना भेंटमें लेकर आये परन्तु रोके जानेके कारण द्वारपर ही खड़े रहे, बहुमूल्य मणि और सुवर्णसे चित्रित हाथीदांतके आसन सवारी और पलँग विचित्र

धानिःच ॥ ३२ ॥ रथांश्च विविधाकारान् जातरूपपरिष्कृतान् ।
हयैर्विनीतैः सम्पन्नान् वैयाघ्रपरिवारितान् ॥३३॥ विचित्रांश्च परि-
स्तोमान् रत्नानि विविधानि च । नाराचानर्द्धनाराचान् शस्त्राणि
विविधानि च ॥ ३४ ॥ एतद्दत्वा महद्द्रव्यं पूर्वदेशाधिपा नृपाः ।
प्रविष्टा यज्ञसदनं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

इति सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसन्ताप एकपंचाशो-
ऽध्यायः ॥ ५१ ॥

दुर्योधन उवाच । दायन्तु विविधं तस्मै शृणु मे गदतोऽनघ ।
यज्ञार्थं राजभिर्दत्तं महान्तं धनसञ्चयम् ॥ १ ॥ मेरुमन्दरयोर्मध्ये
शैलोदामभितो नदीम् । ये ते कीचकवेणूनां छायां रम्यामुपासते
॥ २ ॥ खसा एकासना ह्यर्हाः प्रदरा दीर्घवेणवः । पारदाश्च
कुलिन्दाश्च तङ्गणाः परतङ्गणाः ॥ ३ ॥ तद्वै पिपीलिकं नाम उद्धृतं
यत् पिपीलिकैः । जातरूपं द्रोणमेयमहार्षुः पुञ्जशो नृपाः ॥ ४ ॥
कृष्णान् ललामांश्चमरान् शुक्लांश्चान्यान्शशिप्रभान् । हिमवत्

कवच अनेकों प्रकारके शस्त्र सुनहरी कामके अनेकों आकारके रथ
जिनमें सिंहकी चर्म ओढे सुशिक्षित घोड़े जुते हुए थे और जिनपर
ढकनेके वस्त्र बड़े ही विचित्र थे अनेकों प्रकारके रत्न तथा नाराच
अर्धनाराच आदि अनेकों प्रकारके शस्त्र इतना बहुतसा द्रव्य देकर
पूर्व देशाधिपति राजे महात्मा युधिष्ठिरके यज्ञमंडपमें घुसने पाये
॥ ३०—३५ ॥ एकपञ्चाश अध्याय समाप्त ॥ ५१ ॥ छ

दुर्योधनने कहा कि हे महाराज ! राजाओंने युधिष्ठिरको यज्ञ के
लिये बहुतसा और अनेकों प्रकारका धन इकट्ठा करके दिया था,
जिसका मैं वर्णन करता हूं सुनिये ॥ १ ॥ जो मेरु और मन्दरा-
चलके मध्यमें बहनेवाली शैलोदा नदीके दोनों तटोंपर कीचक
बांसोंकी सुन्दर छायामें रहते हैं ॥ २ ॥ जैसे कि-खस, एकासन
ह्रर्ह, प्रदर, दीर्घवेणु पारद, पुलिन्द, तङ्गण और परतङ्गण ॥३॥
यह सब राजे पिपीलिकाओंके निकाले हुए पिपीलिक नामक द्रोण
द्रोण भर हीरे ले इकट्ठे होकर आये ॥ ४ ॥ वह काले रमणीय

पुष्पजं चैव स्वादु क्षौद्रं तथा बहु ॥ ५ ॥ उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्चाप्यपोढं माल्यमम्बुभिः। उत्तरादपि कैलासादोषधीः सुमहाबलाः ॥ ६ ॥ पार्वतीया बलिं चान्यमाहृत्य प्रणताः स्थिताः। अजातशत्रोर्नृपतेर्द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ७ ॥ ये परार्द्धे हिमवतः सूर्योदयगिरौ नृपाः। कारूषे च समुद्रान्ते लौहित्यमभितश्च ये॥८॥ फलमूलाशना ये च किराताश्चर्मवाससः। क्रूरशस्त्राः क्रूरकृतस्तांश्च पश्याम्यहं प्रभो ॥ ९ ॥ चन्दनागुरुकाष्ठानां भारान् कालीयकस्य च। चर्मरत्नसुवर्णानां गंधानां चैव राशयः ॥१०॥ कैरातकीनामयुतं दासीनां च विशाम्पते। आहृत्य रमणीयार्थान् दूरजान् मृगपक्षिणः॥११॥निचितं पर्वतेभ्यश्च हिरण्यं भूरिवर्चसम्। बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ १२ ॥ कैराताः दरदा

चमर तथा चन्द्रकी समान कान्तिवाले स्वेत चमर और हिमालयके पुष्पोंका परमस्वादु बहुतसा मधु (शहद) लाये ॥ ५ ॥ उत्तरकुरु देशोंसे इक्हे किये हुए स्वादुजल और मालाएं बनानेके रत्न तथा उत्तर कैलाससे बड़ी बलदायक औषधियें लाये ॥ ६ ॥ यह तथा और भी अनेकों प्रकारकी भेंट लेकर पहाड़ी लोग बड़ी विनयके साथ रोके हुए राजा युधिष्ठिरके द्वारपर खड़े थे ॥७। जो राजे हिमालयके उधरके अर्द्धभाग उदयाचल पर रहते थे वह करुपदेश के राजे, समुद्रके तटके राजे और जो ब्रह्मपुत्रनदके दोनों तटोंपर रहते थे वह ॥८॥ क्रूरकर्मा भयानक शस्त्रधारी, चर्म ओढ़नेवाले और फल मूल खाकर ही निर्वाह करनेवाले ऐसे किरातोंको भी हे महाराज ! मैंने वहां देखा ॥ ९ ॥ जो चन्दन अगर और काली अगरके काठके बोझ मृगचर्म रत्न सुवर्ण और सुगंधित पदार्थों के ढेर लिये हुए थे।१०।दस सहस्र किरात जातिकी दासियें दूर२ के मृग पक्षी आदि रमणीय पदार्थ पर्वतों परसे इकट्ठा किया हुआ बड़ा दमकदार सुवर्ण इन सब पदार्थोंको लेकर भेंट देनेके लिये वह द्वारपर खड़े थे,उनको भीतर जानेसे रोक दिया गया था११॥१२॥

दर्वाः शूरा वैयमकास्तथा। औदुम्बरा दुर्विभागाः पारदा बाह्लिकैः सह ॥ १३ ॥ काश्मीराश्च कुमाराश्च घोरका हंसकायनाः । शिबित्रिगर्तयौधेया राजन्या मद्रकेकयाः॥१४॥ अम्बष्ठाः कौकुरास्तार्क्ष्या वस्त्रपाः पह्लवैः सह । वशा तलाश्च मौलेयाः सह क्षुद्रकमालवैः ॥ १५ ॥ पौण्ड्रिकाः कुक्कुराश्चैव शकाश्चैव विशाम्पते । अङ्गा वङ्गाश्च पुण्ड्राश्च शाणवत्या गयास्तथा ॥ १६ ॥ सुजातयः श्रेणिमन्तः श्रेयांसः शस्त्रधारिणः । आहार्षुः क्षत्रिया वित्तं शतशोऽजातशत्रवे ॥ १७ ॥ वङ्गाः कलिङ्गा मगधास्ताम्रलिप्ताः सपुण्ड्रकाः । दौवालिकाः सागरका: पत्रोर्णाः शैशवास्तथा ॥ १८॥ कर्णप्रावरणाश्चैव बहवस्तत्र भारत । तत्रस्था द्वारपालैस्ते प्रोच्यन्ते राजशासनात् । कृतकालाः सुबलयस्ततो द्वारमवाप्स्यथ ॥ १९ ॥ ईषादन्तान् हेमकक्षान् पद्मवर्णान् कुथावृतान् । शैलाभान्नित्यमत्तांश्चाप्यभितः काम्यकं सरः ॥ २० ॥ दत्त्वैकैको दशशतान्

हे महाराज ! कैरात, दरद, दर्व, शूर वैयमक, औदुम्बर, दुर्विभाग, पारद, बाह्लीक, काश्मीर, कुमार, घोरक, हंसकायन, शिबी, त्रिगर्त, यौधेय, मद्र, केकय, अम्बष्ठ, कौकुर, तार्क्ष्य, वस्त्रप, पह्लव, वश, तल, मौलेय, क्षुद्रक, मालव, पौण्ड्रिक, कुक्कुर, शक, अङ्ग, वङ्ग, पुण्ड्र, शाणवत्य और गय आदि कुलीन शस्त्रधारी, सैंकड़ों क्षत्रिय श्रेणिबद्ध होकर राजा युधिष्ठिरके लिये धन लाये ॥ १३–१७ ॥ हे महाराज! वङ्ग, कलिङ्ग मगध, ताम्रलिप्त, पुण्ड्रक, दौवालिक, सागरक, पत्रोर्ण और कर्णप्रावरण आदि राजे वहां खड़े होकर प्रवेशके समयकी बाट देखने लगे राजाकी आज्ञानुसार द्वारपालोंने उनसे कहा, कि—जब समय होजाय तब आप द्वार पर आव ॥ १८ ॥ १९ ॥ उनमेंसे हरएकने सुशिक्षित, पर्वताकार हलके अग्रभागकी समान दाँतोंवाले, सुवर्णकी जंजीरोंसे खिंचे, कमलके रंगकी झूलें ओढे, नित्य मतवाले रहनेवाले, कवचोंसे ढके काम्यक सरोवरके समीप अच्छी जातिमें उत्पन्न हुए क्षमाशील

कुञ्जरान् कवचाढ्यान् । तपान्त कुलीनांश्च द्वारेण प्राविशंस्तथा ॥ २१ ॥ एते चान्ये च बहवो गणा दिग्भ्यः समागताः । अन्यैश्चोपहृतान्यत्र रत्नानीह महात्मभिः ॥ २२ ॥ राजा चित्ररथो नाम गन्धर्वो वासवानुगः । शतानि चत्वार्यददद्धयानां वातरंहसाम् ॥ २३ ॥ तुम्बुरुस्तु प्रमुदितो गन्धर्वो वाजिनां शतम् । आम्रपत्रसवर्णानामददद्धेममालिनाम् ॥ २४ ॥ कृती राजा च कौरव्य शूकराणां विशाम्पते । अददद् गजरत्नानां शतानि सुबहून्यथ ॥ २५ ॥ विराटेन तु मत्स्येन बल्यर्थं हेममालिनाम् । कुञ्जराणां सहस्रे द्वे मत्तानां समुपाहृते ॥ २६ ॥ पांशुराष्ट्राद्वसुदानो राजा षड्विंशतिं गजान् । अश्वानाञ्च सहस्रे द्वे राजन् कांचनमालिनाम् ॥२७॥ जवसत्त्वोपपन्नानां वयस्थानां नराधिप । बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवेभ्यो न्यवेदयत् ॥ २८ ॥ यज्ञसेनेन दासीनां सहस्राणि चतुर्दश । दासानामयुतं चैव सदाराणां

एक२-सौ हाथी दिये तब सभामण्डपके द्वारमें घुस सके ॥ २० ॥ ॥ २१ ॥ यह तथा और भी बहुतसे राजाओंके समूह अनेकों दिशाओंसे आये उन महात्माओंने भी इस यज्ञमें रत्न अर्पण करे ॥ २२ ॥ इन्द्रके साथ रहने वाले गन्धर्वराज चित्ररथने पवनकी समान वेगवाले चार सौ घोड़े दिये ॥२३॥ तुम्बुरु गन्धर्वने प्रसन्न होकर तांबेके पत्रोंकी समान कान्तिवाले सुवर्णकी मालाएं पहिरे सौ घोड़े दिये ॥ २४ ॥ हे कुरुवंशी महाराज ! विद्वान् शूकरराज ने एक सौ श्रेष्ठ हाथी दिये तथा और भी बहुतसे रत्न दिये ॥ २५ ॥ मत्स्य देशके राजा विराटने भेंटमें सुवर्णकी मालाएं पहिरे दो सहस्र मत्त मातङ्ग दिये ॥ २६ ॥ हे राजन् ! पांशुदेशके राजा वसुदानने छब्बीस हाथी और सुवर्णकी मालाएं पहिरे बली और शीघ्रगामी नई अवस्थाके दो सहस्र घोड़े तथा और भी बहुतसा धन लाकर युधिष्ठिरको भेंट की ॥ २७ ॥ ॥ २८ ॥ राजा यज्ञसेन ने चादह सहस्र दासियें सपत्नीक दश सहस्र दास, जिनमें

विशाम्पते । गजयुक्ता महाराज रथाः षड्विंशतिस्तथा ॥ २९ ॥ राज्यं च कृत्स्नं पार्थेभ्यो यथार्थं वै निवेदितम् । वासुदेवोऽपि वार्ष्णेयो मानं कुर्वन् किरीटिनः ॥३०॥ अददद्गजमुख्यानां सहस्राणि चतुर्दश।आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्यात्मा धनंजयः३१ यद् ब्रूयादर्जुनः कृष्णं सर्वं कुर्यादसंशयम् । कृष्णो धनंजयस्यार्थे स्वर्गलोकमपि त्यजेत् ॥ ३२ ॥ तथैव पार्थं कृष्णार्थे प्राणानपि परित्यजेत् । सुरभींश्चन्दनरसान् हेमकुम्भसमास्थितान् ॥ ३३ ॥ मलयाद् दर्दुराच्चैव चंदनागुरुसञ्चयान् । मणिरत्नानि भास्वंति कांचनं सूक्ष्मवस्त्रकम् ॥ ३४ ॥ चोलपांड्यावपि द्वारं न लेभाते ह्यपस्थितौ । समुद्रसारं वैदूर्यं मुक्तासंघांस्तथैव च ॥ ३५ ॥ शतशश्च कुथांस्तत्र सिंहलाः समुपाहरन् । संवृता मणिचीरस्तु श्यामास्ताम्रांतलोचनाः ॥ ३६ ॥ता गृहीत्वा नरास्तत्र द्वारि तिष्ठन्ति वारिता ।

हाथी जोते जाते हैं ऐसे छब्बीस रथ और कुल अपना राज्य भी पाण्डवों को अर्पण कर दिया, वृष्णिवंशी वासुदेवने भी अर्जुनका मान रखनेके लिये चौदह सहस्र श्रेष्ठ हाथी दिये, इसमें कोई सन्देह नहीं है, कि—कृष्ण अर्जुनके आत्मा हैं और अर्जुन कृष्णकी आत्मा है ॥ २९—३२ ॥ अर्जुन कृष्णसे जिस कामके करनेको कहता है, कृष्ण वही काम करते हैं अधिक क्या कहूं वह अर्जुनके लिये स्वर्गलोकको भी त्यागसकते हैं ॥ ३२ ॥ इसीप्रकार अर्जुन भी कृष्णके निमित्त अपने प्राण तक त्याग सकता है,सुवर्ण के कलशोंमें भरेहुए सुगंधित चन्दनके रस,मलयाचल और दर्दुराचलसे इकट्ठेकियेहुए चन्दन और अगर चमकदार मणि और रत्न सूक्ष्म सुनहरी वस्त्र लेकर चोल और पाण्ड्य देशके राजे आये किन्तु द्वारतक भी नहीं पहुंचसके, सिंहल देशके क्षत्रियोंने समुद्रके सारभूत वैदूर्यमणि और मोतियोंके गुच्छे सैंकड़ों विछौने तथा मणिजटित आभूषण पहिरे सुनहरी चीर ओढे सुननी नवयौवना दासियें लाकर भेंट कीं ॥ ३३—३६ ॥ बहुसे लोग ऐसी भेंटें

प्रीत्यर्थं ब्राह्मणाश्चैव क्षत्रियाश्च विनिर्जिताः ॥ ३७ ॥ उपाजह्रु-र्विशश्चैव शूद्राः शुश्रूषवस्तथा । प्रीत्या च बहुमानाच्चाप्युपागच्छ-न्युधिष्ठिरम् ॥ ३८ ॥ सर्वम्लेच्छाः सर्ववर्णा आदिमध्यान्तजा-स्तथा । नानादेशसमुत्थैश्च नानाजातिभिरेव च ॥३९॥ पर्यस्त इव लोकोऽयं युधिष्ठिरनिवेशने । उच्चावचानुपग्राहान् राजभिः प्रापि-तान्बहून् ॥ ४० ॥ शत्रूणां पश्यतो दुःखान्मुमूर्षा मे व्यजायत । भृत्यास्तु ये पाण्डवानां तांस्ते वक्ष्यामि पार्थिव ॥४१॥ येषामामश्च पक्वं च संविधत्ते युधिष्ठिरः । अयुतं त्रीणि पद्मानि गजारोहाः ससादिनः ॥ ४२ ॥ रथानामर्बुदं चापि पादाता बहवस्तथा । प्रमीयमाणमामं च पच्यमानं तथैव च ॥ ४३ ॥ विसृज्यमानं चान्यत्र पुण्याहस्वन एव च । नाभुक्तवन्तं नापीतं नालंकृत-

---

लेकर बाहर द्वार पर ही खड़े रहे, किसीने भीतर नहीं जाने दिया, युधिष्ठिरको प्रसन्न करनेके लिये ब्राह्मण, जीतेहुए क्षत्रिय, वैश्य तथा सेवा करनेवाले शूद्र प्रीति और बड़े सन्मानके साथ राजा युधिष्ठिरके पास पहुंचे और भेटें अर्पण करीं॥३७-३८॥ म्लेच्छों की सब जातियें और अनेकों देशोंके तथा अनेकों जातियोंके उत्तम, अधम तथा मध्यम श्रेणीके लोग जो इकट्ठे हुए थे उनको देखकर ऐसा प्रतीत होता था,कि-मानो पृथिवीका सकल मनुष्य-मण्डल युधिष्ठिरके यहां ही इकट्ठा होगया है,हे महाराज! राजाओं की दी हुई नाना प्रकारकी भेटें और शत्रुओंके ऐश्वर्यको देख कर मुझे तो मूर्छासी आगई, हे राजेन्द्र! अब, पाण्डवोंके जो सेवक थे उनका वर्णन आपसे करता हूं ॥ ३९-४१ ॥ राजा युधिष्ठिर जिनको कच्चा और पका हुआ अन्न देकर भरण पोषण करते हैं, उनमें एक अयुत तीन पद्म हाथी और घोड़ोंके सवार, एक अर्बुद रथ और अनगिनती पैदल हैं, कहीं भोजनकी सामग्री तुलती है, कहीं रसोई पकाई जाती है ॥४२॥४३॥ दूसरे स्थान पर भोजन बांटाजाता है और कहीं स्वस्तिवाचनके लिये नियुक्त

मसत्कृतम् ॥ ४४ ॥ अवश्यं सर्ववर्णानां युधिष्ठिरनिवेशने । अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ॥ ४५ ॥ त्रिंशद्दासीक एकैको यान्बिभर्ति युधिष्ठिरः । सुप्रीताः परितुष्टाश्च ते ह्याशंसंत्यरिक्षयम् ॥ ४६ ॥ दशान्यानि सहस्राणि यतीनामूर्ध्वरेतसाम् । भुंजते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ४७ ॥ अभुक्तं भुक्तवद्वापि सर्वमाकुब्जवामनम् । अभुञ्जाना याज्ञसेनी प्रत्यवैक्षद्विशांपते ॥ ४८ ॥ द्वौ करौ न प्रयच्छेतां कुन्तीपुत्राय भारत । सर्वान्धिकेन पाञ्चालाः सख्येनान्धकवृष्णयः ॥ ४९ ॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

दुर्योधन उवाच । आर्यास्तु ये वै राजानः सत्यसंधा महाव्रताः ।

किये ब्राह्मण पुण्याहवाचनके मन्त्र पढ़ते हैं, युधिष्ठिरके यहां सब वर्णोंमें बिना भोजन किया, पियासा बिना भूषण पहिरे और सत्कारहीन पुरुष कोई दीखता ही नहीं था, उनके यहां अट्ठासी सहस्र गृहमेधी स्नातक रहते हैं, उनकी सेवाके लिये हरएकके पास तीस २ दासी नियुक्त हैं, युधिष्ठिर उन सबका ही भरण पोषण करते हैं, और वह भी परमप्रसन्न और सन्तुष्ट होकर युधिष्ठिरके शत्रुनाशकी कामना करते हैं ॥ ४४-४६ ॥ युधिष्ठिरके यहां और भी आजन्म ब्रह्मचर्यसे रहनेवाले दश सहस्र यति सुवर्णके पात्रों में भोजन करते हैं ॥ ४७ ॥ हे महाराज ! द्रौपदी प्रतिदिन बिना भोजन किये पहिले कुबड़े बौने आदिने भोजन कर लिया या नहीं इस बातको स्वयं जाकर देख लेती है, जब सब भोजनसे निपट जाते हैं तब भोजन करती है ॥ ४८ ॥ हे महाराज ! पाञ्चालोंके साथ संबन्ध है और अन्धक वृष्णिवंशी युद्धादिमें सहायक होते हैं अतः केवल यह दो ही कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको कर नहीं देते हैं शेष सब राजे उनको कर देते हैं ॥ ४९ ॥ द्विपञ्चाश अध्याय समाप्त ॥ ५२ ॥ छ ॥ छ ॥ छ

दुर्योधनने कहा, कि—सत्यप्रतिज्ञ, महाव्रती, पूर्ण विद्वान.

पर्याप्तविद्या वक्तारो वेदांतावभृथप्लुताः ॥ १ ॥ धृतिमंतो ह्रीनिषेवा धर्मात्मानो यशस्विनः। मूर्धाभिषिक्तास्ते चैनं राजानं पर्युपासते२ दक्षिणार्थं समानीता राजभिः कांस्यदोहनाः। आरण्या बहुसाहस्रा अपश्यन्स्तत्र तत्र गाः॥३॥ आजह्रुस्तत्र सत्कृत्य स्वयमुद्यम्य भारत। अभिषेकार्थमव्यग्रा भाण्डमुच्चावचं नृपाः ॥ ४ ॥ वाह्लीको रथमाहार्षीज्जांबूनदविभूषितम् । सुदक्षिणस्तु युयुजे श्वेतैः काम्बोजजैर्हयैः ॥ ५ ॥ सुनीथः प्रीतिमांश्चैव ह्यनुकर्षं महाबलः । ध्वजं चेदिपतिश्चैव महार्षीत्स्वयमुद्धृतम् ॥ ६ ॥ दक्षिणात्यः सन्नहनं स्रगुष्णीषे च मागधः । वसुदानो महेष्वासो गजेन्द्रं षष्टिहायनम् ॥ ७ ॥ मत्स्यस्त्वक्षान्हेमनद्धानेकलव्य उपानहौ । आवंत्यस्त्वभिषेकार्थमापो बहुविधास्तथा ॥ ८ ॥ चेकितान उपा-

वक्ता, वेदाध्ययनके अन्तमें अवभृथ स्नान करनेवाले धैर्यधारी, असत्कर्मसे लज्जा करनेवाले, धर्मात्मा, यशस्वी और परम मान्य जो राजे हैं वह भी युधिष्ठिरकी उपासना करते हैं ॥ १–२ ॥ कोई २ राजे दक्षिणामें देनेके लिये कांसीके दुहनेके पात्रों सहित अनेकों सहस्र वनकी गौएँ लाये थे, जिनको मैंने जहां तहां खड़ी देखा ॥ ३ ॥ कितने ही राजे अभिषेकके लिये छोटे बड़े २ माङ्गलिक कलश बड़ी प्रसन्नता और सत्कारके साथ स्वयं उठाकर लाये ॥ ४ ॥ राजा वाह्लीक सुनहरी कामसे शोभित रथ लाया, राजा सुदक्षिणने कांबोज देश के श्वेत घोड़े लाकर जोड़ दिये ॥ ५ ॥ महाबली सुनीथ बड़ी प्रीतिके साथ वागडोरें लाया, चेदिराज शिशुपाल स्वयं ध्वजा उठाकर लाया ॥ ६ ॥ दक्षिण देशका राजा कवच, मगधदेशका राजा माला और पगड़ी, धनुर्धारी राजा वसुदान साठ वर्षका हाथी ॥ ७ ॥ मत्स्यराज सुनहरी पासे, एकलव्य उपानह और अवन्ति देशका राजा अभिषेकके लिये अनेकों वार्योंके जल लाए शल्य सुन्दर मूठकी तलवार और सुवर्णसे भूषित कमरकी पेटी

संगं धनुः काश्य उपाहरत् । असिं च सुत्सरुं शल्यः शैक्यं काञ्चनभूषणम् ॥ ६ ॥ अभ्यषिञ्चत्ततो धौम्यो व्यासश्च सुमहातपाः । नारदञ्च पुरस्कृत्य देवलञ्चासितं मुनिम् ॥ १० ॥ प्रीतिमन्त उपातिष्ठन्नभिषेकं महर्षयः । जामदग्न्येन सहितास्तथान्ये वेदपारगाः ॥११॥ अभिजग्मुर्महात्मानो मन्त्रवद्भूरिदक्षिणम् । महेन्द्रमिव देवेन्द्रं दिवि सप्तर्षयो यथा ॥ १२ ॥ अधारयच्छत्रमस्य सात्यकिः सत्यविक्रमः । धनंजयश्च व्यजने भीमसेनश्च पाण्डवः ॥ १३ ॥ चामरे चापि शुद्धे द्वे यमौ जगृहतुस्तथा । उपागृह्णाद्यमिन्द्राय पुराकल्पे प्रजापतिः ॥१४॥ तस्मै शंखमाहार्षीद्वारुणं कलशोदधि । शैक्यं निष्कसहस्रेण सुकृतं विश्वकर्मणा । तेनाभिषिक्तः कृष्णेन तत्र मे कश्मलोऽभवत् १५ गच्छन्ति पूर्वादपरं समुद्रञ्चापि दक्षिणम् । उत्तरन्तु न गच्छन्ति

लाया चेकितान तरकस, और काशीका राजा धनुष लाया ॥ ६ ॥ तब धौम्य और परमतपस्वी व्यासजीने नारद, असित और देवलमुनिको साथ लेकर युधिष्ठिरके अभिषेकका आरंभ किया ॥ १० ॥ तथा और भी बहुतसे वेदपारगामी महर्षि परशुरामको साथ लेकर बड़ी प्रसन्नताके साथ उस अभिषेकमें उपस्थित हुए ॥ ११ ॥ जैसे स्वर्गमें सप्तर्षि देवराज इन्द्रके पास आते हैं तैसे ही उस यज्ञमें बड़ीभारी दक्षिणा देनेवाले राजा युधिष्ठिरके पास अनेकों महात्मा आये ॥ १२ ॥ सत्यपराक्रमी सात्यकिने युधिष्ठिरके ऊपर छत्र लगाया, अर्जुन और भीमसेन ने व्यजन लिये ॥ १३ ॥ नकुल और सहदेव दो दिव्य चमर लिये डुला रहे थे सत्ययुगमें प्रजापति ब्रह्माजीने स्वर्गपति इन्द्रको जो शंख दिया था वही वरुण देवताका कलशोदधि शंख और विश्वकर्माका बनाया हुआ बहुमूल्य छींका श्रीकृष्णने युधिष्ठिरको दिया, और उसीसे अभिषेक कर दिया, यह देखकर मेरे चित्तमें बड़ा ही दुःख हुआ ॥ १४ ॥ १५ ॥ लोग पूर्व, पश्चिम और दक्षिण समुद्रको जाते हैं परन्तु उत्तरके समुद्र पर पक्षियोंके सिवाय कोई

विना तात पत्तभिभिः ॥ १६ ॥ तत्र स्म दध्मुः शतशः शङ्खान् मङ्गलकारकारन् । प्राणदन्त समाध्मातास्ततो रोमाणि मेऽहृषन् ॥ १७ ॥ प्रापतन् भूमिपालाश्च ये तु हीनाः स्वतेजसा । धृष्टद्युम्नः पाण्डवाश्च सात्यकिः केशवोऽष्टमः ॥१८॥ सत्त्वस्था वीर्य्यसम्पन्ना, ह्यन्योऽन्यप्रियदर्शन । विसंज्ञान् भूमिपान्दृष्ट्वा मां च ते प्राहसंस्तदा ॥ १६ ॥ ततो प्रहृष्टो बीभत्सुः प्रादाद्धेमविषाणिनाम् । शतान्य-नडुहां पञ्च द्विजमुख्येषु भारत ॥२०॥ न रंतिदेवो नाभागो यौव-नाश्वो मनुर्न च । न च राजा पृथुर्वन्यो न चाप्यासीद्भगीरथः २१ ययातिर्नहुषो वापि यथा राजा युधिष्ठिरः यथातिमात्रं कौंतेयः श्रिया परमया युतः ॥ २२ ॥ राजसूयमवाप्यैवं हरिश्चन्द्र इव प्रभुः । एतां दृष्ट्वा श्रियं पार्थे हरिश्चन्द्रे यथा विभो ॥ २३ ॥ कथन्तु जीवितं श्रेयो मम पश्यसि भारत । अंधेनेव युगं नद्धं विपर्यस्तं नराधिप ।

नहीं जाता ॥ १६ ॥ तहांसे शंख मँगाये थे वह मांगलिक शङ्ख बारम्बार बजने लगे, उन शङ्खोंके नादको सुनकर मेरे शरीर पर रोम खड़े होगये॥१७॥ उस शंखध्वनिको सुननेसे जिन राजाओं का तेज क्षीण हुआ वह भूमिपर गिर पड़े यह देखकर बली वीर परस्पर में प्रभाव रखनेवाले धृष्टद्युम्न, पांडव, सात्यकि और आठवें कृष्ण सहां आये तथा उन सब राजाओंको और मुझे मूर्छित देखकर हँसने लगे॥१८॥१६॥हे महाराज! तदनन्तर गौरव भरे आकारवाले अर्जुनने सोनेसे सींग मढ़े पाँचसौ बैल ब्राह्मणों को दान करके दिये॥ २० ॥ उस समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी जैसी राजलक्ष्मी थी तैसी राजलक्ष्मी रन्तिदेव, नाभाग यौवनाश्व मनु, पृथु भगीरथ, ययाति और नहुष इनमें से किसी राजाकी भी नहीं थी ॥ २१ ॥ २२ ॥ राजसूय यज्ञमें दीक्षित होकर युधिष्ठिर का प्रभाव आजकल बहुत ही बढ़ रहा है, हे महाराज ! युधिष्ठिर की ऐसी हरिश्चन्द्रकीसी शोभाको देखकर क्या मुझे सुख मिल सकता है ? इसीसे आप मेरी यह दशा देख रहे हैं, हे महाराज ! ब्रह्माने यह द्वापर युग अंधे होकर बनाया है इसी से उलटी दशा

कनीयांसो विवर्द्धन्ते ज्येष्ठा हीयंत एव च ॥२४॥ एवं दृष्ट्वा नाभिविन्दामि शर्म समीक्षमाणोऽपि कुरुप्रवीर । तेनाहमेवं कृशतां गतश्च विवर्णतां चैव सशोकतां च ॥ २५ ॥

इति सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसन्तापे त्रिपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच । त्वं वै ज्येष्ठो ज्यैष्ठिनेयः पुत्र मा पाण्डवान् द्विषः । द्वेष्टा ह्यसुखमादत्ते यथैव निधनं तथा ॥ १ ॥ अव्युत्पन्नं समानार्थं तुल्यमित्रं युधिष्ठिरम् । अद्विषन्तं कथं द्विष्यात्त्वादृशो भरतर्षभ ॥ २ ॥ तुल्याभिजनवीर्यश्च कथं भ्रातुः श्रियं नृप । पुत्र कामयसे मोहान्मैवं भूः शाम्य मा शुचः ॥ ३ ॥ अथ यज्ञविभूतिं तां काङ्क्षसे भरतर्षभ । ऋत्विजस्तव तन्वन्तु सप्ततन्तुं महाध्वरम्

होरही है बड़ोंकी हीन दशा होती है और छोटे उन्नति कर रहे हैं ॥ २३ ॥ २४॥ हे कुरुवीर ! ऐसा देख सुनकर मेरा चित्त दुखता है इसी कारण मैं दिन प्रतिदिन दुबला होकर पीला पड़ता चला जाता हूं और प्रतिक्षण शोकमें डूब रहा हूं ॥ २५ ॥ त्रिपञ्चाश अध्याय समाप्त ॥ ५३ ॥ ॥ ॥ ॥

यह सुनकर धृतराष्ट्रने कहा कि—हे पुत्र ! तुम मेरी बड़ी रानी के गर्भसे उत्पन्न हुए और सबसे बड़े पुत्र हो हे बेटा ! तुमको पांडवोंसे द्वेष नहीं करना चाहिये क्योंकि-द्वेष करने वालोंको सुख नहीं मिलता और हरसमय दुःखमें रहना मरणकी समान है ॥ १ ॥ हे बेटा ! भरतकुलमें उत्पन्न हुए तुमसे योग्य पुरुषको, निष्कपट समानधनी, और द्वेष न रखने वाले युधिष्ठिरके साथ वैरभाव नहीं करना चाहिये, तेरे पास भी मित्रादिका बल कम नहीं है ॥ २ ॥ हे पुत्र ! संबंधियोंका बल और वीरता तुम्हारी उनकी एकसमान है, वह भी तुम्हारे भ्राता ही हैं, उनकी सम्पदा लेनेकी इच्छा करना तुम्हारी मूर्खता है, इसलिये हे पुत्र ! शांति धारण करो. ऐसा शोक मत करो ॥ ३ ॥ और हे बेटा ! यदि तुम युधिष्ठिरके यज्ञके

॥ ४ ॥ आहरिष्यन्ति राजानस्तत्रापि विपुलं धनम् । प्रीत्या च बहुमानाच्च रत्नान्याभरणानि च ॥ ५ ॥ अनार्यचरितं तात परस्वहरणं भृशम् । स्वसन्तुष्टः स्वधर्मस्थो यः स वै सुखमेधते ॥६॥ अव्यापारः परार्थेषु नित्योद्योगः स्वकर्मसु । रक्षणं समुपात्ताना- मेतद्वै भवलक्षणम् ॥७॥ विपत्तिष्वव्यथो दक्षो नित्यमुत्थानवान्नरः। अप्रमत्तो विनीतात्मा नित्यं भद्राणि पश्यति ॥८॥ बाहूनिवैतान्मा च्छेत्सीः पाण्डुपुत्रास्तथैव ते । भ्रातॄणां तद्धनार्थं वै मित्रद्रोहं च मा कुरु ॥ ९ ॥ पांडोः सुतान्मा द्विषस्वेह राजंस्तथैव ते भ्रातृधनं समग्रम् । मित्रद्रोहे तात महानधर्मः पितामहा ये तव तेऽपि तेषाम् ॥ १० ॥ अन्तर्वेद्यां ददद्वित्तं कामाननुभवन् प्रियान् । क्रीडन्

सा ऐश्वर्य चाहते हो तो अभी याज्ञिक समतन्तु यज्ञका आरम्भ करदें ॥ ४ ॥ उस यज्ञमें तुम्हारे लिये भी सब राजे प्रेम और सन्मानके साथ बहुतसा धन लाकर अर्पण करेंगे॥५॥हे पुत्र! बला- त्कार से दूसरोंका धन छीन लेना दुष्ट पुरुषोंका काम है,जो संतोष के साथ अपने धर्म पर दृढ़ रहता है वही सुख पाता है इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ६ ॥ पराये धनको लेनेका उद्योग न करना अपने कामोंमें सदा उद्योग करना और अपने पैदा किये हुए धनकी देख भाल रखना पण्डित पुरुष इसको ही वैभव कहते हैं ॥ ७॥ विप- त्तियोंमें व्याकुल न हो, सब बातोंमें प्रवीण हो और नित्य उन्नति का उद्योग करता हो ऐसा सावधानीसे रहनेवाला नम्र पुरुष ही अनेकों प्रकारके मङ्गल देखता है॥ ८ ॥ हे बेटा ! यह पांडुके पुत्र तेरी भुजाओंकी समान हैं इनको मत काट, देख यह तेरे भाई हैं इनका धन छीननेके लिये मित्रद्रोह करना बड़ा ही अन्याय है ॥९॥ हे बेटा ! इस समय पांडवोंके साथ वैरभाव न दिखा और इनका सम्पूर्ण धन लेनेकी इच्छाको छोड़दे हे बेटा ! मित्रद्रोहमें बड़ा अधर्म है जब तुम्हारे और पाण्डवोंके पितामह एक थे तब तुममें उनमें अन्तर ही क्या है ॥ १० ॥ अतएव अब यज्ञमण्डपमें बैठ

स्त्रीभिर्निरातङ्कः प्रशाम्य भरतर्षभ ॥ ११ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसन्तापे
चतुःपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

दुर्योधन उवाच। यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलन्तु बहुश्रुतः। न स जानाति शास्त्रार्थं दर्वी सूपरसानिव ॥ १ ॥ जानन् वै मोहयसि मां नावि नौरिव संयता। स्वार्थे किं नावधानं ते उताहो द्वेष्टि मां भवान् ॥ २ ॥ न सन्तीमे धार्त्तराष्ट्रा येषां त्वमनुशासिता। भविष्यमर्थमाख्यासि सर्वदा कृत्यमात्मनः॥३॥ परनेयोऽग्रणीर्यस्य स मार्गान् प्रतिमुह्यति। पन्थानमनुगच्छेयुः कथं तस्य पदानुगाः ॥ ४ ॥ राजन् परिणतप्रज्ञो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः। प्रतिपन्नान्स्व-

कर धनका दान कर, अनेकों प्रकारके इच्छित पदार्थोंको भोग और दे देकर। निःशङ्कभावसे अपनी रानियोंके साथ विहार करताहुआ शान्तिके साथ समयको बिता ॥११॥ चतुःपञ्चाश अध्याय समाप्त

यह सुनकर दुर्योधनने कहा, कि—जैसे दर्वी (चमचा, डोई) शाक दाल आदिके स्वादको नहीं जान सकती तैसे ही जिसको अपनी विचारशक्ति नहीं है वह बहुतसे ग्रन्थ पढ़लेने पर भी शास्त्र के मर्मको नहीं पासकता ॥ १ ॥ बड़ी नौकामें बँधी हुई छोटी नौकाकी समान आप जान बूझकर मुझे मोहमें क्यों डालते हैं या तो आप स्वार्थको साधनेमें असावधान हैं, या आप इस विषय में मुझसे द्वेष करते हैं ॥ २ ॥ जब आप ऐसा शासन करते हैं तब हम भाइयोंका जीवन तो न होनेकी समान है, हर समय होनेहारके गीत गानेके अतिरिक्त मानो आपको और कुछ काम ही नहीं है ॥३॥ जिनका मुखिया दूसरेकी संमतिसे कार्य करता है आप कुछ जानता ही नहीं और पग२ पर मार्ग भूल जाता है, फिर उसके पीछे २ चलने वाले अपने स्थानपर कैसे पहुँच सकते हैं ॥ ४ ॥ हे महाराज ! आपका अनुभव तो पकगया है और आपने जितेन्द्रिय रहकर वृद्धोंकी सेवा भी की है, फिर आप हमारे कार्य-

कार्य्येषु संमोहयसि मो भृशम् ॥ ५ ॥ लोकवृत्ताद्राजवृत्तमन्यदाह बृहस्पतिः । तस्माद्राज्ञाऽप्रमत्तेन स्वार्थश्चिन्त्यः सदैव हि ॥ ६ ॥ क्षत्रियस्य महाराज जये वृत्तिः समाहिता । स वै धर्मस्त्वधर्मो वा स्ववृत्तौ का परीक्षणा॥७॥प्रकालयेद्दिशः सर्वाः प्रतोदेनेव सारथिः । प्रत्यमित्रश्रियं दीप्तां जिघृक्षुर्भरतर्षभ ॥८॥प्रच्छन्नो वा प्रकाशो वा योगो योऽरिं प्रबाधते। तद्वै शस्त्रं शस्त्रविदां न शस्त्रं छेदनं स्मृतम् ॥९॥ शत्रुश्चैव हि मित्रञ्च न लेख्यं न च मातृकाः। यो वै सन्तापयति यं स शत्रुः प्रोच्यते नृप ॥ १० ॥ असन्तोषः श्रियो मूलं तस्मात्तं कामयाम्यहम् । समुच्छ्रये यो यतते स राजन् परमो नयः ॥ ११ ॥ ममत्वं हि न कर्त्तव्यमैश्वर्य्ये वा धनेऽपि वा। पूर्वावाप्तं

साधनमें बाधा क्यों डालते हैं।॥५॥ बृहस्पतिजीने राजाओंके व्यव हारको लोकोंके व्यवहारसे सर्वथा भिन्न ही कहा है, इसकारण राजाको सदा सावधानीके साथ अपने प्रयोजनको सिद्ध करनेका ध्यान रखना चाहिये ॥ ६ ॥ हे महाराज ! विजय करना ही क्षत्रियोंका प्रधान कर्त्तव्य है फिर अपने कर्त्तव्य में इस बातकी क्या शङ्का कि—यह धर्म है, या अधर्म है ॥ ७ ॥ हे पिता जी ! जैसे सारथी कोड़ा मारकर घोड़ोंको सब दिशाओंमेंको चलाता है तैसे ही विजय चाहने वाले पुरुष को दूसरोंकी संपत्ति लेनेकी इच्छा से सब ओरको चढ़ाई करनी चाहिये ॥ ८ ॥ जिस गुप्त वा प्रकट उपायसे शत्रुओंको दबाया जा सके वह उपाय ही शस्त्रधारियोंका शस्त्र है केवल मारकाट करने वाले पदार्थका नाम ही शस्त्र नहीं है ॥९॥ कौन शत्रु है और कौन मित्र है इनका कोई लक्षण नहीं लिखा जासकता और उसकी नाप तोल भी नहीं कीजासकती किन्तु जो जिसको दुःख देता है वही उसका शत्रु है ॥ १० ॥ असंतोष ही राज्योन्नतिका मुख्य कारण है इसी कारण मैं असंतोषसे प्रेम करता हूं उन्नति और सम्पत्ति होनेपर भी यत्न करेजाना यह ही परमनीति है ॥ ११ ॥

हरन्त्यन्ये राजधर्मं हि तं विदुः ॥ १२ ॥ अद्रोहसमयं कृत्वा विच्छेद नमुचेः शिरः । शक्रः साभिमता तस्य रिपौ वृत्तिः सनातनी ॥ १३ ॥ द्वावेतौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव । राजानञ्चाविरोद्धारं ब्राह्मणञ्चाप्रवासिनम् ॥ १४ ॥ नास्ति वै जातितः शत्रुः पुरुषस्य विशाम्पते । येन साधारणी वृत्तिः स शत्रुर्नेतरो जनः ॥ १५ ॥ शत्रुपक्षं समृध्यन्तं यो मोहात् समुपेक्षते । व्याधिराप्यायित इव तस्य मूलं छिनत्ति सः ॥ १६ ॥ अल्पोऽपि ह्यरिरत्यर्थं वर्द्धमानः पराक्रमैः । वामीको मूलज इव ग्रसते वृक्षमन्तिकात् ॥ १७ ॥ आजमीढ रिपोर्लक्ष्मीर्मा ते रोचिष्ट भारत । एष भारः

ऐश्वर्य या धनमें कभी ममता न करें क्योंकि—पहिले इकट्ठे किये हुए धनको दूसरे बलात्कारसे छीन लेते हैं और बलात्कारसे छीन लेना ही राजाओंका धर्म है ॥ १२ ॥ मैं कभी भी अपकार नहीं करूँगा ऐसा स्वीकार करके इन्द्रने नमुचिका शिर काटलिया था वास्तवमें शत्रुके साथ सनातनकी रीतिका बर्त्ताव करना ही उनको अभीष्ट था ॥ १३ ॥ जैसे सर्प बिलमेंके जन्तुओंको खाजाता है तैसे ही यह भूमि संग्राम न करने वाले राजाको और परदेशमें न जानेवाले ब्राह्मणोंको ग्रसलेती है ॥१४॥ कोई किसीका जन्मसे शत्रु नहीं होता है जिन दोका एकसा व्यवहार होता है उनमें ही परस्पर शत्रुता होजाती है दूसरोंसे नहीं होती ॥ १५ ॥ जो प्रमाद में पड़ा हुआ उन्नति करते हुए शत्रुकी ओरसे उदासीन रहता है वह शत्रु बढ़तेहुए रोगकी समान उसकी जड़को काटदेता है.१६ वृक्षकी जड़में लगीहुई दीमक जैसे अपने आश्रय वृक्षको गिरादेती है तैसे ही साधारणसा भी शत्रु बल वीर्यके बढ़जाने पर बड़ों २ का संहार कर डालता है ॥ १७ ॥ हे अजमीढ़ वंशके भूषण ! आप शत्रुकी राज्यलक्ष्मीको देखकर प्रसन्न न हूजिये मैंने जो कुछ कहा है धीरपुरुष ऐसा ही वर्त्ताव करते हैं, सदा न्याय से चँधा

सत्त्ववतां नयः शिरसि धिष्ठितः ॥ १८ ॥ जन्मवृद्धिमिवार्थानां यो वृद्धिमभिकांक्षते। एधते ज्ञातिषु स वै सद्योवृद्धिर्हि विक्रमः॥१९। नाप्राप्य पाण्डवैश्वर्यं संशयो मे गमिष्यति। अवाप्स्ये वा श्रियं तां हि शिष्ये वा निहतो युधि॥२०॥एतादृशस्य किं मेऽद्य जीवितेन विशाम्पते। वर्द्धन्ते पाण्डवा नित्यं वयन्त्वस्थिरवृद्धयः ॥ २१ ॥

इति सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसन्तापे पञ्चपंचाशोऽध्याय ॥ ५५ ॥

शकुनिरुवाच। यां त्वमेतां श्रियं दृष्ट्वा पांडुपुत्रे युधिष्ठिरे। तप्यसे तां हरिष्यामि द्यूतेन जयताम्वर ॥ १ ॥ आहूयतां परं राजन् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः। अगत्वा संशयमहमयुध्वा च चमूमुखे। अक्षान् क्षिपन्नक्षतः सन् विद्वानविदुषो जये ॥२॥ ग्लहान् धनूं पि

रहना वीर पुरुषोंको बोझा मालूम होता है ॥१८॥ जो पुरुष धनको पानेकी इच्छाकी समान धनको बढ़ानेकी अभिलाषा भी करता है वह अपनी जातिमें निःसन्देह उन्नति करता है और वह धनकी वृद्धि पराक्रमसे ही होती है ॥ १९ ॥ पांडवोंकी लक्ष्मीको बिना पाये मैं चितामें ही रहूंगा, इसलिये या तो अब उस सम्पदाको लूंगा नहीं तो रणभूमिमें प्राण देकर सोऊँगा ॥ २० ॥ हे महाराज ! पांडवोंकी बराबर उन्नति होरही है और हमारी कुछ भी उन्नति नहीं, इस दशामें मेरा जीवित रहना वृथा है ॥ २१ ॥

पञ्चपञ्चाश अध्याय समाप्त ॥ ५५ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

दुर्योधनकी यह बात सुनकर शकुनिने कहा, कि—हे दुर्योधन! तुम पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी जिस सम्पदाको देखकर दुःखित हो रहे हो, इसको तो मैं जुएमें छीन लूंगा और तुम्हारी जीत होगी ॥ १ ॥ अब तुम कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको जुआ खेलनेके लिये बुलवाओ, जो फाँसे फेंकनेमें चतुर दावा है वह बिना युद्धके ही अनाड़ी शत्रुको जीतलेता है अतः मैं निःसन्देह सेनामें बिना लड़ेही जीतलूंगा ॥ २ ॥ हे दुर्योधन ! जुआ खेलनेमें दाँवको

मे विद्धि शरानक्षांश्च भारत । अक्षाणां हृदयं मे ज्यां रथं विद्धि ममास्फुरम् ॥ ३ ॥ दुर्योधन उवाच । अयमुत्सहते राजन् श्रियमाहर्तुमक्षवित् । द्यूतेन पाण्डुपुत्रेभ्यस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । स्थितोऽस्मि शासने भ्रातुर्विदुरस्य महात्मनः । तेन सङ्गम्य वेत्स्यामि कार्यस्यास्य विनिश्चयम् ॥ ५ ॥ दुर्योधन उवाच । व्यपनेष्यति ते बुद्धिं विदुरो मुक्तसंशयः । पाण्डवानां हिते युक्तो न तथा मम कौरव ॥ ६ ॥ नारभेतान्यसामर्थ्यात् पुरुषः कार्यमात्मनः । मतिसाम्यं द्वयोर्नास्ति कार्येषु कुरुनन्दन ॥ ७ ॥ भयं परिहरन्मन्द आत्मानं परिपालयन् । वर्षासु क्लिन्नकटवत्तिष्ठन्नेवावसीदति ॥८॥ न व्याधयो नापि यमः प्राप्तुं श्रेयः प्रती-

---

मेरा धनुष, फाँसोंको बाण, फाँसे फेंकनेकी मेरी चतुराईको प्रत्यंचा और मेरी फुरतीको रथ समझना ॥ ३ ॥ यह सुनकर दुर्योधनने कहा, कि—हे पिताजी ! यह फाँसे फेंकनेमें प्रवीण मामाजी द्यूतके द्वारा युधिष्ठिरकी धन सम्पदा छीनलेनेका उत्साह दिखारहे हैं सो आप इनको आज्ञा देदीजिये ॥ ४ ॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि—मैं तो महात्मा विदुरभाईकी संमतिसे काम किया करता हूं, उनसे मिलकर निश्चय करूँगा कि—इस विषयमें क्या करना चाहिये ॥ ५ ॥ दुर्योधनने कहा, कि हे महाराज ! विदुर जी जितने पाण्डवोंके हितैषी हैं उतने हमारे नहीं हैं, इस कारण वह आपकी बुद्धिको पलट देंगे, इसमें सन्देह नहीं है ॥६॥ हे महाराज ! मेरी समझमें,तो दूसरेके भरोसेपर पुरुषको अपने कार्यका आरंभ नहीं करना चाहिये, क्योंकि—किसी काममें भी दो पुरुषोंकी एकसी संमति होना बड़ी दुर्घट बात है ॥ ७ ॥ मूर्ख पुरुष निर्भय होकर अपनी रक्षा करता हुआ वर्षाकालके गीले तृणकी समान पड़ा हुआ दुःख भोगता रहता है ॥ ८ ॥ अनेकों प्रकारके रोग और मृत्यु, कल्याण होनेकी प्रतीक्षा नहीं करते हैं,

स्ते । यावदेव भवेत्कल्यस्तावच्छ्रेयः समाचरेत् ॥ ९ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । सर्वथा पुत्र बलिभिर्विग्रहो मे न रोचते । वैरं विकारं सृजति तद्वै शस्त्रमनायसम् ॥ १० ॥ अनर्थमर्थं मन्यसे राजपुत्र संग्रन्थनं कलहस्यातियाति । तद्वै प्रवृत्तन्तु यथा कथञ्चित् सृजेदसीन्निशितान् सायकांश्च ॥ ११ ॥ दुर्योधन उवाच । द्यूते पुराणैर्व्यवहारः प्रणीतस्तत्रात्ययो नास्ति न सम्प्रहारः।रोचतां शकुनिर्वाक्यमद्य सभां क्षिप्रं त्वमिहाज्ञापयस्व ॥१२॥ स्वर्गद्वारं दीव्यतां नो विशिष्टं तद्वर्तिनां चापि तथैव युक्तम् । भवेदेवं ह्यात्मना तुल्यमेव दुरोदरं पाण्डवैस्त्वं कुरुष्व ॥ १३ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । वाक्यं न मे रोचते यत्त्वयोक्तं यत्ते प्रियं तत् क्रियतां नरेन्द्र । पश्चात्तप्स्यसे

इस कारण आगेको उन्नति होजायगी, इस भरोसे पर न पड़े रह कर उन्नति देनेवाले कामको करना चाहिये॥९॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि—हे बेटा ! बलवान्के साथ विरोध करना मैं किसी प्रकार भी ठीक नहीं समझता, क्योंकि विरोधसे विकार उत्पन्न होता है और विकार बिना लोहेका शस्त्र है ॥१०॥ हे बेटा! तुम जो इस अनर्थरूप संग्रामकी घटनाको ठीक मानरहे हो, इस मालमसीसे ही तीक्ष्ण बाण और तलवारें निकल पड़ेंगी ॥ ११ ॥ दुर्योधनने कहा कि—पुराने लोग द्यूत खेलते थे उसमें न विकार होता था, न संग्राम होता था,इस लिये आप मामाजीकी बात मानलीजिये और शीघ्रही सभामण्डप बनाने की आज्ञा दीजिये॥१२॥ द्यूतक्रीड़ा, हम खेलने वालोंके लिये और हमारे अनुगामियों के, लिये सुन्दर सुखके द्वार की समान है इसमें पाण्डवोंको भी हमारी समान ही सुख होगा, इसकारण अब आप पाण्डवोंके साथ जुआ कराइये॥१३॥ धृतराष्ट्र ने कहा, कि—हे बेटा ! तुमने जो बात कही, यह मुझे अच्छी नहीं मालूम होती, तुम्हारे मनको अच्छालगे सो करो ! कहीं तुम्हें पीछे पछताना न पड़े, क्योंकि–यह तुम्हारी बात कल्याणकारी

तदुपाक्रम्य वाक्यं नहीदृशं भाति वचो हि धर्म्यम् ॥ १४ ॥ दृष्टं ह्येतद्विदुरेणैव सर्वं विपश्चिता बुद्धिविद्यानुगेन । तदेवैतद् दैववशादुपैति महद्भयं क्षत्रियजीवघाति ॥ १५ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी दैवं मत्वा परमं दुस्तरञ्च । शशासोच्चैः पुरुषान् पुत्रवाक्ये स्थितो राजा दैवसंमूढचेताः ॥ १६ ॥ सहस्रस्तम्भां हेमवैदूर्यचित्रां शतद्वारां तोरणस्फाटिकाख्याम् । सभामग्र्यां क्रोशमात्रायतां मे तद्विस्तारामाशु कुर्वन्तु युक्ताः ॥१७॥ श्रुत्वा तस्य त्वरिता निर्विशङ्काः प्राज्ञा दक्षास्तां तदा चक्रुराशु । सर्वद्रव्याण्युपजह्रुः सभायां सहस्रशः शिल्पिनश्चैव युक्ताः ॥१८॥ कालेनाल्पेनाथ निष्ठां गतां तां सभां रम्यां बहुरत्नां विचित्राम् ।

पछताना न पड़े, क्योंकि-यह तुम्हारी बात कल्याणकारी और धर्मानुकूल नहीं है ॥ १४ ॥ बुद्धिमान् विदुरने विद्या बुद्धि के प्रभावसे यह सब बात पहिले ही विचार देखी है, वही महाभयदायक क्षत्रियोंका क्षयकारी अवसर दैववश समीप आता जाता है ॥ १५ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! बुद्धिमान् धृतराष्ट्र ऐसा कह कर और दैवको परम दुस्तर मानकर अर्थात् होनीको बलवान जानकर दैवके प्रतापसे ही सब विचार भूलगए और पुत्रकी बात मान सेवकोंको पुकार कर आज्ञा दी, कि— ॥ १६ ॥ तुम सहस्र खंभोंसे शोभायमान, सुवर्ण और वैदूर्यसे जड़ी, सौ द्वारोंवाली, एक कोस चौड़ी और एक कोस लम्बी तोरणस्फाटिक नामवाली एक श्रेष्ठ सभाको बनानेमें शीघ्र ही लगजाओ ॥ १७ ॥ धृतराष्ट्रकी आज्ञा पाते ही सहस्रों चतुर निर्भय शिल्पियोंने शीघ्रतासे सभा बनादी और उसके योग्य पदार्थोंसे सजादिया ॥ १८ ॥ इस प्रकार थोड़े ही समयमें उस सभाके तयार होजाने पर अनेकों प्रकारके रत्नोंकी चित्रकारी करके उस को विचित्र बना दिया तथा उसमें सुनहरी चित्र और बिछौने बिछाकर चित्तमें प्रसन्न होतेहुए धृतराष्ट्रसे निवेदन किया, कि-

चित्रैर्हैमैरासनैरभ्युपेतामाचख्युस्ते तस्य राज्ञः प्रतीताः॥१९॥ ततो विद्वान् विदुरं मन्त्रिमुख्यमुवाचेदं धृतराष्ट्रो नरेन्द्रः। युधिष्ठिरं राजपुत्रं च गत्वा मद्वाक्येन क्षिप्रमिहानयस्व ॥ २० ॥ सभेयं मे बहुरत्ना विचित्रा शय्यासनैरुपपन्ना महार्हैः। सा दृश्यतां भ्रातृभिः सार्द्धमेत्य सुहृद्द्यूतं वर्त्ततामत्र चेति ॥ २१ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरानयने षट्पंचाशोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

वैशम्पायन उवाच। मतमाज्ञाय पुत्रस्य धृतराष्ट्रो नराधिपः। मत्वा च दुस्तरं दैवमेतद्राजंश्चकार ह ॥ १ ॥ अन्यायेन तथोक्तस्तु विदुरो विदुषाम्वरः। नाभ्यनन्दद्वचो भ्रातुर्वचनञ्चेदमब्रवीत् ॥२॥ विदुर उवाच। नाभिनन्दे नृपते प्रैषमेतं मैवं कृथाः कुलनाशाद्बिभेमि। पुत्रैर्भिन्नैः कलहस्ते ध्रुवं स्यादेतच्छङ्के द्यूतकृते नरेन्द्र ॥ ३ ॥

हे महाराज! सभा तयार है ॥ १९ ॥ तदनन्तर बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने अपने मुख्य मंत्री विदुरसे कहा, कि—तुम मेरे कहनेसे इन्द्रप्रस्थको चले जाओ और राजा युधिष्ठिरको शीघ्र ही लिवालाओ ॥ २० ॥ उनसे कहना, कि-बहुमूल्य सुन्दर शय्या और आसनोंसे युक्त अनेकों रत्नोंसे जटित हमारी सभा बनी है, भाइयों सहित आकर इसको देखें और सब मित्र इकट्ठे होकर यहां द्यूतक्रीड़ा करें ॥ २१ ॥ षटपञ्चाश अध्याय समाप्त ॥ ५६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—महाराज धृतराष्ट्रने पुत्रके मतको जानकर और दैवको दुस्तर मानकर ऐसा किया ॥ १ ॥ जब परम विद्वान् विदुरजीसे यह अन्यायकी बात कही तब उन्होंने भाई धृतराष्ट्रसे इस बातको अनुचित बताकर यह कहा ॥ २ ॥ विदुरजी बोले कि—हे महाराज! आपकी यह आज्ञा मुझे अच्छी नहीं मालूम होती आप ऐसा न करें मुझे इसमें कुलका नाश होनेका भय है हे महाराज! मुझे यह शंका होती है, कि—चौसरके खेलमें तुम्हारे पुत्रोंमें भेद पड़कर अवश्य ही कलह होगा

धृतराष्ट्र उवाच। नेह क्षत्तः कलहस्तप्स्यते मां न चेद्दैवं प्रतिलोमं भविष्यत्। धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलेदं सर्वं जगच्चिष्ठति न स्वतन्त्रम् ॥ ४ ॥ तदद्य विदुर प्राप्य राजानं मम शासनात्। क्षिप्रमानय दुर्धर्षं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरानयने
सप्तपंचाशोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

वैशंपायन उवाच। ततः प्रायाद्विदुरोऽश्वैरुदारैर्महाजवैर्बलिभिः साधुदान्तैः। बलान्नियुक्तो धृतराष्ट्रेण राज्ञा मनीषिणां पाण्डवानां सकाशे ॥ १ ॥ सोऽभिपत्य तदध्वानमासाद्य नृपतेः पुरम्। प्रविवेश महाबुद्धिः पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ २ ॥ स राजगृहमासाद्य कुबेरभवनोपमम्। अभ्यागच्छत धर्मात्मा धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ३ ॥ तं वै राजा सत्यधृतिर्महात्मा अजातशत्रुर्विदुरं यथावत्। पूजापूर्वं प्रतिगृह्याजमीढस्ततोऽपृच्छद्धृतराष्ट्रं सपुत्रम् ॥ ४ ॥ युधिष्ठिर

॥ ३ ॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि-हे क्षत्तः ! यदि दैव विरोधी न हो तो विरोधसे भी मुझे दुःख नहीं होसकता जगत् स्वाधीन नहीं है किन्तु सब संसार विधाताके वशमें चलता है॥४॥ सो हे विदुर ! अब तुम शीघ्र ही मेरे कहनेसे इन्द्रप्रस्थको जाकर प्रतापी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको लिवालाओ ॥ ५ ॥ सप्तपञ्चाश अध्याय समाप्त

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-हे जनमेजय ! इसप्रकारसे धृतराष्ट्रके भेजे हुए विदुरजी विवश होकर शीघ्रगामी बलवान् सुशिक्षित घोड़ों से जुते रथमें बैठकर विद्वान् पाण्डवोंके पास चलदिये ॥ १ ॥ महाबुद्धि विदुर समस्त मार्गको बिताकर इन्द्रप्रस्थमें पहुंचे तहांके द्विजातियोंने उनका सत्कार किया ॥२॥ तदनन्तर धर्मात्मा विदुर कुबेरके भवनकी समान राजमन्दिरमें प्रवेश करके धर्मपुत्र युधिष्ठिर से मिले ॥ ३ ॥ अजमीढवंशी महात्मा अजातशत्रु युधिष्ठिरने उनकी यथाविधि पूजा और स्वागत करके पुत्रों सहित धृतराष्ट्रका समाचार बूझा ॥ ४ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि—हे

उवाच । विज्ञायते ते मनसोऽप्रहर्षः कच्चित् क्षत्तः कुशलेनागतो-ऽसि। कच्चित् पुत्राः स्थविरस्यानुलोमा वशानुगाश्चापि विशोऽथ कच्चित् ॥५॥ विदुर उवाच। राजा महात्मा कुशली सपुत्र आस्ते वृतो ज्ञातिभिरिन्द्रकल्पः। प्रीतो राजन् पुत्रगुणैर्विनीतो विशोक एवात्मरतिर्दृढात्मा ॥ ६ ॥ इदन्तु त्वां कुरुराजोऽभ्युवाच पूर्वं पृष्ट्वा कुशलञ्चाव्ययं च। इयं सभा त्वत्सभा तुल्यरूपा भ्रातॄणां ते दृश्यतामेत्य पुत्र ॥ ७ ॥ समागम्य भ्रातृभिः पार्थ तस्यां सुहृद्-द्यूतं क्रियतां रम्यतांश्च। प्रीयामहे भवतां सङ्गमेन समागताः कुरवश्चापि सर्वे ॥ ८ ॥ दुरोदरा विहिता ये तु तत्र महात्मना धृत-राष्ट्रेण राज्ञा। तान् द्रक्ष्यसे कितवान् सन्निविष्टानित्यागतोऽहं नृपते तज्जुषस्व ॥ ९ ॥ युधिष्ठिर उवाच। द्यूते क्षत्तः कलहो

विदुरजी! आपका मन मलिनसा प्रतीत होता है, आप कुशलसे, तो आये हैं? दुर्योधन आदि हमारे भाई धृतराष्ट्रके अनुकूल तो हैं? और क्षत्रिय तो उनके वशमें हैं? ॥ ५ ॥ विदुरजीने कहा, कि-हे राजन्! इन्द्रकी समान महात्मा धृतराष्ट्र और उनके पुत्र ज्ञाति बान्धवों सहित कुशलसे हैं वह अपने पुत्रोंके गुणोंसे प्रसन्न विनयवान् सकल शोकोंसे रहित अपने स्वरूपमें मग्न और मान-सिक बलसे युक्त हैं ॥ ६ ॥ इस समय आपकी कुशल और आरोग्य बूझकर धृतराष्ट्रने आपसे यह कहा है, कि—हे पार्थ! तुम भाइयों सहित आकर अपनी सभाकी समान ही हमारी इस सभाको देखो ॥ ७ ॥ और यहाँ आकर अपने भाइयोंके साथ मित्र-भाव से चौसर खेलो और आनन्द करो, तुम्हारे यहां आनेपर हम तथा कुरुकुलके अन्य सब लोग बहुत ही प्रसन्न होंगे ॥ ८ ॥ महात्मा राजा धृतराष्ट्रने वहाँ चौसर खेलने वाले नियत किये हैं आप उन फाँसे खेलने वालोंको देखेंगे इसलिये ही मैं आया हूं अब आपकी जो इच्छा हो सो करिये ॥ ९ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि—हे महात्मन्! द्यूत खेलनेमें मुझे कल्याण नहीं दीखता,

विद्यते नः को वै द्यूतं रोचते युध्यमानः। किं वा भगवन् मन्यते युक्तरूपं भवद्वाक्ये सर्व एव स्थिताः स्म ॥ १० ॥ विदुर उवाच। जानाम्यहं द्यूतमनर्थमूलं कृतश्च यत्नोऽस्य मया निवारणे। राजा च मां प्राहिणोत्त्वत्सकाशं श्रुत्वा विद्वन् श्रेय इहाचरस्व ॥ ११ ॥ युधिष्ठिर उवाच। के तत्रान्ये कितवा दीव्यमाना विना राज्ञो धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः। पृच्छामि त्वां विदुर ब्रूहि नस्तान् यैर्दीव्यामः शतशः सन्निपत्य ॥ १२ ॥ विदुर उवाच। गान्धारराजः शकुनिर्विशाम्पते राजातिदेवी कृतहस्तो मताक्षः। विविंशतिश्चित्रसेनश्च राजा सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयश्च ॥ १३ ॥ युधिष्ठिर उवाच। महाभयाः कितवाः सन्निविष्टा मायोपधा देवितारोऽत्र सन्ति। धात्रा तु

ऐसे कलहकी मूल जुएको खेलना कौन बुद्धिमान् अच्छा मानेगा ? और क्या आप चौसरके खेलको अच्छा समझते हैं ? कहिये हम सब आपकी संमतिके अनुसार काम करना चाहते हैं॥ १० ॥ विदुरने कहा, यह मैं भले प्रकार जानता हूं कि-जुआ खेलना अनर्थ की मूल है मैंने ऐसा यत्न भी किया था, कि-जिसमें जुआ न हो परन्तु राजा धृतराष्ट्रने मुझे तुम्हारे पास भेज ही दिया अब जो आप उचित समझें, वह करिये ॥ ११ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि-हे महात्मन्। मैं यह बूझता हूं कि-वहां धृतराष्ट्रके पुत्रोंके सिवाय और कौन २ से फाँसे फेंकनेवाले खिलाड़ी हैं ? उनके नाम मुझे बताइये, कि-जिनके साथ सैंकड़ों वार पण लगाकर हमको खेलना होगा॥१२॥विदुरने कहा, कि-फाँसे फेंकनेमें प्रसिद्ध और फांसोंको हाथसे बनाकर फेंकने वाला सबोंसे बढ़कर खेलने वाला तो गांधारराज शकुनि है उसके सिवाय विविंशति, चित्रसेन, राजा सत्यव्रत, पुरुमित्र और जय वहां विद्यमान हैं ॥१३॥ युधिष्ठिरने कहा, कि—आप ठीक कहते हैं वहां बड़े २ मायावी भयानकाकार जुआ खेलनेवाले उपस्थित हैं, प्रतीत होता है, कि-सकल जगत् विधाताकी आज्ञामें होकर वर्ताव करता है कभी

दिष्टस्य वशे किलेदं सर्वं जगच्चिष्ठति न स्वतन्त्रम् ॥१४॥ नाहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य शासनाद्‌ गन्तुमिच्छामि कवे दुरोदरम् । इष्टो हि पुत्रस्य पिता सदैव तदस्मि कर्त्ता विदुरात्थ मां यथा ॥ १५ ॥ न चाकामः शकुनिना देविताहं न चेन्मां जिष्णुराह्वयिता सभायाम् । आहूतो-ऽहं न निवर्त्ते कदाचित्तदाहितं शाश्वतं वै व्रतं मे ॥ १६ ॥ वैश-म्पायन उवाच । एवमुक्त्वा विदुरं धर्मराजः प्रायात्रिकं सर्वमाज्ञाप्य तूर्णम् । प्रायाच्छ्वोभूते सगणः सानुयात्रः सह स्त्रीभिर्द्रौपदीमादि कृत्वा ॥ १७ ॥ दैवं हि प्रज्ञां मुष्णाति चक्षुस्तेज इवापतत् । धातुश्च वशमन्वेति पाशैरिव नरः सितः ॥ १८ ॥ इत्युक्त्वा प्रययौ राजा सह क्षत्रा युधिष्ठिरः । अमृष्यमाणस्तस्याथ समाह्वानमरिन्दम ॥ ॥ १९ ॥ बाह्लिकेन रथं यत्तमास्थाय परवीरहा । परिच्छन्नो ययौ पार्थो भ्रातृभिः सह पाण्डवः ॥ २० ॥ राजश्रिया दीप्यमानो

कोई स्वतंत्र रह ही नहीं सकता ॥ १४ ॥ पुत्रके पक्षपाती धृतराष्ट्र के शासनमें मुझे चौसर खेलनेके लिये जानेकी इच्छा नहीं है, आप चलनेको कहते हैं तो मैं चला चलूंगा ॥ १५ ॥ यदि धृतराष्ट्र मुझे सभा में नहीं बुलाते तो मैं शकुनिके साथ चौसर कदापि नहीं खेलता परन्तु जब उन्होंने बुलाया है तो निषेध नहीं करसकता क्योंकि यही मेरा सदाका नियम है ॥ १६ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि—हे जनमेजय ! धर्मराजने विदुरजीसे ऐसा कहकर शीघ्र ही साथ चलनेवालोंको आज्ञा दी कि—प्रातःकाल द्रौपदी आदि स्त्रियें सब भाई विदुर सेवक और साथियोंको लेकर चलेंगे १७ जैसे आँखोंकी ज्योतिको तेज हरालेता है, तैसे ही दैव राजाओंकी बुद्धियों हर लेता है, सब ही मनुष्य पाशमें बँधेहुएसे विधाताके वशमें हैं ॥ १८ ॥ ऐसा कहकर युधिष्ठिर उस बुलावेके चित्तके अनुकूल न होनेपर भी विदुर और भाइयों सहित बाह्लीकके दिये हुए रथमें बैठकर चल दिये ॥ १९ ॥ २० ॥ कालके नियमा-नुसार धृतराष्ट्रके बुलाये हुए राजा युधिष्ठिर जब ब्राह्मणोंको साथ

ययौ ब्रह्मपुरःसरः । धृतराष्ट्रेण चाहूतः कालस्य समयेन च २१ ॥ हास्तिनपुरं गत्वा धृतराष्ट्रगृहं ययौ । समियाय च धर्मात्मा धृतराष्ट्रेण पाण्डवः ॥ २२ ॥ तथा भीष्मेण द्रोणेन कर्णेन च कृपेण च । समियाय यथान्यायं द्रौणिना च विभुः सह ॥ २३ ॥ समेत्य च महाबाहुः सोमदत्तेन चैव ह । दुर्योधनेन शल्येन सौबलेन च वीर्यवान् ॥ २४ ॥ ये चान्ये तत्र राजानः पूर्वमेव समागताः । दुःशासनेन वीरेण सर्वैर्भ्रातृभिरेव च ॥ २५ ॥ जयद्रथेन च तथा कुरुभिश्चापि सर्वशः । ततः सर्वैर्महाबाहुर्भ्रातृभिः परिवारितः ।२६। प्रविवेश गृहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः । ददर्श तत्र गान्धारीं देवीं पतिमनुव्रताम् । स्नुषाभिः संवृतां शश्वत्ताराभिरिव रोहिणीम् २७ अभिवाद्य स गान्धारीं तया च प्रतिनन्दितः । ददर्श पितरं वृद्धं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ॥ २८ ॥ राज्ञा मूर्द्धन्युपघ्रातास्ते च कौरवनन्दनाः । चत्वारः पाण्डवा राजन् भीमसेनपुरोगमाः ॥ २९ ॥

में लेकर चले उस समय उनकी राजसी शोभा बड़ी दिपरही थी ॥२१॥ धर्मात्मा युधिष्ठिर हस्तिनापुरमें पहुंचकर धृतराष्ट्रके राजमन्दिरमें गए और उनसे मिले ॥२२॥ भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामाके साथ यथोचित रीतिसे मिले॥२३॥फिर महाबाहु वीर युधिष्ठिर सोमदत्तसे मिलकर दुर्योधन, शल्य और और शकुनिसे मिले ॥ २४ ॥ इनके सिवाय और जो राजे तहां पहिलेसे ही आगए थे उनसे तथा वीर दुःशासन आदि भाइयोंसे, जयद्रथसे और सकल कुरुवंशियोंसे मिलकर फिर महाबाहु सब भाइयोंको साथ लिये बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रके रहनेके स्थान में गए तहां ताराओंसे घिरी रोहिणी की समान अपनी पुत्रवधुओं से घिरी पतिव्रता गांधारी देवीको देखा ॥ २५—२७ ॥ इन्होंने गांधारीको प्रणाम किया और उसने भी आशीर्वाद दिया तदनंतर बूढ़े प्रज्ञाचक्षु नेत्रहीन पितासमान राजा धृतराष्ट्रके दर्शन किये, धृतराष्ट्रने भीमसेन आदि पांचों भाइयोंके मस्तकका सूँघा, हे

ततो हर्षः समभवत् कौरवाणां विशाम्पते । तान् दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान् पाण्डवान् मियदर्शनान् ॥ ३० ॥ विविशुस्तेऽभ्यनुज्ञाता रत्नवन्ति गृहाणि च । ददृशुश्चोपयातास्तान् द्रौपदीप्रमुखाः स्त्रियः ॥ ३१ ॥ याज्ञसेन्याः परामृद्धिं दृष्ट्वा प्रज्वलितामिव । स्नुषास्ता धृतराष्ट्रस्य नातिप्रमनसोऽभवन् ॥ ३२ ॥ ततस्ते पुरुषव्याघ्रा गत्वा स्त्रीभिस्तु संविदम् । कृत्वा व्यायामपूर्वाणि कृत्यानि प्रतिकर्म च ॥ ३३ ॥ ततः कृताह्निकाः सर्वे दिव्यचन्दनभूषिताः । कल्याणमनसश्चैव ब्राह्मणान् स्वस्तिवाच्य च ॥ ३४ ॥ मनोज्ञमशनं भुक्त्वा विविशुः शरणान्यथ ॥ ३५ ॥ उपगीयमाना नारीभिरस्वपन् कुरुपुङ्गवाः । अन्तरञ्च ततः प्राप्य भीताः परपुरञ्जयाः ॥ ३६ ॥ जगाम तेषां सा रात्रिः पुण्या रतिविहारिणाम् ।

जनमेजय ! उस समय उन प्रियदर्शन वीर पाण्डवोंको देखकर कौरव बड़े प्रसन्न हुए ॥ २८–३० ॥ फिर धृतराष्ट्रकी आज्ञासे रत्नजटित स्थानोंमें ठहरे द्रौपदी आदि स्त्रियें भी स्त्रियोंसे आकर मिलीं ॥ ३१ ॥ धृतराष्ट्रकी पुत्रवहुएं द्रौपदीकी दमकती हुई बड़ी भारी सम्पत्तिको देखकर मनमें दुःखित हुईं ॥ ३२ ॥ तहाँ वीर पाण्डवोंने स्त्रियोंसे बात चीत कर प्रतिदिनके नियमानुसार व्यायाम (कसरत) करके नित्यकर्म किया ॥ ३३ ॥ इसप्रकार नित्यकर्म करके वह सब पांडव दिव्य चन्दनादिसे भूषित हुए और मङ्गलकी कामनासे ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया ॥ ३४ ॥ फिर स्वादु भोजन पाकर स्थानोंके भीतर गए तहां उन वीरोंके निद्रामें आनेके समय पर्यन्त स्त्रियें सुन्दर गीत गाती रहीं इसप्रकार शत्रुविजयी पाण्डव परमानन्दसे स्त्रियों सहित सो गए ॥ ३५॥ आनन्द विहार आदि करते हुए पांडवों की वह पवित्र रात्रि बीत गई, ।इसप्रकार विश्राम लेनेके अन्तमें वन्दीजनोंके स्तुति पढ़ने पर वह ठीक समय पर जाग उठे॥३६॥ इसप्रकार रात्रिमें सुखसे निवास करके प्रातःकाल होते ही

स्तूयमानाश्च विश्रान्ताः काले निद्रामथात्यजन् ॥३७॥ सुखोषिता
स्ते रजनीं प्रातः सर्वे कृताह्निकाः। सभां रम्यां प्रविविशुः कितवै
रभिनन्दिताः ॥ ३८ ॥ ॥ छ ॥ * ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणियुधिष्ठिरसभा-
गमनेऽष्टपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

वैशम्पायन उवाच। प्रविश्य तां सभां पार्था युधिष्ठिरपुरोगमाः।
समेत्य पार्थिवान् सर्वान् पूजार्हानभिपूज्य च ॥ १ ॥ यथावयः
समेयाना उपविष्टा यथार्हतः। आसनेषु विचित्रेषु स्पर्द्ध्यास्तरण-
वत्सु च ॥२॥ तेषु तत्रोपविष्टेषु सर्वेष्वथ नृपेषु च। शकुनिः सौबल-
स्तत्र युधिष्ठिरमभाषत ॥ ३ ॥ शकुनिरुवाच। उपस्तीर्णा सभा
राजन् सर्वे त्वयि कृतक्षणाः। अक्षानुप्त्वा देवनस्य समयोऽस्तु
युधिष्ठिर ॥ ४ ॥ युधिष्ठिर उवाच। निकृतिर्देवनं पापं न क्षात्रोऽत्र
पराक्रमः। न च नीतिर्ध्रुवा राजन् किं त्वं द्यूतं प्रशंससि ॥ ५ ॥

नित्यकर्मसे निवटनेके अनन्तर वह सब धृतराष्ट्रकी रमणीय सभामें
गए, इनको देखते ही सब खेलने वाले बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३७ ॥
अष्टपञ्चाश अध्याय समाप्त ॥ ५८ ॥ * ॥ *

वैशम्पायनने कहा, कि–हे राजन् जनमेजय ! तदनन्तर वह
पाण्डव राजा युधिष्ठिरके पीछे २ सभामें पहुंचे और तहाँ पूजा
के योग्य सब राजाओंका अवस्थाके अनुसार पूजन करके सुंदर
बिछौनोंवाले रमणीय विचित्र आसनोंपर यथोचित रीतिसे बैठ
गये ॥ १ ॥ २ ॥ और सब राजाओंके भी जहां तहां बैठजाने पर
सुबलनन्दन शकुनिने युधिष्ठिर से कहा ॥ ३ ॥ शकुनि बोला,
कि—हे पार्थ ! हम सब लोग सभामें पहिले से ही इकट्ठे होकर
आपकी बाट देखरहे थे, अब फासे फेंक कर चौसरके खेलका
आरम्भ होना चाहिये ॥ ४ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि–हे राजन् !
देखो जुआ खेलना छलरूप पापकी मूल है इसमें कुछ क्षत्रियोंकी
वीरता तो है ही नहीं और विचारदृष्टिसे देखाजाय तो यह राज-
नीति भी नहीं है, फिर तुम द्यूतकी प्रशंसा क्यों करते हो ॥ ५ ॥

नहि मानं प्रशंसन्ति निकृतौ कितवस्य हि । शकुने मैवं नो जैषी-रमार्गेण नृशंसवत् ॥ ६ ॥ शकुनिरुवाच । यो वेत्ति संख्यां निकृतौ विधिज्ञश्चेष्टास्वखिन्नः कितवोऽक्षजासु । महामतिर्यश्च जानाति द्यूतं स वै सर्वं सहते प्रक्रियासु ॥ ७ ॥ अक्षग्लहः सोऽभिभवेत् परं नस्तेनैव दोषो भवतीह पार्थ । दीव्यामहे पार्थिव मा विशङ्कां कुरुष्व पाणञ्च चिरं च मा कृथाः ॥ ८ ॥ युधिष्ठिर उवाच । एवमाहायमसितो देवलो मुनिसत्तमः । इमानि लोकद्वाराणि यो वै भ्राम्यति सर्वदा ॥ ९ ॥ इदं वै देवनं पापं निकृत्य कितवैः सह । धर्मेण तु जयो युद्धे तत्परं न तु देवनम् ॥१०॥ नार्या म्लेच्छन्ति भाषाभिर्मायया न चरन्त्युत । अजिह्ममशठं युद्धमेतत् सत्पुरुषव्रतम्

इस धूर्त्तोंके कपटभरे आचरणकी कोई प्रशंसा नहीं करते हैं, इस कारण देखो हे शकुनि ! तुमको निर्दयीकी समान कुमार्गके द्वारा हमारा पराजय करनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये ॥ ६ ॥ यह सुनकर शकुनिने कहा, कि–जो गिनना जानता है, खेलमें धोखा देनेकी सब रीतियोंको जानता है फाँसे डालनेकी चेष्टामें आलस्य-रहित और चालाक होता है और जो बुद्धिमान् द्यूतविद्याको जानता है वह खेलके समय सब बातोंपर ध्यान रखता है और हारता नहीं है ॥ ७ ॥ हे पार्थ ! फाँसोंपर दाँव लगाना ही हार जीतका कारण है, हारना कोई दोष नहीं है, इसलिये आइये खेलें आप किसी बातकी शङ्का न करें, शीघ्र ही अपनी इच्छानुसार दाँव लगाइये, देर न करिये ॥ ८ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि–इन सब लोकों में सदा विचरने वाले मुनिवर असित और देवल ने कहा है, कि–॥ ९ ॥ धूर्तों के साथ कपटकी द्यूतक्रीडा करना बड़ाभारी पापकर्म है धर्म के साथ युद्धमें जीतना ही अच्छा है जुए में जीतना बुरा है ॥ १० ॥ जो श्रेष्ठ पुरुष हैं वह मुखसे म्लेच्छ-भाषाका उच्चारण नहीं करते और न कपटके व्यवहारको करते हैं, किंतु शठपने को छोड़कर निष्कपट युद्ध करना ही सत्पुरुषोंका

॥ ११ ॥ शक्तितो ब्राह्मणार्थाय शिक्षितुं प्रयतामहे । तद्वै वित्तं मातिदेवीर्मा जैषीः शकुने परान् ॥ १२ ॥ निकृत्या कामये नाहं सुखान्युत धनानि वा । कितवस्येह कृतिनो वृत्तमेतन्न पूज्यते १३ शकुनिरुवाच । श्रोत्रियः श्रोत्रियानेति निकृत्यैव युधिष्ठिरः । विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥ १४.॥ अक्षैर्हि शिक्षितोऽभ्येति निकृत्यैव युधिष्ठिर । विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥ १५ ॥ अकृतास्त्रं कृतास्त्रश्च दुर्बलं बलवत्तरः । एवं कर्मसु सर्वेषु निकृत्यैव युधिष्ठिर । विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥१६॥ एवं त्वं मामिहाभ्येत्य निकृतिं यदि मन्यसे । देवनाद्विनिवर्त्तस्व यदि ते विद्यते भयम् ॥ १७ ॥ युधिष्ठिर उवाच ।

नियम है ॥ ११ ॥ शक्तिके अनुसार ब्राह्मणोंका उपकार करनेके लिये हमारा यत्न करना ही हमारा धन है, इसकारण हे शकुने ! चासर न खेलो, तुम जुएमें दूसरों को जीतनेका उद्योग न करो ॥१२॥ हे शकुने ! मैं शठता करके सुख वा धन पाना नहीं चाहता धूर्तपुरुष मकाशरूपसे सदाचरण करें तो भी उनके सदाचरणकी प्रतिष्ठा नहीं होती ॥१३॥ शकुनिने कहा, कि-हे राजन् ! धूर्तताका सहारा लेकर ही वेदपाठी वेदपाठीका सामना करता है, विद्वान् मूर्खोंका सामना करें तो इसको लोग धूर्तता नहीं कहते हैं॥१४॥ हे युधिष्ठिर ! बलवान् शस्त्रधारी दुर्बल शस्त्रहीनके ऊपर ही प्रहार करता है, ऐसी धूर्तता तो सब ही कार्यों में होती है, इसीप्रकार जो पासे फेंकनेमें चतुर होता है वह अनजानको यदि चतुराईसे जीत लेय तो उसको भी लोग धूर्तता नहीं कहते॥ १५ ॥ १६ ॥ ऐसा होतेहुए भी आप यहाँ आकर यदि मुझे पांसे डालनेमें बड़ा भारी धूर्त्त समझते हैं और यदि आपको द्यूतक्रीडा से भय लगता है तो आप जाइये न खेलिये ॥ १७॥ युधिष्ठिरने कहा कि हे राजन् ! जब कोई बुलाता है तब तो मैं लौटता ही नहीं यह तो मेरा सदा का नियम है इसके सिवाय दैव बड़ा बलवान् है और

आहूतो न निवर्त्तेयमिति मे व्रतमाहितम् । विधिश्च बलवान राजन् दिष्टस्यास्मि वशे स्थितः ॥ १८ ॥ अस्मिन् समागमे केन देवनं मे भविष्यति । प्रतिपाणश्च कोऽन्योऽस्ति ततो द्यूतं प्रवर्त्तताम् ॥१९॥ दुर्योधन उवाच । अहं दातास्मि रत्नानां धनानां च विशाम्पते । मदर्थे देविता चायं शकुनिर्मातुलो मम ॥ २० ॥ युधिष्ठिर उवाच । अन्येनान्यस्य वै द्यूतं विषमं प्रतिभाति मे । एतद्विद्वन्नुपादत्स्व काममेवं प्रवर्त्तताम् ॥ २१ ॥ वैशम्पायन उवाच । उपोह्यमाने द्यूते तु राजानः सर्व एव ते । धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विविशुस्तां सभां ततः ॥ २२ ॥ भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव विदुरश्च महामतिः । नातिप्रीतेन मनसा तेऽन्ववर्त्तन्त भारत ॥ २३ ॥ ते द्वन्द्वशः पृथक् चैव सिंहग्रीवा महौजसः । सिंहासनानि भूरीणि विचित्राणि च भेजिरे २४ शुशुभे सा सभा राजन् राजभिस्तैः समागतैः । देवैरिव महाभागैः

मैं भी उस दैवके वशमें होकर यहाँ आया हूं ॥ १८ ॥ इस लिये बताइये इकट्ठे हुए लोगोंमेंसे किसके साथ मुझे खेलना होगा और दाँव लगाने वाला दूसरा कौन है ? यदि कोई तयार हो तो द्यूतका आरंभ किया जाय ॥ १९ ॥ दुर्योधन बोल उठा, कि-हे राजन् दांवके लिये धन और रत्न मैं दूंगा और मेरी ओरसे यह मेरे मामा शकुनि खेलेंगे ॥ २० ॥ यह सुनकर युधिष्ठिरने कहा कि-हे विद्वन् ! एक की ओरसे दूसरा खेले इसको मैं ठीक नहीं समझता और यदि तुम चाहते हो तो अच्छा आरंभ करो ॥ २१ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि-हे जनमेजय ! जब द्यूतक्रीडाका आरंभ होनेको हुआ उस समय वह सब राजे धृतराष्ट्र को आगे करके तहां आबैठे॥२२॥ हे महाराज उनके साथ२ भीष्म द्रोण, कृपाचार्य और परम बुद्धिमान विदुरजी मनमें खिन्न होते हुए आबैठे ॥ २३ ॥ वह तेजस्वी राजे दोर२ होकर और अलग २ भी सिंह की समान ऊपरको मुख उठाये हुए अनेकों चित्र विचित्र सिंहासनों पर बैठगये ॥२४॥ हे महाराज ! उन आयेहुए राजाओं

समवेतैस्त्रिविष्टपम् ॥ २५ ॥ सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे भास्वरमूर्त्तयः । प्रावर्त्तत महाराज सुहृद्द्यूतमनन्तरम् ॥ २६ ॥ युधिष्ठिर उवाच । अयं बहुधनो राजन् सागरावर्त्तसम्भवः । मणिर्हारोत्तरः श्रीमान् कनकोत्तमभूषणः ॥ २७ ॥ एतद्राजन् मम धनं प्रतिपाणोऽस्ति कस्तव । येन मां त्वं महाराज धनेन प्रतिदीव्यसे ॥ २८ ॥ दुर्योधन उवाच । सन्ति मे मणयश्चैव धनानि सुबहूनि च । मत्सरश्च न मेऽर्थेषु जयस्वैनं दुरोदरम् ॥ २९ ॥ वैशम्पायन उवाच । ततो जग्राह शकुनिस्तानक्षानक्षतत्त्ववित् । जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ३० ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्यूतारम्भ एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

से उस सभा की ऐसी शोभा हुई जैसे महाभाग देवताओंके इकट्ठे होनेपर स्वर्ग की शोभा होती है॥ २५ ॥ वह सब ही शूर राजे वेदवेत्ता थे और सब हीके शरीर तेजसे प्रज्वलित होरहे थे, जब सब आकर बैठगये तब मित्रद्यूतका आरंभ हुआ ॥ २६ ॥ युधिष्ठिरने दुर्योधनसे कहा, कि— हे राजन्! मैं महामूल्य, सागरावर्त्तमें उत्पन्न हुए सुवर्णके सब आभूषणोंमें श्रेष्ठ, परमसुन्दर मणिमय हारका दांव लगाता हूं॥२७॥ हे राजन्! मैंने तो यह धन लगाया अब जिस धनको दांवपर लगाकर आप मेरे साथ खेलते हैं वह आपके दांवका क्या धन है ॥ २८॥ यह सुनकर दुर्योधनने कहा, कि,मेरे पास बहुतसी मणियें और धन हैं परन्तु उनके नाम गिनाकर मैं अहङ्कार नहीं दिखाना चाहता, और इस दांवको जीतिये ॥ २९ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं कि इसप्रकार दाँव लगजाने पर फासोंके तत्त्वको जाननेवाले शकुनि ने फाँसे हाथमें लिये और यह बोला कि–लो मैं यह जीता, सो फाँसे डालते ही उसकी विजय हुई ॥ ३० ॥ एकोनषष्टितम अध्याय समाप्त ॥५९॥

युधिष्ठिर उवाच । त्वत्तः कैतवकेनैव यज्जितोऽस्मि दुरोदरे । शकुने हन्त दीव्यामो ग्लहमानाः परस्परम् ॥ १ ॥ सन्ति निष्कसहस्रस्य भाण्डिन्यो भरिताः शुभाः । कोशो हिरण्यमक्षय्यं जातरूपमनेकश. । एतद्राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २ ॥ वैशम्पायन उवाच । कौरवाणां कुलकरं ज्येष्ठं पाण्डवमच्युतम् । इत्युक्तः शकुनिः प्राह जितमित्येव तं नृपम् ॥३॥ युधिष्ठिर उवाच । अयं सहस्रसमितो वैयाघ्रः सुप्रतिष्ठितः । सुचक्रोपस्करः श्रीमान् किङ्किणीजालमण्डितः ॥ ४ ॥ संह्लादनो राजरथो य इहास्मानुपावहत् । जैत्रो रथवरः पुण्यो मेघसागरनिस्वनः ॥ ५ ॥ अष्टौ यं कुरुरच्छायाः सदश्वा राष्ट्रसम्मताः। वहन्ति नैषान् मुच्येत पदाद्भूमिमुपस्पृशन् । एतद्राजन् धनं मह्यं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ६ ॥ वैश-

युधिष्ठिरने कहा, कि–हे शकुने ! तुमने केवल खेलकी चालाकी से मुझे इस दांवमें जीतलिया, आओ अब परस्पर और दांव लगाकर खेलें ॥ १ ॥ मेरी एक लाख आठ सहस्र मुहरोंकी भरी सुंदर कुंडेली अक्षय धनभण्डार और बहुतसे सोनेका ढेर है, मैं उसको ही दांव पर लगाकर तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥ २ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–तब तो कौरवकुलका यश बढ़ानेवाले पांडवोंके बड़े भाई राजा युधिष्ठिरसे शकुनिने, मैंने, इसको भी जीतलिया, ऐसा कहकर फांसे फेंके और उसकी ही जीत हुई ॥ ३ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि–हे राजन् ! जिस रथमें बैठकर हम यहां आये हैं, जो अकेला ही सहस्रों रथोंकी समता करता है, जिसपर सिंहकी चर्म मँढी है जो परम प्रसिद्ध है, जिसके पहिये आदि सामग्री बड़ी रमणीय है, जिसमें घंटियोंके जाल लगे हैं, जिसकी झनकार मेघ और समुद्रके गर्जनेकी समान है, जो अनेकों रथोंमें मुख्य है, जिस पर बैठने वालेकी विजय ही होती है, कमलकी समान कांति वाले राज्यभरमें प्रसिद्ध आठ घोड़े जिसमें जुतते हैं ऐसा यह सुंदर रथ मेरा धन है, मैं इसीका दांव लगाकर तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥४–६॥ वैशम्पायन कहते

म्पायन उवाच । एवं श्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः । जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ७ ॥ युधिष्ठिर उवाच । शतं दासीसहस्राणि तरुण्यो हेमभद्रिकाः । कम्बुकेयूरधारिण्यो निष्ककण्ठ्यः स्वलंकृताः ॥ ८ ॥ महार्हमाल्याभरणाः सुवस्त्राश्चन्दनोक्षिताः । मणीन् हेम च बिभ्रत्यश्चतुःषष्टिविशारदाः ॥ ९ ॥ अनुसेवाश्चरन्तीमाः कुशला नृत्यसामसु । स्नातकानाममात्यानां राज्ञाश्च मम शासनात् । एतद्राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥१०॥ वैशम्पायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः । जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ११ ॥ युधिष्ठिर उवाच । एतावन्ति च दासानां सहस्राण्युत सन्ति मे। प्रदक्षिणानुलोमाश्च प्रावारवसनाः सदा ॥ १२ ॥ प्राज्ञा मेधाविनो दान्ता युवानो मृष्ट-

---

हैं, हे महाराज ! यह सुनकर शकुनि सम्हला और लो यह जीत लिया, ऐसा कहकर छलसे फांसे डाले, कि–उसकी जीत होगयी ॥ ७ ॥ फिर युधिष्ठिरने कहा, कि–मेरी एक सौ सहस्र नवयुवती दासियें हैं, सुवर्णकी हमेलें, शंखाकार बाजूबन्द और कण्ठकी मालायें आदि अनेकों बहुमूल्य आभूषण और सुन्दर वस्त्र धारण किये, चन्दनसे चर्चित, और सुवर्णमें जड़ी मणियोंको पहिरेहुए, नाच गान आदि चौंसठ कलाओंमें प्रवीण हैं और मेरी आज्ञासे देवताओंकी समान ब्रह्मचारियोंकी और राजाओंकी उचित सेवा करती है, हे राजन् ! यह जो दासीरूप मेरा धन है इसको ही दाँवमें लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलताहूं ॥८–१०॥ वैशम्पायन कहते हैं कि–हे महाराज ! यह सुनते ही शकुनि सम्हला और लो यह भी जीतलिया, ऐसा युधिष्ठिरसे कहकर छलसे फाँसे डाले, कि–उसकी जीत होगई ॥ ११ ॥ तब युधिष्ठिरने कहा, कि- इतने ही सहस्र मेरे दास भी हैं जो सदा बहुमूल्य वस्त्र धारण करे मेरे दायें बायें रहते हैं॥१२॥जो चतुर अभिप्रायको समझनेवाले, जितेन्द्रिय, युवा, सुन्दर कुण्डल पहिरे रहते

कुण्डलाः । पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन् भोजयन्त्युत । एतद्राजन मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया॥१३॥वैशम्पायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः । जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १४ ॥ युधिष्ठिर उवाच । सहस्रसंख्या नागा मे मत्तास्तिष्ठन्ति सौबल । हेमकक्षाः कृतापीडाः पद्मिनो हेममालिनः १५ सुदान्ता राजवहनाः सर्वशब्दक्षमा युधि । ईषादन्ता महाकायाः सर्वे चाष्टकरेणवः ॥ १६ ॥ सर्वे च पुरभेत्तारो नवमेघनिभा गजाः । एतद्राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १७ ॥ वैशंपायन उवाच । इत्येवं वादिनं पार्थं प्रहसन्निव सौबलः । जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १८ ॥ युधिष्ठिर उवाच । रथास्तावन्त एवेमे हेमदण्डाः पताकिनः । हयैर्विनीतैः सम्पन्ना

हैं और रात दिन हाथोंमें पात्र लिये अतिथियोंको भोजन कराते हैं इस अपने धनको ही दांवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥ १३ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि- हे महाराज ! यह सुनते ही शकुनि सम्हला और लो यह भी जीतलिया, ऐसा कहकर छलसे फासे डालते ही उसकी जीत होगई ॥ १४ ॥ तब युधिष्ठिरने कहा, कि-हेसुबलनंदन ! मेरे सहस्र मत्त मतङ्ग हैं जो सुनहरी रस्से, फूल और मालाओं को धारण किये हैं ॥ १५ ॥ सब यह ही भले प्रकार शिक्षा पायेहुए,राजाओंकी सवारीके योग्य युद्धमें सब प्रकारके शब्दोंके सहनेवाले, हलके अग्रभागकी समान दांतोंवाले और बड़े २ शरीरके हैं हरएक के साथ आठ २ हथनी हैं ॥ १६ ॥ यह सब ही नगरके द्वारोंको तोड़नेवाले और नवीन घनघटाकी समान हैं मैं अपने इस धनको ही दांव पर लगाकर तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥ १७ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि- हे महाराज ! युधिष्ठिरके इतना कहते ही शकुनि मुसकुराया और लो यह भी जीतलिया, ऐसा कहकर छलसे फाँसे डालते ही उसकी जीत होगई ॥ १८ ॥ तब युधिष्ठिरने कहा, कि--यह

रथिभिश्चित्रयोधिभिः ॥ १९ ॥ एकैको ह्यत्र लभते सहस्रपरमां भृतिम् । युध्यतोऽयुध्यतो वापि वेतनं मासकालिकम् । एतद्राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २० ॥ वैशंपायन उवाच । इत्येवमुक्ते वचने कृतवैरो दुरात्मवान् । जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २१ ॥ युधिष्ठिर उवाच । अश्वांस्तित्तिरिकल्माषान् गान्धर्वान् हेममालिनः । ददौ चित्ररथस्तुष्टो यांस्तान् गाण्डीवधन्वने ॥ २२॥ युद्धे जितः पराभूतः प्रीतिपूर्वमरिन्दमः । एतद्राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २३ ॥ वैशंपायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः । जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥२४॥ युधिष्ठिर उवाच । रथानां शकटानां च श्रेष्ठानां चायुतानि मे । युक्तान्येव हि तिष्ठन्ति वाहैरुच्चावचैस्तथा ॥२५॥

मेरे उतने ही रथ हैं, यह सब सोनेके दण्डे, पताका, सुशिक्षित घोड़े और विचित्र युद्ध करने वाले योधाओंसे युक्त हैं ॥ १९ ॥ इन योधाओंमें हरएक रथी युद्ध करै चाहे न करैं सहस्र रुपये मासिक का वेतन पाता है, मैं अपने इस धनको ही दांवपर लगा कर तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥ २० ॥ वैशम्पायन कहते है, कि–हे महाराज! युधिष्ठिरके इतनी बात कहते ही वैरभाव रखनेवाले दुष्टात्मा शकुनिने, लो यह भी जीतलिया, ऐसा कहकर छलसे फांसे डाले, कि—उसको जीत होगई ॥ २१ ॥ तब युधिष्ठिरने कहा, कि––युद्धमें तिरस्कार पाकर गन्धर्वराज चित्ररथने प्रसन्न हो गांडीव धनुषधारी अर्जुनको प्रीतिके साथ जो सुवर्णकी मालाए पहरे तीतरकी समान वर्णके गन्धर्वदेशी घोड़े दिये थे हे राजन्! मैं अपने उस धनको ही दांवपर लगाकर तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥ २२—२३ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—इतना सुनते ही शकुनि सम्हला और लो यह भी जीत लिये, ऐसा कहकर छलसे फांसे डालते ही उसकी जीत होगई ॥ २४ ॥ तब युधिष्ठिरने कहा, कि—मेरे दश सहस्र रथ और गाड़ी हैं, जो अनेकों

एक वर्णस्य वर्णस्य समुच्चीय सहस्रशः । तथा समुदिता वीराः सर्वे वीरपराक्रमाः ॥२६॥ क्षीरं पिबन्तस्तिष्ठन्ति भुञ्जानाः शालितण्डुलान् । षष्टिस्तानिसहस्राणि सर्वे विपुलवक्षसः । एतद्राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २७ ॥ वैशंपायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः । जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २८ ॥युधिष्ठिर उवाच । ताम्रलोहैः परिवृता निधयो ये चतुः शताः । पंचद्रौणिक एकैकः सुवर्णस्याहतस्य वै ॥ २९ ॥ जातरूपस्य मुख्यस्य अनर्घेयस्य भारत । एतद्राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥३०॥ वैशम्पायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः । जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ३१

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि देवने षष्टितमोऽध्याय ॥ ६० ॥

प्रकारके घोड़ों से जुते हुए ही खड़े रहते हैं और साठ सहस्र मेरे ऐसे योधा हैं, कि—उनमें एक सहस्र एक २ वर्णके हैं वह सब ही वीर और पराक्रमी हैं, वह चौड़ी छातीवाले, सब ही दूध पीते हैं और उत्तम चांवलोंका भात खाते हैं, हे राजन् ! मैं अपने इस धनको दांव लगाकर तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥ २५—२७ ॥ वैशंपायन कहते हैं, कि—यह सुन कर शकुनि सम्हला और लो यह भी जीत लिया,ऐसा कहकर छलसे फांसे डालते ही उसकी जीत होगई ॥ २८ ॥ तब युधिष्ठिरने कहा, कि—मेरे पास तांबे और लोहेके संदूकोंमें बंद चार सौ धनभण्डार हैं जिनमेंसे हरएक में पांच २ द्रोण परमोत्तम बहुमूल्य सोना भरा है, मैं अपने इस धनको भी दांव पर लगाकर तुम्हारे साथ खेलता हूं॥२९-३०॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे महाराज जनमेजय ! इतना सुनते ही शकुनि सम्हला और लो यह भी जीत लिया, ऐसा कहकर फांसे डालते ही उसकी जीत होगई ॥ ३१ ॥ षष्टितम अध्याय समाप्त ॥ ६० ॥ छ ॥ छ ॥ छ

वैशंपायन उवाच । एवं प्रवर्त्तिते द्यूते घोरे सर्वापहारिणि । सर्वसंशयनिर्मोक्ता विदुरो वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥ विदुर उवाच । महाराज विजानीहि यत्त्वां वक्ष्यामि भारत ॥ मुमूर्षोरौषधमिव न रोचेतापि ते श्रुतम् ॥ २ ॥ यद्वै पुरा जातमात्रो रुराव गोमायुवद्विस्वरं पापचेताः । दुर्योधनो भारतानां कुलघ्नः सोऽयं युक्तो भवतां कालहेतुः ॥ ३ ॥ गृहे वसन्तं गोमायुं त्वं वै मोहान्न बुध्यसे । दुर्योधनस्य रूपेण शृणु काव्यां गिरं मम ॥ ४ ॥ मधु वै माध्विको लब्ध्वा प्रपातन्नैव बुध्यते । आरुह्य तं मज्जति वा पतनञ्चाधिगच्छति ॥ ५ ॥ सोऽयं मत्तोऽक्षद्यूतेन मधुवन्न निरीक्षते । प्रपातं बुध्यते नैव वैरं कृत्वा महारथैः ॥ ६ ॥ विदितं मे महाप्राज्ञ

वैशम्पायनने कहा, कि—हे जनमेजय ! उस सर्वस्वको हरने वाली घोर द्यूतक्रीड़ाके इसप्रकार उत्तरोत्तर बढ़ते चले जानेपर सकल संदेहोंका समाधान करने वाले विदुरने कहा, कि—हे महाराज ! जैसे मृत्युके मुखमें फँसे हुए रोगीको कोई औषध अच्छी नहीं लगती वैसे ही जो मैं आपसे कहता हूं वह सुनने पर आप को अच्छा नहीं लगेगा, तथापि जो कुछ कहता हूं उसको ध्यान देकर सुनो ॥१-२॥ जिस पापात्माने गर्भसे बाहर भूमि पर आते ही गीदड़की समान भयानक रुदन किया था यह वही भरतकुल का नाश करने वाला दुर्योधन है, यह निःसन्देह तुम्हारे नाशका हेतु है ॥ ३ ॥ यह दुर्योधनरूपी गीदड़ तुम्हारे घरमें रहता है, परन्तु तुम मोहवश इसके स्वरूपको नहीं पहिचानते, इस विषयमें मेरी नीतिभरी बात सुनिये ॥ ४ ॥ हे महाराज ! मद्य पीनेवाला पुरुष मद्य पीकर गिर पड़ता है, इसबात की क्या उसको खबर रहती है ? परन्तु जब उसके कण्ठ पर्यन्त मद्यका नशा चढ़जाता है तब वह जलमें डूबता है या कहीं गिर पड़ता है॥५॥सो यह मद्यके नशेकी समान चौसरके जुएमें मत्त होरहा है और इसको यह ज्ञान नहीं रहा है, कि-इन महारथी पाण्डवोंसे वैर करके शीघ्र ही मेरी दुर्दशा होगी ॥ ६ ॥ हे महाप्राज्ञ ! मैं जानता हूं, कि—

भोजेष्वेवासमञ्जसम् । पुत्रं सन्त्यक्तवान् पूर्वं पौराणां हितकाम्यया ॥ ७ ॥ अन्धका यादवा भोजाः समेताः कंसमत्यजन् । नियोगात्तु हते तस्मिन् कृष्णेनामित्रघातिना ॥ ८ ॥ एवं ते ज्ञातयः सर्वे मोदमानाः शतं समाः । त्वन्नियुक्तः सव्यसाची निगृह्णातु सुयोधनम् ॥ ९ ॥ निग्रहादस्य पापस्य मोदन्तां कुरवः सुखम् । काकेनेमांश्चित्रबर्हान् शार्दूलान्क्रोष्टुकेन च । क्रीणीष्व पाण्डवान् राजन् मा मज्जीः शोकसागरे ॥ १० ॥ त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् । ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ११ ॥ सर्वज्ञः सर्वभावज्ञः सर्वशत्रुभयङ्करः । इति स्म भाषते काव्यो जम्भत्यागे महासुरान् ॥ १२ ॥ हिरण्यष्ठीविनः कांश्चित्

एक भोजवंशी राजाने पुरवासियोंके हितके लिये अपने दुष्कर्मी पुत्रको त्याग दिया था ॥७॥ देखो अंधक, यादव और भोजवंशियों ने मिलकर कंसको त्याग दिया था फिर उनकी संमतिसे कृष्णने कंसको मारडाला अब वह सब बड़े आनन्दसे समयको बिताते हैं ॥८॥ हे धृतराष्ट्र ! तुम भी अर्जुनको आज्ञा दो, कि–वह पापात्मा दुर्योधनको दण्ड देकर ठीक करै क्योंकि–इस पापात्माका निग्रह होने पर ही सब कौरव सैकड़ों वर्षतक सुखसे रहसकेंगे ॥ ९ ॥ हे राजन् ! काक समान दुर्योधनके बदले में मयूर समान पाण्डवोंको वा गीदड़की समान दुर्योधनके बदलेमें सिंहसमान पाण्डवोंको खरीदलो, तब आपको शोकसागरमें नहीं डूबना पड़ेगा ॥ १० ॥ शास्त्रमें कहा है कि—कुलकी रक्षाके लिये एक पुरुषको त्याग देय ग्रामकी रक्षाके लिये कुलको त्याग देय देशकी रक्षाके लिये ग्रामको त्यागदेय और अपनी रक्षा के लिये भूमिको त्याग देय ॥ ११ सर्वज्ञ सबका सब भाव जानने वाले और सकल शत्रुओंको भयदायक शुक्राचार्यने जम्भ नामक दैत्यका परित्याग करते समय असुरोंसे कहा था कि—॥ १२ ॥ किसी

22017

पक्षिणो वनगोचरान् । गृहे किल कृतावासान् लोभाद्राजा न्यपीडयत् । स चोपभोगलोभान्धो हिरण्यार्थी परन्तप ॥ १३ ॥ आयतिं च तदात्वञ्च उभे सद्यो व्यनाशयत् । तदर्थकामः पाण्डवान्मा द्रुहः कुरुसत्तम ॥ १४ ॥ मोहात्मा तप्स्यसे पश्चात् पक्षिहा पुरुषो यथा । जातं जातं पाण्डवेभ्यः, पुष्पमादत्स्व भारत ॥ १५ ॥ मालाकार इवारामे स्नेहं कुर्वन् पुनः पुनः । वृक्षानङ्गारकारीव मैनान् धाक्षीः समूलकान् ॥ १६ ॥ मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् । समवेतान् हि कः पार्थान् प्रतियुध्येत भारत । मरुद्भिः सहितो

वनमें कुछ पक्षी रहते थे वह सुवर्णकी बीट किया करते थे एक समय वह सब पक्षी अपने २ घोंसलोंमें बैठे हुए थे इसी अवसर में एक राजा वहां आया और उसने पहिले कभी न देखी हुई यह अद्भुत बात देख लोभके वशमें होकर एकसाथ बहुतसा सुवर्ण पानेके लिये उन निरपराध पक्षियोंको मारडाला ॥ १३ ॥ ऐसी दुर्दशामें पड़कर वह केवल उस समय ही हताश ही नहीं हुआ किन्तु उसको आगेको सुवर्ण मिलनेकी भी आशा नहीं रही तैसे तुमभी उस बड़ीभारी धनकी तृष्णामें पड़कर पाण्डवोंके साथ द्रोह मत करो ॥१४॥ नहीं तो तुमको भी उस मोहसे अन्धे होकर पक्षियोंका वध करनेवाले राजाकी समान पछताना करना पड़ेगा, हे भारत ! जैसे माली बगीचेके फूलोंके पौधोंमें पानी सींच कर उनमें जो फूल आता जाता है उसको तोड़ता रहता है तैसे ही तुम भी पाण्डवोंको प्रेमजलसे सींचते हुए उनको प्राप्त हुए धनमेंसे वार वार कुछ २ लेते रहो और जैसे अङ्गारकारी आग लगाकर वृक्षको जड़मूलसे नष्ट कर डालता है तैसे पांडवोंका सर्वनाश करने की चेष्टा मत करो ॥ १५ ॥ १६ ॥ पाण्डवोंके साथ विवाद करने से सेवक मन्त्री और पुत्रों सहित तुमको यमराजके यहां जाना पड़ेगा इसमें सन्देह नहीं है, क्योंकि—पाण्डवोंके इकट्ठे होजाने

राजन्नपि साक्षान्मरुत्पतिः ॥ १७ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरहितवाक्ये एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

विदुर उवाच । द्यूतं मूलं कलहस्याभ्युपैति मिथोभेदं महते दारुणाय । तदास्थितोऽयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रो दुर्योधनः सृजते वैरमुग्रम् ॥ १ ॥ प्रातिपेयाः शान्तनवा भैमसेनाः सबाह्लिकाः । दुर्योधनापराधेन कृच्छ्रं प्राप्स्यन्ति सर्वशः ॥ २ ॥ दुर्योधनो मदेनैव क्षेमं राष्ट्रा दपोहति । विषाणं गौरिव मदात् स्वयमारुजतेऽऽत्मनः ॥३॥ यश्चित्तमन्वेति परस्य राजन् वीरः कविः स्वामतमन्य दृष्टिम् । नावं समुद्रे इव बालनेत्रामारुह्य घोरे व्यसने निमज्जेत् ॥ ४ ॥ दुर्योधनो ग्लहते पाण्डवेन प्रीयायसे त्वं जयतीति, तच्च । अतः

पर देवताओंको साथ लिये साक्षात् स्वर्गपति इन्द्रभी उनके साथ युद्ध नहीं करसकता ॥१७॥ एकषष्टितम अध्याय समाप्त ॥६१॥

विदुरजीने कहा, कि--जुआ खेलना कलहकी मूल है, जुएसे परस्परका प्रेमभाव टूटजाता है, जुएमें बडे भयके बनाव उत्पन्न होजाते हैं, यह धृतराष्ट्रका पुत्र दुर्योधन उसही जुएको खेलकर घोर वैरभावको रच रहा है ॥ १ ॥ दुर्योधनके अपराधसे प्रतीप, शान्तनु, बाह्लीकवंशी और भीमवंशी सब ही राजे दुःख पावेंगे ॥ २ ॥ जैसे बैल मत्त होकर अपने सींगोंसे अपनेको ही घायल करलेता है तैसे ही दुर्योधन भी मतवाला होकर अपने कल्याणको मानो अपने राज्यमेंसे ही निकाले देता है ॥ ३ ॥ जैसे बालक मल्लाहकी चलाई हुई नौकामें बैठ कर पुरुष बड़े दुःख भोगता है और डूब जाता है, तैसे ही जो पुरुष दूसरेकी इच्छाके वशमें हो कर चलता है वह वीर और चतुर होकर भी बड़ा दुःख भोगता है ॥४॥ दुर्योधन युधिष्ठिरके साथ दांव लगाकर जुआ खेलरहा है और जीतरहा है यह देखकर तुम प्रसन्न होते हो, परन्तु इसीके कारणसे शीघ्र ही युद्धका आरंभ होगा, जिसमें अनेकों मनुष्यों

समुन्मज्जति सम्प्रहारो यतो विनाशः समुपैति पुंसाम् ॥ ५ ॥ आकर्षस्तेऽवाक्फलः सुप्रणीतो हृदि प्रौढो मन्त्रपदः समाधिः । युधिष्ठिरेण कलहस्तवायमचिन्तितोऽभिमतः स्वबन्धुना ॥ ६ ॥ प्रातिपेयाः शान्तनवाः शृणुध्वं काव्यां वाचं संसदि कौरवाणाम् । वैश्वानरं प्रज्वलितं सुघोरं मा यास्यध्वं मन्दमनुप्रपन्नाः ॥ ७ ॥ यदा मन्युं पाण्डवोऽजातशत्रुर्न संयच्छेदक्षमदाभिभूतः । वृकोदरः सव्यसाची यमौ च कोऽत्र द्वीपः स्यात्तुमुले वस्तदानीम् ॥८॥ महाराज प्रभवस्त्वं धनानां पुरा द्यूतान् मनसा यावदिच्छेः । बहुवित्तान् पांडवांश्चेज्जयेस्त्वं किन्ते तत् स्याद्वसुविन्दे ह पार्थान् ॥ ९ ॥ जानीमहे देवितं सौबलस्य वेद द्यूते निकृतिं पार्वतीयः । यतः प्राप्तः

का नाश हुआ करता है ॥ ५ ॥ आप केवल बातोंमेंही मुझसे प्रतिकूलता दिखाते हैं, परन्तु अन्तःकरणमें आप संमतिके निश्चय को छुपाए हुए हैं, सार यह है कि-परमबन्धु युधिष्ठिरके साथ विरोध करना आपको अभिमत है इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥६॥ हे प्रतीपवंशी और हे शन्तनुवंशियो ! तुम इस सभामें कौरवोंके व्यंग वचन सुनो परन्तु इस अज्ञानीके अनुयायी बनकर बलती हुई भयानक आगमें न गिरो ॥७॥ देखो जब यह अजातशत्रु युधिष्ठिर भीम, अर्जुन और नकुल सहदेव जुएके मदमें मतवाले होकर अपने क्रोधको नहीं रोकसकेंगे तब घोर उपद्रव होनेके समय तुम में से कौन मध्यस्थ बन सकेगा ! ॥ ८ ॥ हे महाराज ! तुम जुआ खेलनेमे पहिले ही, बहुतेरे धनवान् थे, फिर भी तुमने मनमें जुआ खेलनेका विचार किया ! यदि तुमने अधिकधनी पाण्डवोंको जीत भी लिया तो उस से तुम्हारा क्या भला होगा ? तुमको तो पाण्डवरूप धनको अपना बनाना चाहिये ॥ ९॥ मैं इस पहाड़ी शकुनिके जुएके खेलको जानता हूं यह जुएमें छल करना ही जानता है, इस कारण यह जहां से आया है, इसको तहां ही

शकुनिरत्र यातु मा यूयुधो भारत पाण्डवेयान् ॥ १० ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुर-
वाक्ये द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

दुर्योधन उवाच । परेषामेव यशसा श्लाघसे त्वं सदा क्षत्तः कुत्सयन् धार्तराष्ट्रान् । जानीमहे विदुर यत्प्रियस्त्वं बालानिवा स्मानवमन्यसे नित्यमेव ॥१॥ स विज्ञेयः पुरुषोऽन्यत्रकामो निंदा-प्रशंसे हि तथा युनक्ति । जिह्वा कथन्ते हृदयं व्यनक्ति ज्यायोऽन्तरान् कृथा मनसः प्रातिकूल्यम् ॥२॥उत्सङ्गे च व्याल इवाहितोऽसि मार्जारवत् पोषकञ्चोपहंसि । भर्तृघ्नं त्वान्न हि पापीयमाहु-स्तस्मात् क्षत्तः किं न बिभेषि पापात् ॥ ३ ॥ जित्वा शत्रून् फलं प्राप्तं महद्वै मास्मान् क्षत्तः परुषाणीह वोचः । द्विषद्भिस्त्वं सम्प-

भेजो और आप पाण्डवोंके साथ युद्ध मत ठानिये ॥ १० ॥
द्विषष्टितम अध्याय समाप्त ॥ ६२ ॥　　*　　॥　.　*

यह सुनकर दुर्योधनने कहा, कि-हे क्षत्तः! तुम नित्य ही शत्रुओंकी प्रशंसा करते हो और धृतराष्ट्रकुमारोंकी निन्दा किया करते हो,हम जानते हैं तुम जिनसे प्रेम करते हो,हे विदुर ! उनके लिये तुम सदा ही हमारा बालकोंकी समान अपमान किया करते हो ॥१॥जो अपने स्वामीकी निन्दा और दूसरोंकी प्रशंसा करता है उसको समझ लेय कि-यह स्वामिभक्त नहीं है, दूसरोंका प्रेमी है तुम्हारी जिह्वा ही तुम्हारे मन और हृदयके भावको प्रकट कर रही है, कि-तुम भीतरी मनसे हमारे बड़े ही प्रतिकूल हो ॥ २ ॥ तुम हमारे लिये गोदमें बैठे सर्पकी समान हो, और बिलावकी समान पालनेवालेका ही गला काटनेको उद्यत होरहे हो, हे विदुर ! देखो स्वामिहत्यारेसे बढ़कर और कोई पापी नहीं होता, फिर तुम उस पापसे क्यों नहीं डरते ! ॥ ३ ॥ हमने शत्रुओंको जीतकर बड़ा फल पाया है, हे क्षत्तः ! इस विषय में आप हमें कठोर वचन न कहें, आप सदा हमारे शत्रुओंसे मिलनेमें ही प्रसन्न रहते हैं

योगाभिनन्दी सुहृद्वेषं यासि नः सम्प्रयोगात् ॥ ४ ॥ अमित्रतां याति नरोऽक्षमं ब्रुवन्निगूहते गुह्यममित्रसंस्तवे । तदाश्रितोऽपत्रप किंतु बाधसे यदिच्छसि त्वं तदिहाभिभाषसे ॥ ५ ॥ मानोऽवमंस्था विद्म मनस्तवेदं शिक्षस्व बुद्धिं स्थविराणां सकाशात् । यशो रक्षस्व विदुर सम्प्रणीतं माव्यापृतः परकार्येषु भूस्त्वम् ॥ ६ ॥ अहं कर्त्तेति विदुर मावमंस्था मा नो नित्यं परुषाणीह वोचः । न त्वां पृच्छामि विदुर यद्धितं मे स्वस्ति क्षत्तर्मा तितीक्षून् क्षिणु त्वम् ॥७॥ एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता गर्भे शयानं पुरुषं शास्ति शास्ता । तेनानुशिष्टः प्रवणादिवाम्भो यथा नियुक्तोऽस्मि तथा भवामि ॥ भिनत्ति शिरसा शैलमहिं भोजयते च यः । धीरेव कुरुते तस्य कार्या-

और हमारे कार्योंमें बार २ द्वेषभाव दिखाते हैं ॥ ४ ॥ मनुष्य असह्य बात कहकर भी शत्रुता करलेते हैं, देखो छुपनेका बातको शत्रुसे छुपाये रखना ही ठीक होता है और तुम शत्रुकी मशंसा करते हुए हमारी गुप्त बातको प्रकाशित करदेते हो, अतएव हे निर्लज्ज ! तुम हमारे आश्रित होकर भी हमारे विरुद्ध काम करते हो और जो मनमें आता है सो कह रहे हो ॥ ५ ॥ तुम चाहे सो कहते रहो परन्तु हमारा अपमान मत करो, हम तुम्हारे मनकी बात जानते हैं, अभी तुम वृद्धपुरुषोंसे बुद्धि सीखो, तुम अपनी मतिष्ठा को बनाये रक्खो दूसरोंके काममें हस्तक्षेप न करो ॥ ६ ॥ हे विदुर ! मैं चाहे सो करसकता हूं. ऐसा समझकर हमारा अपमान न करो और निरन्तर हमको कठोर वचन भी मत कहो, मैं आपसे यह नहीं बूझता हूं कि-मेरा हित क्या करनेमें है ! हे विदुर ! हम तुम्हारी बहुत बात सह रहे हैं, अब तुम हमारा मन मत दुखाओ ७ इस जगत्भरका शासन करनेवाला एक ही है, दूसरा नहीं है, वह शास्ता माताके गर्भमें सोते हुए बालकका भी शासन करता है, जैसे जल नीचे स्थानमेंको दौड़ता है वैसे ही मैं भी उस शास्ता के शासनके अनुसार ही काम करता हूं ॥८॥ जो अपने मस्तक

णामनुशासनम् ॥ ६ ॥ यो बलादनुशास्तीह सोऽमित्रं तेन विन्दति । मित्रतामनुवृत्तन्तु समुपेक्षेत पण्डितः ॥ १० ॥ प्रदीप्य यः प्रदीप्ताग्निं प्राक्चिरं नाभिधावति । भस्मापि न स विन्देत शिष्टं क्वचन भारत ॥ ११ ॥ न वासयेत् पारवर्ग्यं द्विषन्तं विशेषतः क्षत्तः अहितं मनुष्यम् । स यत्रेच्छसि विदुर तत्र गच्छ सुसान्त्वितापि ह्यसती स्त्री जहाति ॥ १२ ॥ विदुर उवाच । एतावता पुरुषं ये त्यजन्ति तेषां सख्यमन्तवद् ब्रूहि राजन् । राज्ञां हि चित्तानि परिप्लुतानि सान्त्वं दत्त्वा मुसलैर्घातयंति ॥ १३ ॥ अबाल त्वं मन्यसे राजपुत्र बालोऽहमित्येव सुमन्दबुद्धे । यः सौहृदे पुरुषं स्थापयित्वा पश्चादेनं

से पहाड़को तोड़ देता है और जो सर्पोंको भोजन देता है उसकी बुद्धि ही सब कामोंमें प्रेरणा करती है ॥ ६ ॥ और जो पुरुष बलात्कारसे दूसरेका अनुशासन करता है वह उसको अपना शत्रु बना लेता है, इसलिये जो मित्रता रखना चाहे वह किसीके काममें हस्तक्षेप न करे ॥ १० ॥ जो पुरुष जलती हुई अग्निको उत्तेजित करके भी उसके समीपसे नहीं भागता है उसका ऐसा सर्वनाश होजाता है, कि—कहीं उसकी राख भी ढूंढी नहीं मिलती ॥११॥ हे क्षत्तः ! शत्रुका पक्ष करनेवालेको और विशेष कर अहितकार पुरुषको अपने पास न बसावें, इसकारण हे विदुर ! अब तुम जहां जाना चाहो तहां चले जाओ, देखो कुलटा स्त्रीको चाहे जितना समझाओ वह अपने पतिको छोड़कर चलीजाती है ॥ १२ ॥ यह सुनकर विदुरजीने कहा, कि—इसप्रकारके बहुत थोड़े से कारण वश जो अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषको त्याग देते हैं, उन की मित्रता कभी चिरकाल रह ही नहीं सकती, राजाओंके चित्त थोड़ी सी बातमें ही बिगड़ जाते हैं वह पहिले बड़ी मीठी बातें करते हैं और पीछे मूसलोंसे कुटवाते हैं ॥ १३ ॥ हे मन्दमते राजकुमार ! तू अपनेको चतुर और मुझे मूर्ख समझता है, परन्तु विचार करके देख जो पहिले किसीके साथ मित्रता करके फिर

दूषयते स बालः ॥१४॥ न श्रेयसे नीयते मन्दबुद्धिः स्त्री श्रोत्रियस्येव गृहे प्रदुष्टा । ध्रुवं न रोचेद्भरतर्षभस्य पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः ॥ १५ ॥ अतः प्रियञ्चेदनुकाङ्क्षसे त्वं सर्वेषु कार्येषु हिताहितेषु । स्त्रियश्च राजन् जडपंगुकांश्च पृच्छ त्वं वै तादृशांश्चैव सर्वान् ॥ १६ ॥ लभ्यते खलु पापीयान्नरः सुप्रियवागिह । अप्रियस्य हि पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १७॥ यस्तु धर्मपरश्च स्याद्धित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये । अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥ १८ ॥ अव्याधिजं कटुकं तीक्ष्णमुष्णं यशोमुषं परुषं पूतिगन्धि । सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥१९ ॥ वैचित्रवीर्यस्य यशो धनञ्च वाञ्छाम्यहं सह पुत्रस्य शश्वत् । यथा तथा तेऽस्तु नमश्च तेऽस्तु ममापि च स्वस्ति दिशन्तु

उसमें दोष लगाता है वही मूर्ख है ॥१४ ॥ मन्दबुद्धि पुरुष वेदपाठीके घरमें स्थित व्यभिचारिणी स्त्रीकी समान कभी मङ्गलकारी नहीं होता, जैसी कुमारी स्त्री साठ वर्षके बूढ़े पतिकी बातकी उपेक्षा करती है तैसे ही तू मेरी बातको नहीं मानता है ॥ १५ ॥ हे राजन् ! यदि तू हित अहित सब ही कार्योंमें प्रिय वचन सुनना चाहता है तो स्त्री जड़ और पंगुओंसे संमतिकी बात बूझा कर ॥ १६ ॥ इस भूमण्डलपर मीठी बात कहनेवाले बहुतसे पापात्मा मिलजाते हैं परन्तु सुननेमें अच्छी न लगनेवाली हितकारी बात का कहने वाला और सुननेवाला दोनों ही दुर्लभ हैं ॥ १७ ॥ जो धर्मात्मा पुरुष प्रिय वा अप्रियकी ओर दृष्टि न देकर अप्रिय और हितकारी बातें कहता है वह ही राजाका सच्चा सहायक है ॥ १८ ॥ हे महाराज ! विना रोगके उत्पन्न हुए तीक्ष्ण, उष्ण, कीर्त्तिनाशक, कठोर, दुर्गन्धित और जिसको सज्जन पीसकते हैं दुर्जन नहीं पीसकते उस क्रोधको पीजाओ और शान्तिके साथ बैठो ॥ १९ ॥ मैं केवल धृतराष्ट्र और उनके पुत्रोंके धन और यश को बढ़ानेकी इच्छामें तुमको बराबर सदुपदेश देता रहता हूं, अब

विप्राः ॥ २० ॥ आशीविषान्नेत्रविषान् कोपयेन्न च पण्डितः ।
एवं तेऽहं वदामीदं प्रयतः कुरुनन्दन ॥ २१ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

शकुनिरुवाच । बहु वित्तं पराजैषीः पाण्डवानां युधिष्ठिर ।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम् ॥ १ ॥ युधिष्ठिर
उवाच । मम वित्तमसंख्येयं यदहं वेद सौबल । अथ त्वं शकुने
कस्माद्वित्तं समनुपृच्छसि ॥ २ ॥ अयुतं प्रयुतञ्चैव शंकुं पद्मं तथा-
र्बुदम् । खर्वं शंखं निखर्वं च महापद्मं च कोटयः ॥३॥ मध्यञ्चैव
परार्द्धञ्च अपरं चात्र पण्यताम् । एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्या-
म्यहं त्वया ॥ ४ ॥ वैशम्पायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो
निकृतिं समुपाश्रितः । जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥५॥

तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो, मैं तो तुम्हें नमस्कार करता हूं, ब्राह्मण मेरा मङ्गल करें ॥२०॥ परन्तु हे कुरुनन्दन ! विचारवान् पुरुष नेत्रोंमें विषभरे पुरुषोंको तथा सर्पोंको कुपित नहीं करते हैं, इसी कारण मैंने पवित्र अन्तःकरणसे इतनी बात तुमसे कही है २१

त्रिषष्टितम अध्याय समाप्त ॥ ६३ ॥ छ ॥ छ

इसप्रकार कहकर विदुरजीके मौन होजानेपर, शकुनिने कहा कि—हे कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! तुम जुएमें पाण्डवोंका बहुतसा धन हार गए, अब यदि आपके पास न हारा हुआ कुछ और धन होतो कहिये ॥ १ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि—हे शकुने ! मेरा जो कुछ असङ्ख्यों धन है, उसको मैं जानता हूं, उसका वृत्तांत बूझने वाले तुम कौन ? ॥ २ ॥ अयुत, प्रयुत, पद्म, खर्व, अर्बुद, शङ्ख, महापद्म, निखर्व, कोटि, मध्य और परार्द्ध तथा इससे भी अधिक धनभण्डार मेरे पास हैं, उसका ही दांव लगाकर हे राजन् ! मैं तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥ ३-४ ॥ वैशंपायन कहते हैं, कि–यह सुनते ही शकुनि सावधान हुआ और लो इसको भी जीतलिया ऐसा कहकर छलसे फांसे फेंके, कि—उसकी जीत होगई ॥५॥

युधिष्ठिर उवाच । गवाश्वं बहुधेनूकमसंख्येयमजाविकम् । यत् किंचिदनुपर्णाशां प्राक् सिन्धोरपि सौबल । एतन्मम धनं सर्वं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ६ ॥ वैशम्पायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः । जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ७ युधिष्ठिर उवाच । पुरं जनपदा भूमिरब्राह्मणधनैः सह । अब्राह्मणाश्च पुरुषा राजन् शिष्टं धनं मम । एतद्राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ८ ॥ वैशम्पायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः । जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ९ ॥ युधिष्ठिर उवाच । राजपुत्रा इमे राजन् शोभन्ते यैर्विभूषिताः । कुण्डलानि च निष्काश्च सर्वं राजविभूषणम् । एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १० ॥ वैशम्पायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो

तब युधिष्ठिरने कहा, कि—हे शकुने ! बहुतसे बैल घोड़े, गौएं, बकरे मेंढे सिन्धनदीके पूर्वमें पर्णाशा नदीके समीप रहते हैं, अपने इस सब धनको मैं दांव पर लगाकर तुम्हारे साथ खेलता हूं ६ वैशम्पायन कहते हैं, कि—यह सुनकर शकुनि सम्हला और लो यह भी जीत लिया, ऐसा कहकर छलसे फांसे डालते ही उसकी जीत होगई ॥ ७ ॥ तब युधिष्ठिरने कहा, कि—हे शकुने ! नगर, देश, भूमि, ब्राह्मणोंको छोड़कर और सब प्रजाका धन तथा ब्राह्मणोंको छोड़कर और सब पुरुष, यह मेरा बचा हुआ धन है, इसको ही दांव पर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूं८ वैशम्पायन कहते हैं, कि—यह सुनते ही शकुनि सम्हला और लो यह भी जीतलिया, ऐसा कहकर फांसे डाले, कि—उसकी जीत हुई ॥९॥ तब युधिष्ठिरने कहा, कि—हे राजन् ! यह राजकुमार जिनको पहिर कर बड़ी शोभा पारहे हैं वह कुण्डल कण्ठे आदि सकल राजकीय आभूषण मेरा धन है इसको ही दांवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥ १० ॥ यह सुनकर शकुनि सम्हला और लो यह भी जीतलिया, ऐसा कहकर फांसेडाले,

निकृतिं समुपाश्रितः । जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥११॥ युधिष्ठिर उवाच । श्यामो युवा लोहिताक्षः सिंहस्कन्धो महाभुजः । नकुलो ग्लह एवैको विद्ध्येतन्मम तद्धनम् ॥ १२ ॥ शकुनिरुवाच प्रियस्ते नकुलो राजन् राजपुत्रो युधिष्ठिर । अस्माकं वशतां प्राप्तो भूयः केनेह दीव्यसे ॥ १३ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्त्वा तु तानक्षान् शकुनिः प्रत्यपद्यत । जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १४ ॥ युधिष्ठिर उवाच । अयं धर्मान् सहदेवोऽनुशास्ति लोके ह्यस्मिन् पण्डिताख्यां गतश्च । अनर्हता राजपुत्रेण तेन दीव्याम्यहं चाप्रियवत् प्रियेण ॥१५॥ वैशम्पायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः । जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १६ ॥ शकुनिरुवाच । माद्रीपुत्रौ प्रियौ राजंस्तवेमौ

कि—उसकी जीत होगई ॥ ११ ॥ तब युधिष्ठिरने कहा, कि—श्यामवर्ण, युवा, लाल २ नेत्र और, सिंहकेसे कन्धेवाला महाबाहु मेरा भाई जो नकुल है उसको ही मेरे पणका धन समझिये १२ शकुनिने कहा, कि—यह तुम्हारा प्रिय भ्राता राजकुमार नकुल हमारे वशमें होगया, कहिये अब आप दांवपर क्या धन रखकर खेलना चाहते हैं ॥ १३ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—तदनन्तर शकुनिने फांसे फिर हाथमें लिये और लो यह जीतलिया, युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर फांसे डाले, कि—उसकी जीत होगई ॥१४॥ तब युधिष्ठिरने कहा, कि-यह सहदेव न्यायाधीशका काम करता है और इस लोकमें पण्डित नामसे प्रसिद्ध है यह मुझे बड़ा ही प्रिय है और दांव पर लगानेके योग्य नहीं है तो भी इसको दांव पर लगाकर तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥ १५ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—यह सुनकर शकुनि सम्हला और लो इसको भी जीतलिया, ऐसा कहकर छलसे फांसे डाले कि-उसकी जीत होगई ॥ १६ ॥ और फिर युधिष्ठिरसे कहनेलगा, कि-हे राजन् ! इन तुम्हारे परम प्यारे माद्रीसुतोंको मैंने जीत लिया, प्रतीत होता है, यह भीमसेन और अर्जुन तुम्हें इनसे

विजितौ मया। गरीयांसौ तु ते मन्ये भीमसेनधनञ्जयौ ॥ १७ ॥ युधिष्ठिर उवाच। अधर्मं चरसे नूनं यो नावेक्षसि वैनयम्। यो नः सुमनसां मूढ़ विभेदं कर्तुमिच्छसि ॥ १८ ॥ शकुनिरुवाच। गर्ते मत्तः प्रपतते प्रमत्तः स्थाणुमृच्छति। ज्येष्ठो राजन् वरिष्ठोऽसि नमस्ते भरतर्षभ ॥ १९ ॥ स्वप्ने तानि न पश्यंति जाग्रतो वा युधिष्ठिर। कितवा यानि दीव्यन्तः प्रलपन्त्युत्कटा इव ॥२०॥ युधिष्ठिर उवाच। यो नः सङ्ख्ये नौरिव पारनेता जेता रिपूणां राजपुत्रस्तरस्वी। अनर्हता लोकवीरेण तेन दीव्याम्यहं शकुने फाल्गुनेन ॥ २१ ॥ वैशम्पायन उवाच। एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः। जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २२ ॥ शकुनिरुवाच। अयं मया पांडवानां धनुर्द्धरः पराजितः पाण्डवः

अधिक प्यारे हैं, आप इनको दाँव पर नहीं लगासकते ॥ १७ ॥ यह सुनकर युधिष्ठिरने कहा, कि-रे नीतिको न जाननेवाले मूढ़! हमारा स्वभाव बहुत सरल है, तू हममें परस्पर भेद डलवानेकी इच्छासे बड़े ही अधर्मकी बातें बनारहा है ॥ १८ ॥ यह सुनकर शकुनि बोला कि--मतवाला पुरुष गढेमें गिरजाता है और पेड़ पर भी चढ़ बैठता है, हे धर्मराज! तुम पाण्डवोंमें ज्येष्ठ और और श्रेष्ठ हो इससे मैं आपको प्रणाम करता हूं परन्तु जुएमें हारा हुआ पुरुष भी खेलतेमें मतवालेकी समान जो प्रलाप करता है वह जागतेमें तो क्या स्वप्नमें भी किसी के देखनेमें नहीं आते ॥ १९ ॥ २० ॥ तदनन्तर युधिष्ठिरने कहा, कि-जो संग्राममें नौकाकी समान हमें पार लगाता है और शत्रुओंके ऊपर विजय पाता है ऐसा एक वीर प्रतापी राजकुमार अर्जुन यद्यपि दांवपर लगानेके योग्य नहीं है तथापि मैं उसको पण रखकर तुमसे खेलता हूं ॥ २१ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि--यह सुनकर शकुनि सम्हला और इसको भी जीत लिया, युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर छलसे फांसे डालते ही उसकी जीत होगयी ॥ २२ ॥ और युधिष्ठिरसे कहने लगा, कि-हे राजन्! मैंने इन पाण्डवोंमें प्रधान, धनुषधारी,

सव्यसाची। भीमेन राजन् दयितेन दीव्य यत् कैतवं पांडव तेऽव-
शिष्टम् ॥ २३ ॥ युधिष्ठिर उवाच। यो नो नेता यो युधिनः प्रणेता
यथा वज्री दानवशत्रुरेकः। तिर्य्यक्‌प्रेक्षी सन्नतभ्रूर्महात्मा सिंहस्कंधो
यश्च सदात्यमर्षी ॥ २४ ॥ बलेन तुल्यो यस्य पुमान्न विद्यते गदा-
भृतामग्र्य इहारिमर्दनः। अनर्हता राजपुत्रेण तेन दीव्याम्यहं
भीमसेनेन राजन् ॥ २५॥ वैशम्पायन उवाच। एतच्छ्रुत्वा व्यव-
सितो निकृतिं समुपाश्रितः। जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत २६
शकुनिरुवाच। बहुवित्तं पराजैषीर्भ्रातॄंश्च सहयद्विपान्। आचक्ष्व
वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम् ॥ २७ ॥ युधिष्ठिर उवाच।
अहं विशिष्टः सर्वेषां भ्रातॄणां दयितस्तथा। कुर्य्यामहं जितः कर्म
स्वयमात्मन्युपप्लुते॥ २८॥ वैशम्पायन उवाच। एतच्छ्रुत्वा व्यव-

सव्यसाची अर्जुनको भी जीत लिया अब तुम्हारा परमप्रिय भीम
सेन बचा है उसको भी पण लगाकर खेलो॥२३॥ यह सुनकर
युधिष्ठिरने कहा, कि–हे सुबलकुमार शकुने! दानवनाशी इन्द्रकी
समान जो संग्राममें हमारा नेता है, जिसकी समान बली इस भू
मण्डल भरमें कोई नहीं है, जो महात्मा सदा परमक्रोधमें भराहुआ
सिंह की समान टेढ़ी गरदन करके भौं चढ़ाये हुए देखा करता है,
और गदायुद्धमें प्रवीण है ऐसा शत्रुनाशी राजकुमार भीमसेन
यद्यपि पणके योग्य नहीं है तो भी मैं इसको पण रखकर तुमसे
खेलता हूं॥ २४॥ २५॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–यह सुनकर
शकुनि सम्हला और इसको भी जीतलिया, युधिष्ठिरसे ऐसा कह
कर छलसे फांसे डालते ही उसने जीत हो गयी॥ २६॥ तब
फिर धर्मराजसे बोला, कि–हे कुन्तीनन्दन! तुम बहुतसा धन
और हाथी घोड़ों सहित चारों भाइयोंको भी हारचुके अब आप
के पास बिना हारा हुआ क्या धन है उसको बताइये॥२७॥ युधि-
ष्ठिरने कहा, कि–मैं सब भाइयोंमें बड़ा और सबका प्यारा हूं,
मैं अपने शरीरको ही दांवपर लगाता हूं मैं हारजाऊँगा तो
तुम्हारा काम करूँगा॥२८॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि–यह सुन

सितो निकृतिं समुपाश्रितः । जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥२९॥ शकुनिरुवाच । एतत् पापिष्ठमकरोर्यदात्मानं पराजयेः । शिष्टे सति धने राजन् पाप आत्मपराजयः ॥३०॥ वैशंपायन उवाच । एवमुक्त्वा मताक्षस्तान् ग्लहे सर्वानवस्थितान् । पराजय लोकवीरानुक्त्वा राज्ञां पृथक्पृथक् ॥ ३१ ॥ शकुनिरुवाच । अस्ति ते वै प्रिया राजन् ग्लह एकोऽपराजित । पणस्व कृष्णां पाञ्चालीं तयात्मानं पुनर्जय ॥ ३२ ॥ युधिष्ठिर उवाच । नैव ह्रस्वा न महती न कृशा नातिरोहिणी । नीलकुञ्चितकेशी च तया दीव्याम्यहं त्वया ॥ ३३ ॥ शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगन्धया । शारदोत्पलसेविन्या रूपेण श्रीसमानया ॥ ३४ ॥ तथैव स्यादानृशंस्यात्तथा स्याद्रूपसम्पदा । तथा स्याच्छीलसम्पत्त्या यामिच्छेत् पुरुषः स्त्रियम्

कर शकुनि सावधान हुआ और यह भी जीत लिया ऐसा कह कर छल से फाँसे, डालते ही उसकी जीत होगयी ॥ २९ ॥ तब धर्मराजसे बोला, कि—हे राजन् ! तुमने जो अपनेको जुएमें हार दिया वह बड़ा पापकर्म किया क्योंकि—अन्य धनके शेष होते हुए जो अपनेको पण लगाता है वह बड़ा ही पापकर्म करता है ॥ ३० ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं कि—दुष्टात्मा शकुनिने इस प्रकार कपटकी पाशक्रीड़ामें महावीर युधिष्ठिर आदि राजकुमारोंमें से एक २ करके अलग २ सब भाइयों को जीत लिया ॥ ३१ ॥ और फिर कहने लगा, कि—हे राजन् ! तुम्हारे पास एक दांव पर लगानेके लिये तुम्हारी प्रिया द्रौपदी और है, जिसको कि—तुम अभी तक नहीं हारे हो, अब तुम उस पाञ्चालकुमारी द्रौपदी को पण लगाकर अपनी जीत करलो ॥ ३२ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि-हे शकुने ! जो अधिक ठिगनी वा अधिक लम्बी नहीं है, न दुर्बल और न अधिक मोटी है, जिसका रूप लक्ष्मीकी समान है, केश लंबे नीले और घुघुराले हैं, नेत्र शरद् ऋतुके कमलकी समान शरीरमें कमलकीसी गन्ध और हाथमें हरसमय शरत्कालका कमल शोभा देता है, जो मधुर भाषीपन, सुरूप, सुशीलता, अनुकूलता

॥ ३५ ॥ सर्वैर्गुणैर्हि सम्पन्नामनुकूलां प्रियंवदाम् । यादृशीं धर्मकामार्थसिद्धिमिच्छेन्नरः स्त्रियम् ॥ ३६ ॥ चरमं संविशति या प्रथमं प्रतिबुध्यते । आगोपालाविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम् ३७ आभाति पद्मवद्वक्त्रं सस्वेदं मल्लिकेव च । वेदीमध्या दीर्घकेशी ताम्रास्या नातिलोमशा ॥ ३८ ॥ तयैवंविधया राजन् पांचाल्याहं सुमध्यया । ग्लहं दीव्यामि चार्वङ्ग्या द्रौपद्या हन्त सौबल ॥३९॥ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्ते तु वचने धर्मराजेन धीमता । धिग्धिगित्येव वृद्धानां सभ्यानां निःसृता गिरः ॥ ४० ॥ चुक्षुभे सा सभा राजन् राज्ञां संजज्ञिरे शुचः । भीष्मद्रोणकृपादीनां स्वेदश्च समजायत ॥ ४१ ॥ शिरो गृहीत्वा विदुरो गतसत्त्व इवाभवत् । आस्ते ध्यायन्नधोवक्त्रो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥४२॥ धृतराष्ट्रस्तु

प्रियवादिनी और धर्म अर्थ-कामकी सिद्धिमें सहायकर्ता, आदि पतिके अभिलषित गुणोंसे भूषित है, जो ग्वाले और भेड़ें चराने वालोंसे भी पीछे सोती है और पहिले जागती है, कौन काम होगया, कौन नहीं हुआ है इस बातका जो ध्यान रखती है, जिसका मुखकमल पसीना आनेपर मल्लिकासा मालूम होता है, जिसका पेट वेदीकी समान केश लम्बे और मुख लाल २ है तथा जिसके शरीरपर अधिक रोम नहीं है, ऐसी सर्वाङ्गसुन्दरी, कृशोदरी द्रौपदीको दांव पर लगाकर मैं तेरे साथ खेलता हूं, इस बात से मुझे कष्ट होता है ॥ ३३—३९ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि बुद्धिमान् धर्मराजके ऐसा वचन कहनेपर सभामें बैठे हुए वृद्ध पुरुष उनको वारंवार धिक्कार देने लगे ॥ ४० ॥ सकल सभामें एक साथ क्षोभ हुआ, राजे शोकसागरमें गोते खाने लगे और भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि महात्माओंके शरीरमेंसे पसीना टपकने लगा ॥ ४१ ॥ विदुरजी शिरको पकड़कर सर्पकी समान लंबी श्वासें लेतेहुए बलहीनसे हो नीचेको मुख करके चिन्ता करने लगे ॥ ४२ ॥ परन्तु धृतराष्ट्र आनन्दके प्रवाहमें मग्न हो

संहृष्टः पर्यपृच्छत् पुनः पुनः। किं जितं किं जितमिति ह्याकारं नाभ्यरक्षत ॥ ४३ ॥ जहर्ष कर्णोऽतिभृशं सह दुःशासनादिभिः इतरेषान्तु सभ्यानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥ ४४ ॥ सौबलस्त्वभिगार्ध्येव जितकाशी मदोत्कटः। जितमित्येव तानक्षान् पुनरेवान्वपद्यत ॥४५

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीपराजये चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

दुर्योधन उवाच। एहि क्षत्तर्द्रौपदीमानयस्व प्रियां भार्यां सम्मतां पाण्डवानाम्। सम्मार्जतां वेश्म परैतु शीघ्रं तत्रास्तु दासीभिरपुण्यशीला ॥ १ ॥ विदुर उवाच। दुर्विभावितं त्वादृशेन न मन्द सम्बुध्यसि पाशबद्धः। प्रपाते त्वं लम्बमानो न वेत्सि व्याघ्रान् मृग कोपयसेऽतिवेलम् ॥ २ ॥ आशीविषास्ते शिरसि पूर्णकोपा महाविषाः। मा कोपिष्ठाः सुमन्दात्मन् मागमस्त्वं

कर अपने मनके भावको भी नहीं छिपासके और "जीत होगई क्या! जीत होगई क्या?" यह बात बूझने लगे ॥ ४३ ॥ बार बार कर्ण और दुःशासन आदि तो बहुत ही हँसे परन्तु सभामें बैठे हुए और लोगोंके नेत्रोंमेंसे आँसू टपकने लगे ॥४४॥ दुराशा शकुनिने अहङ्कारमें मत्त होकर 'यह जीतलिया, ऐसा कहकर छल से पांसे फेंक दिये और उसी समय इसकी जीत हुई ॥ ४५ ॥ चतुःषष्टितम अध्याय समाप्त ॥ ६४ ॥ * ॥

"दुर्योधनने कहा, कि—हे विदुर! तुम शीघ्र ही जाकर पाण्डवों की माननीय प्रिया द्रौपदी को लिवालाओ, वह दुष्टा यहां आकर हमारी दासियोंके साथ घरको झाड़ने बुहारनेका काम किया करे ॥ १ ॥ यह सुनकर विदुरजीने कहा, कि—रे मूढ़! तुझको यह ध्यान नहीं है, कि मैं फांसीमें बँधाहुआ हूं और शीघ्र ही गिरनेवाला हूं इसीसे ऐसे दुर्वचन कहरहा है और तू मृग होकर बघेरे सिंहोंको कुपित कररहा है॥ २ ॥ हे मूढ़बुद्धे! बड़े क्रोध में भरे विषधर सर्प तेरे शिरपर फण फैला रहे हैं, तू उनको और

यमत्तयम् ॥ ३ ॥ न हि दासीत्वमापन्ना कृष्णा भवितुमर्हति । अनीशेन हि राज्ञैषा पणे न्यस्तेति मे मतिः ॥ ४ ॥ अयं धत्ते वेणुरिवात्मघाती फलं राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रः । द्यूतं हि वैराय महाभयाय मत्तो न बुध्यत्ययमन्तकाले ॥ ५ ॥ नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत । ययास्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदेदुशतीं पापलोक्याम् ॥ ६ ॥ समुच्चरन्त्यतिवादाश्च वक्त्राद्यैराहतः शोचति रात्र्यहानि । परस्य नामर्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत्परेषु ॥७॥ अजो हि शस्त्रमगिलत् किलैकः शस्त्रे विपन्ने शिरसास्य भूमौ । निकृन्तनं स्वस्य कण्ठस्य घोर

क्रोध दिलाकर यमालयमें जानेका काम मत कर ॥ ३ ॥ देख द्रौपदी किसीप्रकार भी दासी नहीं होसकती मेरी समझमें द्रौपदी को दाँव पर लगानेका राजा युधिष्ठिरको अधिकार ही नहीं था ॥ ४ ॥ जैसे जब बाँसका नाश होनेको होता है तब ही उसके ऊपर फल लगा करते हैं तैसे ही इस मदमत्त धृतराष्ट्रके पुत्रने जड़ मूलसे नष्ट होनेके लिये जुएका खेल करके परम वैर और महाभयको उत्पन्न करलिया है अन्तकाल आजानेके कारण इस को इस बातका ज्ञान नहीं रहा है ॥ ५ ॥ मनुष्यको चाहिये, कि किसीको मर्मवेधी पीडा न देय कठोर वचन न कहै अपने यहां आये हुए पुरुषके साथ नीचताका वर्त्ताव न करै और जिस बात को कहनेसे दूसरेको क्रोध आवै उस खोटी बातको मुखसे न कहै क्योंकि-संसारमें यह बडा पापकर्म है ॥ ६ ॥ दुर्वाक्य लोगों के मुखसे निकलते हैं, किंतु वह जिसके लिये कहे जाते हैं उसके मर्मस्थानमें चुभकर रातदिन उसको विह्वल करते हैं, इसलिये विचारशील पुरुषोंको चाहिये, कि-कभी किसीसे दुर्वचन न कहैं ॥ ७ ॥ रे दुर्योधन ! कहते हैं, कि—किसी एक बकरेने शस्त्रको निगला था, सो शस्त्रको चाबते ही उसका शिर कटकर भूमिपर गिर पडा था, उसीप्रकार तू भी अपनी गर्दन काटनेके लिये इन

तद्वद्वैरं मा कृथाः पाण्डुपुत्रैः ॥ ८ ॥ किंचिदित्थं प्रवदन्ति पार्था वनेचरं वा गृहमेधिनं वा । तपस्विनं वा परिपूर्णविद्यं भषन्ति हैवं श्वनराः सदैव ॥ ९ ॥ द्वारं सुघोरं नरकस्य जिह्मं न बुध्यते धृतराष्ट्रस्य पुत्रः । तमन्वेतारो बहवः कुरूणां द्यूतोदये सह दुःशासनेन ॥ १० ॥ मज्जन्त्यलाबूनि शिलाः प्लवन्ते मुह्यन्ति नावोऽम्भसि शश्वदेव । मूढो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो न मे वाचः पथ्यरूपा शृणोति ॥ ११ ॥ अन्तो नूनं भवितायं कुरूणां सुदारुणः सर्वहरो विनाशः । वाचः काव्याः सुहृदां पथ्यरूपा न श्रूयन्ते वर्द्धते लोभ एव ॥ १२ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरवाक्ये पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

वैशम्पायन उवाच । धिगस्तु क्षत्तारमिति ब्रुवाणो दर्पेण मत्तो

पाण्डवोंके साथ घोर शत्रुता मत करें ॥ ८ ॥ देखा, तब ऐसा व्यवहार करने पर भी पाण्डव कुछ नहीं कहरहे हैं, वानप्रस्थ, गृहस्थी, तपस्वी वा पूर्णविद्वान्को ऐसे दुर्वचन कोई नहीं कहता है, अतिनीच पुरुष ही ऐसे दुर्वचन कहते हुए कुत्तोंके समान भौंका करते हैं ॥ ९ ॥ धृतराष्ट्रका पुत्र महाघोर कुटिल नरकके द्वारपर पहुंचगया है इस बातका इसको ध्यान नहीं है, दुःशासन आदि बहुतसे कौरव द्यूतक्रीडामें इसके साथी बने हैं ॥ १० ॥ चाहे तोंबी जलमें डूबजाय, चाहे पत्थर जलमें तैरने लगें और चाहे नौका डूबजाय, परन्तु मन्दबुद्धि धृतराष्ट्रका पुत्र राजा दुर्योधन मेरे सदुपदेशको कभी नहीं सुनेगा ॥ ११ ॥ मित्रोंकी हितकारी अच्छी संमति नहीं सुनी जाती, बराबर लोभ ही बढ़ता चलाजाता है, इससे स्पष्ट ही प्रतीत होता है, कि—शीघ्र ही कौरवोंका सर्वस्व नष्ट करनेवाला घोर युद्ध होगा ॥ १२ ॥ पञ्चसठवां अध्याय समाप्त ॥ ६५ ॥ * ॥ छ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! दुर्योधनने

धृतराष्ट्रस्य पुत्रः । अवैक्षत प्रातिकामीं सभायामुवाच चैनं परमार्य्यमध्ये ॥ १ ॥ दुर्योधन उवाच । त्वं प्रातिकामिन् द्रौपदीमानयस्व न ते भयं विद्यते पाण्डवेभ्यः । क्षत्ता ह्ययं विवदत्येव भीतो न चास्माकं वृद्धिकामः सदैव ॥ २ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्तः प्रातिकामी स सूतः प्रायाच्छीघ्रं राजवचो निशम्य । प्रविश्य च श्वेव हि सिंहगोष्ठं समासदन्महिषीं पाण्डवानाम् ॥ ३ ॥ प्रातिकाम्युवाच । युधिष्ठिरो द्यूतमदेन मत्तो दुर्योधनो द्रौपदी त्वामजैषीत् । सा त्वं प्रपद्यस्व धृतराष्ट्रस्य वेश्म नयामि त्वां कर्मणे याज्ञसेनि ॥ ४ ॥ द्रौपद्युवाच । कथं त्वं वदसि प्रातिकामिन् को हि दीव्येद्भार्य्यया राजपुत्रः । मूढो राजा द्यूतमदेन मत्तो ह्यभून्ना-

उन्मत्त हुए धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनने कहा, कि–हे विदुर ! तुमको धिक्कार है और फिर सभामें बैठेहुए अनेकों श्रेष्ठ पुरुषोंके मध्य में प्रातिकामीकी ओरको देखकर कहा ॥ १ ॥ दुर्योधन बोला, कि—हे प्रातिकामिन् ! तुम पांडवोंसे जरा भी भय मत करो और शीघ्रही जाकर द्रौपदीको ले आओ, यह विदुर तो डर गये हैं, इसीसे हमारे साथ विवाद कररहे हैं और विशेषकर यह सदा ही हमारी उन्नतिके विरोधी रहते हैं ॥ २ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—इसप्रकार आज्ञा दिया हुआ वह प्रातिकामी सूत राजा दुर्योधनके कहनेको सुनते ही चलदिया और जैसे कुत्ता सिंहोंकी गुफामें घुसजाता है तैसे ही पाण्डवोंके निवासस्थानमें घुसकर पाण्डवोंकी पटरानी द्रौपदीके पास पहुँचा ॥ ३ ॥ प्रातिकामीने द्रौपदीसे कहा, कि–हे द्रुपदकुमारी ! युधिष्ठिरने द्यूतक्रीड़ामें अत्यन्त आसक्त होकर तुम्हें दाँव पर लगा दिया था, सो दुर्योधन ने तुम्हें जीतलिया है, अतएव तुमको धृतराष्ट्रके घर जाकर सखिरा की समान काम करना होगा, मैं तुम्हें लिवानेको आया हूं ॥४॥ यह सुनकर द्रौपदीने कहा, कि–अरे प्रातिकामिन् ! तू क्या कह रहा है ? कौन क्षत्रिय अपनी स्त्रीको दाँव पर लगाकर जुआ

न्यत् कैतवमस्य किञ्चित् ॥ ५ ॥ प्रातिकाम्युवाच । यदा नाभूत् कैतवमन्यदस्य तदादेवीत् पाण्डवोऽजातशत्रु । न्यस्ता पूर्वं भ्रातरस्तेन राज्ञा स्वयञ्चात्मा त्वमथो राजपुत्रि ॥ ६ ॥ द्रौपद्युवाच । गच्छ त्वं कितवं गत्वा सभायां पृच्छ सूतज । किन्नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवा नु माम् ॥ ७ ॥ एतज्ज्ञात्वा समागच्छ ततो मां नय सूतज । ज्ञात्वा चिकीर्षितमहं राज्ञो यास्यामि दुःखिता ॥ ८ ॥ वैशम्पायन उवाच । सभां गत्वा स चोवाच द्रौपद्यास्तद्वचस्तदा । युधिष्ठिरं नरेन्द्राणां मध्ये स्थितमिदं वचः । ९ ॥ कस्येशो नः पराजैषीरिति त्वामाह द्रौपदी । किन्नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथ वापि माम् ॥ १० ॥ युधिष्ठिरस्तु निश्चेता गतसत्त्व इवाभवत् । न तं

खेलेगा ? निश्चय प्रतीत होता है, कि-राजा जुएमें आसक्त होकर उन्मत्त होगये हैं, क्या उनके पास दाव लगानेके लिये कुछ और धन नहीं रहा था ? ॥ ५ ॥ प्रातिकामीने कहा, कि-द्रौपदी ! राजा युधिष्ठिर सब धन हारगये, दाव पर लगानेको और कुछ भी नहीं रहा, तब पहिले भाइयोंको दाव पर रक्खा, फिर अपनेको लगाया और अन्तमें तुम्हें भी हार गये ॥ ६ ॥ यह सुनकर द्रौपदीने कहा कि-हे सूतनन्दन ! तुम सभामें जाकर द्यूत खेलने वाले धर्मराजसे पूछो, कि-वह जुएमें पहिले अपनेको हारे हैं या पहिले मुझे हारे हैं ? ॥ ७ ॥ हे सूतपुत्र ! यह पूछकर लौट आओ तब मुझे लिवाजाना मैं राजा युधिष्ठिरकी इस करतूतसे बहुत दुःखित हूं, परन्तु उन्होंने पहिले किसको हारा है यह जान लूं तब मैं तेरे साथ चलूंगी ॥ ८ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-तब वह प्रातिकामी सभामें गया और सब राजाओंके मध्यमें बैठे हुए युधिष्ठिरसे द्रौपदीकी कही हुई वह बात कही ॥ ९ ॥ कि-हे धर्मराज ! आपसे द्रौपदीने कहा है, कि-तुम पहिले किसको हारे हो, मुझे या अपनेको ? ॥ १० ॥ युधिष्ठिर तो इस बात को सुनकर दीनरूप और मूर्छितसे होगये उस सूतपुत्रको

सूत प्रत्युवाच वचन साध्वसाधु वा ॥ ११ ॥ दुर्योधन उवाच। इहैवागत्य पाञ्चाली प्रश्नमेनं प्रभाषताम्। इहैव सर्वे शृण्वन्तु तस्यार्थैतद्धि यद्वचः ॥१२॥ वैशम्पायन उवाच। स गत्वा राजभवनं दुर्योधनवशानुगः। उवाच द्रौपदी सूतः प्रातिकामी व्यथन्निव ॥ १३ ॥ प्रातिकाम्युवाच। सभ्यास्त्वमी राजपुत्र्याह्वयन्ति मन्ये प्राप्त संशयं कौरवाणाम्। न वै समृद्धिं पालयते लघीयान् यस्त्वा नयति सभां राजपुत्रि ॥१४॥ द्रौपद्युवाच। एवं नूनं व्यदधात् संविधाता स्पर्शावुभौ स्पृशतो वृद्धबालौ। धर्मन्त्वेकं परमं प्राह लोके स नः शमं धास्यति गोप्यमानः ॥ १५ ॥ सोऽयं धर्मो मात्यगात् कौरवान् वै सभ्यान् गत्वा पृच्छ धर्म्यं वचो मे। ते

अच्छा या बुरा कुछ उत्तर न देसके ॥११॥ परन्तु दुर्योधन बोल उठा,, कि–द्रौपदी यहां आकर ही इस प्रश्नको कहे यहां सब लोग उसको और इन युधिष्ठिरकी बातको सुन लेंगे ॥ १२ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि–वह दुर्योधनका आज्ञाकारी सेवक प्रातिकामी यह सुनकर राजभवनमें गया और दुःखितसा होता हुआ द्रौपदीसे कहने लगा ॥ १३ ॥ प्रातिकामीने कहा, कि–हे राजपुत्री ! सभाके लोग तुम्हें वहां ही बुलाते हैं मेरी समझमें अब कौरवोंका अन्तकाल आपहुंचा है, हे राजपुत्री ! पापात्मा दुर्योधनने ऐश्वर्यके मदमें उन्मत्त होकर तुम्हें सभामें लेजानेकी इच्छाकी है इससे प्रतीत होता है कि–वह अपने ऐश्वर्यकी वृद्धि नहीं चाहता ॥ १४ ॥ द्रौपदीने कहा, कि—सूतपुत्र ! विधाताने ऐसी ही होनी रची है बूढोंसे लेकर बालक पर्यन्त सबके ही ऊपर सुख दुःख पडते हैं परन्तु संसारमें धर्मको सबसे श्रेष्ठ कहा है आशा है,, कि–हमारा पालन किया हुआ वह धर्म हमारे दुःखोंको शान्त करेगा ॥ १५ ॥ कौरवोंको भी उस धर्मका उल्लंघन नहीं करना चाहिये हे सूतनन्दन ! सभामें बैठनेवालोंके पास जाकर मेरे विषयमें धर्मानुकूल बात बूझकर आ वह धर्मात्मा

मां ब्रूयुर्निश्चितं तत्करिष्ये धर्मात्मानो नीतिमन्तो वरिष्ठाः ॥ १६ ॥ श्रुत्वा सूतस्तद्वचो याज्ञसेन्या सभां गत्वा प्राह वाक्यं तदानीम् । अधोमुखास्ते च न किञ्चिदूचुर्निर्बन्धनं धार्त्तराष्ट्रस्य बुद्ध्वा ॥१७॥ वैशम्पायन उवाच । युधिष्ठिरस्तु तच्छ्रुत्वा दुर्योधनचिकीर्षितम् । द्रौपद्याः सम्मतं दूतं प्राहिणोद्भरतर्षभ ॥१८॥ एकवस्त्रा त्वधोनीवी रोदमाना रजस्वला । सभामागम्य पाञ्चालि श्वशुरस्याग्रतो भव ॥ १९ ॥ स गत्वा त्वरितं दूतः कृष्णाया भवनं नृप । न्यवेदयन्मत धीमान् धर्म्मराजस्य निश्चितम् ॥ २० ॥ पाण्डवाश्च महात्मानो दीना दुःखसमन्विताः । सत्येनातिपरीताङ्गा नोदीक्षन्ते स्म किञ्च न ॥ २१ ॥ ततस्त्वेषां मुखमालोक्य राजा दुर्योधनः सूतमुवाच हृष्टः । इहैवैनामानय प्रातिकामिन् प्रत्यक्षमस्याः कुरवो ब्रुवन्तु ॥२२॥ ततः सूतस्तस्य वशानुगामी भीतश्च कोपाद्द्रुपदा-

श्रेष्ठ पुरुष न्यायानुकूल जो कुछ कहेंगे वही करूँगी ॥ १६ ॥ सूत द्रौपदीके उस वचनको सुनकर तत्काल ही सभामें गया और द्रौपदी का वचन सबको सुनादिया सभामें बैठे हुए सब लोगोंने सुनकर नीचेको मुख करलिया और दुर्योधनकी हठको जानकर किसीने कुछ भी नहीं कहा ॥ १७ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—उस समय धर्मात्मा युधिष्ठिरने दुर्योधनके अभिप्रायको समझकर द्रौपदी के पास दूतको भेजा और कह दिया, कि—यद्यपि तू एक वस्त्रको पहिरे अधोनीवी रजस्वला है तथापि रोती हुई सभामें आकर अपने श्वशुरके सामने खड़ी हो ॥ १८ ॥ १९ ॥ हे महाराज ! बुद्धिमान् वह दूत उसीसमय द्रौपदीके भवनमें चलागया और युधिष्ठिरका निश्चित मत निवेदन किया ॥ २० ॥ महात्मा पाण्डव अत्यन्त ही दुःखित, दीन और सत्यसे सर्वथा बँधेहुए थे इस कारण क्या करना चाहिये, इस बातका कुछ निश्चय ही नहीं करसकते थे २१ दुष्टात्मा दुर्योधनने पाण्डवोंको खिन्नमुख देख चित्तमें प्रसन्न होतेहुए अपने सारथीसे कहा, कि—हे प्रातिकामिन् ! द्रौपदीको यहां ही लिवाला, कौरवोंको कुछ उत्तर देना है वह उसके सामने ही देंगे ॥ २२ ॥ तब दुर्योधनका आज्ञाकारी वह सूत द्रौपदीके

स्मजाया: विहायमानं पुनरेव सभ्यानुवाच कृष्णा किमहं ब्रवीमि ॥ २३ ॥ दुर्योधन उवाच । दुःशासनैपः मम सूतपुत्रो वृकोदरादुद्विजतेऽल्पचेताः । स्वयं प्रगृह्यानय याज्ञसेनीं किन्ते करिष्यन्त्यवशाः सपत्नाः ॥ २४ ॥ ततः स चोत्थाय स राजपुत्रः श्रुत्वा भ्रातुः शासनं रक्तदृष्टिः । प्रविश्य तद्वेश्म महारथानामित्यब्रवीद् द्रौपदीं राजपुत्रीम् ॥ २५ ॥ एह्येहि पाञ्चालि जितासि कृष्णे दुर्योधनं पश्य विमुक्तलज्जा । कुरून् भजस्वायतपद्मनेत्रे धर्मेण लब्धासि सभां परैहि ॥ २६ ॥ ततः समुत्थाय सुदुर्मनाः सा विवर्णमामृज्य मुखं करेण । आर्त्ता प्रदुद्राव यतः स्त्रियस्ता वृद्धस्य राज्ञः कुरुपुङ्गवस्य ॥ २७ ॥ ततो जवेनाभिससार रोषाद् दुःशासनस्तामभि-

कोपसे भयभीतहुआ दुर्योधनके मतको छोड़कर फिर सभासदों से बूझनेलगा, कि-मैं द्रौपदीसे क्या कहूं ॥ २३ ॥ उस समय दुर्योधनने प्रातिकामीकी ओर क्रूरदृष्टिसे देखते हुए अपने छोटे भाई दुःशासनसे कहा कि-हे भाई ! यह सूतपुत्र प्रातिकामी बहुत ही छोटे चित्तका है, भीमसेनसे डरता है, तू स्वयं ही द्रौपदीको पकड़ कर लेआ, पराधीन हुए शत्रु पाण्डव तेरा क्या करसकते हैं? ॥२४॥ इस भ्राताकी आज्ञाको सुनते ही राजकुमार दुःशासन लाल २ नेत्र किये उठकर चलदिया और महारथी पाण्डवोंके भवनमें जाकर राजपुत्री द्रौपदीसे कहनेलगा, कि—॥ २५ ॥ अरी द्रौपदि ! चल उठ, तुझे हमने जीतलिया है, अब तू लज्जा को त्यागकर दुर्योधनको देख, हे कमलकी की समान विशाल नेत्रोंवाली ! हमने तुझे धर्मसे पाया है, सभामें चल और कौरवों की सेवा कर ॥ २६ ॥ द्रौपदी दुष्टात्मा दुःशासनकी बात सुनकर बड़ी दुःखित और भयभीत हो अपने मलिन मुखको हाथोंसे पोछती हुई वृद्ध राजा धृतराष्ट्रकी स्त्रियोंके समीपको दौड़कर जाने लगी ॥ २७ ॥ तब तो पापात्मा दुःशासन भी क्रोधमें भरा बड़े

गर्जमानः । दीर्घेषु नीलेष्वथ चोर्मिमत्सु जग्राह केशेषु नरेन्द्रपत्नीम् ॥ २८ ॥ ये राजसूयावभृथे जलेन महाक्रतौ मन्त्रपूतेन सिक्ताः । ते पाण्डवानां परिभूय वीर्यं बलात्प्रमृष्टा धृतराष्ट्रजेन ॥ २९ ॥ स तां पराकृष्य सभासमीपमानीय कृष्णामतिदीर्घकेशीम् । दुःशासनो नाथवतीमनाथवच्चकर्ष वायुः कदलीमिवार्त्ताम् ॥ ३० ॥ सा कृष्यमाणा नमिताङ्गयष्टिः शनैरुवाचाथ रजस्वलास्मि । एकञ्च वासो मम मंदबुद्धे सभा नेतुं नार्हसि मापनार्य ॥ ३१ ॥ ततोऽब्रवीत्तां प्रसभं निगृह्य केशेषु कृष्णेषु तदा स कृष्णाम् । कृष्णञ्च जिष्णुञ्च हरिं नरञ्च त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी ॥ ३१ ॥ दुःशासन उवाच ॥ रजस्वला वा भव याज्ञसेनि एकाम्बरा वाप्यथ

जोरसे गरजता हुआ महारानी द्रौपदीके पीछे दौड़ा और उसके लंबे नीले कुंचित केशोंको पकड़ लिया ॥ २८ ॥ आं ! जो केश कुछ ही पहिले राजसूय यज्ञके अवभृथ स्नानके समय मन्त्रपूतजल से सींचे गए थे इस समय धृतराष्ट्रके पुत्रने पाण्डवोंका तिरस्कार करते हुए उन ही केशोंको बलात्कारसे पकड़लिया ॥२९॥ दुर्मति दुःशासन सनाथा द्रौपदीको अनाथाकी समान केश पकड़कर घसीटताहुआ सभाके समीप लेआया दीर्घकेशी द्रौपदी उससमय पवन के झोकेसे विचिलतहुए केलेके खंभेकी समान कॉपनेलगी ॥३०॥ उस समय झुककर घसिटती हुई द्रौपदीने धीरेसे कहा, कि-अरे दुष्ट मूर्ख दुःशासन ! मैं रजस्वला हूं और एक ही वस्त्रको पहर रही हूं, इस दशामें मुझे सभामें लेजाना उचित नहीं है ॥३१॥ दुःशासनने उसके कहने पर कुछ ध्यान नहीं दिया और दृढता के साथ द्रौपदीके केश पकड़कर कहनेलगा, कि-अरी द्रुपदकुमारी! तु रजस्वला हो, चाहे एकवस्त्रा हो, और चाहे नंगी हो तुझे हम ने जुएमें जीता है इस कारण हमारी दासी है, अब तुझे नीच स्त्रियोंकी समान हमारी दासियोंमें रहना पडेगा ऐसे कठोर वाक्यों से अत्यंत पीड़ित होकर द्रौपदी अपनी रक्षाके लिये हे कृष्ण ! हे

वा विवस्त्रा।द्यूते जिता चासि कृतासि दासी दासीषु वासश्च यथोपजोषम् ॥ ३३ ॥ वैशम्पायन उवाच । प्रकीर्णकेशी पतितार्द्धवस्त्रा दुःशासनेन व्यवधूयमाना । ह्रीमत्यमर्षेण च दह्यमाना शनैरिदं वाक्यमुवाच कृष्णा ॥ ३४ ॥ द्रौपद्युवाच ॥ इमे सभायामुपनीतशास्त्राः क्रियावन्तः सर्वे एवेन्द्रकल्पाः । गुरुस्थाना गुरवश्चैव सर्वे तेषामग्रे नोत्सहे स्थातुमेवम् ॥ ३५ ॥ नृशंसकर्मन्त्वमनार्यवृत्तं मा मां विवस्त्रां कुरु मा विकार्षीः । न मर्षयेयुस्तव राजपुत्राः सेन्द्रापिदेवा यदि ते सहायाः ॥ ३६ ॥ धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा धर्मश्च सूक्ष्मो निपुणोपलक्ष्यः । वाचापि भर्त्तुः परमाणुमात्रमिच्छामि दोषं न गुणान् विसृज्य ॥३७। इदन्त्वकार्य्यं कुरुवीरमध्ये रजस्वलां यत्परिकर्षसे माम् । न चापि कश्चित् कुरुतेऽत्र कुत्सां ध्रुवं

अर्जुन ! हे हरे ! हे नर ! इसप्रकार चिल्ला २ कर विलाप करने लगी ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ वैशंपायनजी कहते हैं, कि--जनमेजय ! उस समय दुःशासनके निर्दयताके साथ घसीटनेके कारण द्रौपदी के केश बिखरगए और आधे शरीर परसे वस्त्र उतरगया तब तो एक साथ लज्जा और क्रोधमें भरकर द्रौपदी धीरेसे कहने लगी ॥ ३४ ॥ द्रौपदीने कहा, कि--अरे दुष्ट ! इस सभामें यह सब ही शास्त्रके ज्ञाता, क्रियावान्, इन्द्रकी समान प्रतिष्ठावाले मेरे बड़े बैठे हैं, उनके सामने मैं इस दशामें कैसे खड़ी होसकूंगी ॥३५॥ अरे दुराचारी ! इस नीचकर्मको छोड़ मुझे नंगी मतकर और घसीटे भी मत, अरे यदि इन्द्रको साथमें लेकर देवता तेरी सहायता करनेको आवेंगे तब भी राजपुत्र पाण्डव तुझे क्षमा नहीं करेंगे ॥ ३६ ॥ महात्मा धर्मपुत्र सज्जनोंके सेवन किये हुए धर्ममार्गका ही अवलम्बन कर रहे हैं और धर्म ऐसा सूक्ष्म पदार्थ है, कि—उसको बहुत ही ध्यान देकर देखना चाहिये इसकारण मैं स्वामीकी बातमें गुणको छोड़ कर कभी दोषदृष्टि नहीं करनी चाहती ॥ ३७ ॥ अरे दुष्टात्मन् ! मैं रजस्वला हूं तू कुरुवंशी वीर

तवेदं मतमभ्युपेतः ॥ ३८ ॥ धिगस्तु नष्टः खलु भारतानां धर्म-
स्तथा क्षत्रविदां च वृत्तम् । यत्र ह्यतीतां कुरुधर्मवेलां प्रेक्षन्ति सर्वे
कुरवः सभायाम् ॥ ३९ ॥ द्रोणस्य भीष्मस्य च नास्ति सत्वं
क्षत्तुस्तथैवास्य महात्मनोऽपि । राज्ञस्तथा हीममधर्ममुग्रं न लक्षयन्ते
कुरुवृद्धमुख्याः ॥ ४० ॥ वैशम्पायन उवाच । तथा ब्रुवन्ती करुणं
सुमध्यमा भर्तृन् कटाक्षैः कुपितानपश्यत् । सा पाण्डवान् कोप-
परीतदेहान् सन्दीपयामास कटाक्षपातैः ॥ ४१ ॥ हृतेन राज्येन
तथा धनेन रत्नैश्च मुख्यैर्न तथा बभूव । यथा त्रपाकोपसमीरितेन
कृष्णाकटाक्षेण बभूव दुःखम् ॥ ४२ ॥ दुःशासनश्चापि समीक्ष्य
कृष्णामवेक्षमाणां कृपणान् पतींस्तान् । आधूय वेगेन विसंज्ञ-

पुरुषोंके सामने मुझे घसीट रहा है तेरे इस अनुचित कर्मको
देखते हुए भी कोई मुझे बुरा नहीं कहते इससे प्रतीत होता है
कि- स दुराचारमें इनकी भी संमति है ॥ ३८ ॥ हाय ! भरत-
वंशियोंको धिक्कार है क्षत्रिय धर्मज्ञोंका आचरण तो एक साथ ही
नष्ट होगया क्योंकि-सभामें बैठे हुए सब ही कौरव अपने नेत्रों
से इस निजकुलकी धर्ममर्यादा के उल्लंघनको देखरहे हैं ३९
इससे प्रतीत होता है, कि-द्रोण, भीष्म और महात्मा विदुरमें भी
कुछ सत्त्व नहीं रहा, तथा प्रधान २ कुरुवंशी वृद्ध क्षत्रिय भी
दुर्योधनके इस नीचकर्मरूप घोर अधर्मको बैठे २ देखरहे हैं
और कुछ नहीं कहते ॥ ४० ॥ कोपमें भरे अपने पति पाण्डवों
की ओरको कनखियोंसे देखती हुई द्रौपदीने ऐसे दीनताके
वचन कहकर मानो उनके शरीरोंमें दहकती हुई क्रोधाग्निको
प्रज्वलित करदिया ॥ ४१ ॥ लज्जा और क्रोधभरी, दृष्टिसे द्रौपदी
के देखने पर पाण्डवोंको जैसा दुःख हुआ, सम्पूर्ण, राज्य, धन
और नानाप्रकारके श्रेष्ठ रत्नोंके छिन जानेपर भी तैसा दुःख नहीं
हुआ था,॥४२॥दुष्टात्मा दुःशासनने द्रौपदीको दीनताकेसाथ अपने
पतियोंकी ओरको दृष्टिपात करते देखकर जोरसे घसीटा,जिससे
वह मूर्छितसी होगई तब ओ दासी ! ओ दासी !! कहकर जोरसे

कन्याsसुवाच दासीति हसन् सशब्दम् ॥४३॥ कर्णस्तु तद्वाक्यमतीव हृष्टः सम्पूजयामास हसन् सशब्दम् । गान्धारराजः सुबलस्य पुत्र-स्तथैव दुःशासनमभ्यनन्दत् ॥ ४४ ॥ सभ्यास्तु ये तत्र बभूवुरन्ये ताभ्यामृते धार्त्तराष्ट्रेण चैव । तेषामभूद् दुःखमतीव कृष्णां दृष्ट्वा सभायां परिकृष्यमाणाम् ॥ ४५ ॥ भीष्म उवाच ॥ न धर्म्म सौक्ष्म्यात् सुभगे विवेक्तुं शक्नोमि ते प्रश्नमिमं यथावत् । अस्वो ह्यशक्तः पणितुं परस्वं स्त्रियाश्च भर्तुर्वशतां समीक्ष्य ॥ ४६ ॥ त्यजेत सर्वां पृथिवीं समृद्धां युधिष्ठिरो धर्ममथो न जह्यात् । उक्तं जितोऽस्मीति च पाण्डवेन तस्मान्न शक्नोमि विवेक्तुमेतत् ॥४७॥ द्यूतेऽद्वितीयः शकुनिर्नरेषु कुन्तीसुतस्तेन निसृष्टकामः । न मन्यते

हँसनेलगा ॥ ४३ ॥ उस समय कर्णने भी चित्तमें प्रसन्न होकर 'बहुत ठीक, बहुत ठीक, कहा और गांधारराज शकुनि उसकी प्रशंसा करनेलगा ॥ ४४ ॥ इन दो को छोड़कर उस सभामें और जितने लोग बैठे थे, उनको जब दुःशासन द्रौपदीको सभामें घसीटनेलगा तो बहुत ही दुःख हुआ ॥४५॥ उस समय भीष्म जीने द्रौपदीकी ओरको देखकर कहा, कि–हे सुभगे ! एक ओर तो यह बात है, कि–पराधीन पुरुष दूसरेके धनको दांव पर नहीं लगा सकता, दूसरी ओरको ध्यान देता हूँ तो स्त्री अपने पतिका धन है, यह दोनों बातें बराबर बल रखती हैं, इसलिये मैं तेरे प्रश्नका ठीक २ उत्तर नहीं देसकता ॥ ४६ ॥ देख, धर्मात्मा युधिष्ठिर सकल पृथ्वीका त्याग कर सकते हैं परन्तु धर्मसे एक पग भी नहीं हट सकते,विशेष कर उन्होंने अपने मुखसे स्वीकार करलिया है, कि–मैं हार गया, इसलिये मैं तेरे प्रश्नके विषयमें ठीक २ विचार नहीं करसकता ॥ ४७ ॥ शकुनि जुआ खेलनेमें सब मनुष्योंसे बढ़कर है, युधिष्ठिरने स्वयं ही उसके साथ खेलने की अभिलाषा करी विशेषकर यह स्वयं ही तेरे इस अपमानकी उपेक्षा कर रहे हैं, इसकारण मैं तेरे प्रश्नका उत्तर नहीं देसकता

त्वा निकृति युधिष्ठिरस्तस्मान्न ते प्रश्नमिमं ब्रवीमि ॥ ४८ ॥ द्रौपद्युवाच । आहूय राजा कुशलैरनार्यदुष्टात्मभिर्नैकृतिकैः सभायाम्। द्यूतप्रियैर्नातिकृतप्रयत्नः कस्मादयं नाम निसृष्टकामः॥४९॥ अशुद्धभावैर्निकृतिप्रवृत्तैरबुध्यमानः कुरुपाण्डवाग्र्यः। सम्भूय सर्वैश्च जितोऽपि यस्मात् पश्चादयं कैतवमभ्युपेतः ॥ ५० ॥ तिष्ठन्ति चेमे कुरवः सभायामीशाः सुतानां च तथा स्नुषाणाम्। समीक्ष्य सर्वे मम चापि वाक्यं विब्रूत मे प्रश्नमिमं यथ वत्॥५१॥ वैशम्पायायन उवाच ॥ तथा ब्रुवन्तीं करुणं रुदन्तीमवेक्षमाणां कृपणान् पतींस्तान्। दुःशासनः परुषाण्यप्रियाणि वाक्यान्युवाचामधुराणि चैव॥ ५१ ॥ तां कृष्यमाणाञ्च रजस्वलाञ्च स्रस्तोत्तरीयामतदर्हमाणाम्। वृकोदरः प्रेक्ष्य युधिष्ठिरञ्च चकार कोपं परमार्तरूपः ५२

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीप्रश्ने षष्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

॥ ४८ ॥ यह सुनकर द्रौपदीने कहा, कि-जुएके प्रेमी, दुष्टात्मा नीचोंने महाराज धर्मपुत्रको बुलाकर जुआ खेलनेका आग्रह किया था, फिर यह कैसे कहते हो कि-इन्होंने स्वयं जुआ खेलनेकी अभिलाषा करी ? ॥ ४९ ॥ कौरव पाण्डवोंमें आगे गिनने योग्य महाराज युधिष्ठिर छली पापात्माओंके कपटीपनको न समझकर ही इनके साथ जुआ खेलनेको उद्यत होगए, इनसब मूढ़ोंने इकट्ठे होकर उनको जीत लिया,तब पीछेसे उन्होंने इनके कपटको समझा है ॥ ५० ॥ जो कुछ भी हुआ हो इस सभामें अनेकों कुरुवंशी बैठे हैं, जिनके पुत्र और पुत्रोंकी बहुएं हैं, वह सब मेरे प्रश्नको सुनकर उस पर विचार करके ठीक २ उत्तर दें ॥५१॥ पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी अपने पतियोंकी ओरको ताक्ती हुई इस प्रकार कहते २ करुणाभरे स्वरसे विलाप कर रहाथी, दुष्टात्मा दुःशासन उसको बड़े ही कठोर वचन कहनेलगा ॥५२॥ द्रौपदी रजस्वला थी और उसके शरीर परसे वस्त्र उतर गया था तथापि दुःशासन उसको घसीट जाता था, इस अनुचित दुर्दशाको देख कर चित्तमें व्याकुलहुए भीमसेनको युधिष्ठिरके ऊपर बड़ा क्रोध आया ॥ ५३ ॥ षट्षष्टितम अध्याय समाप्त ॥ ६६ ॥ छ ॥

भीम उवाच। भवन्ति गेहे बन्धक्यः कितवानां युधिष्ठिर। न ताभिरुत दीव्यंति दया चैवास्ति तास्वपि ॥ १ ॥ काश्यो यद्धनमाहार्षीद् द्रव्यं यच्चान्यदुत्तमम्। यथान्ये पृथिवीपाला यानि रत्नान्युपाहरन् ॥२ ॥ वाहनानि धनं चैव कवचान्यायुधानि च। राज्यमात्मा वयश्चैव कैतवेन हृतं परैः ॥ ३ ॥ न च मे तत्र कोपोऽभूत् सर्वस्येशो हि नो भवान्। इमं त्वतिकमं मन्ये द्रौपदी यत्र पण्यते ४ एषा ह्यनर्हती बाला पाण्डवान् प्राप्य कौरवैः। त्वत्कृते क्लिश्यते क्षुद्रैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ॥ ५ ॥ अस्याः कृते मन्युरयं त्वयि राजन्निपात्यते। बाहू ते संप्रधक्ष्यामि सहदेवाग्निमानय ॥ ६ ॥ अर्जुन उवाच। न पुरा भीमसेन त्वमीदृशीर्वदिता गिरः। परैस्ते नाशितं नूनं नृशंसैर्धर्मगौरवम् ॥७॥ न सकामाः परे कार्या धर्ममेवाचरो-

भीमसेनने कहा, कि-हे युधिष्ठिर! जुआरियोंके घरोंमें वेश्याएं होती हैं वह उनको भी दांव पर लगाकर जुआ नहीं खेलते उन के ऊपर भी दया करते हैं॥ १ ॥ देखिये, काशिराज तथा अन्य राजाओंने जो बहुतसा धन, उत्तमोत्तम पदार्थ और रत्न भेटमें दिये थे वह सब ॥२॥ वाहन, धन, कवच, शस्त्र, राज्य, अपना शरीर और हमको भी दांव पर लगा दिया और शत्रुओंने सब जीतलिया ॥ ३ ॥ इस बात पर मुझे क्रोध नहीं आया क्योंकि-आप हमारे सर्वस्वके स्वामी हैं, परन्तु जिस दांव पर आपने द्रौपदी को लगाया वह मुझे बड़ा ही अनुचित मालूम हुआ ॥ ४ ॥ देखिये पापात्मा तुच्छ कौरव केवल आपके दोषसे ही पाण्डवोंकी प्रिया बाला द्रौपदीको अनुचित क्लेश देरहे हैं॥ ५ ॥ हे राजन्! इसी कारण मुझे आपके ऊपर क्रोध आरहा है, आपने जिन भुजाओंसे जुआ खेला है आपके उन दोनों हाथोंको भस्म करदूंगा हे सहदेव! जाकर आग तो लेआओ ॥ ६ ॥ यह सुनकर अर्जुनने कहा, कि हे भीमसेन! ऐसे दुर्वचन तुमने पहिले कभी नहीं कहे थे, निःसन्देह शत्रुओंने तुम्हारे धर्मगौरवको नष्ट कर दिया है ॥ ७ ॥

त्तमम् । भ्रातरं धार्मिकं ज्येष्ठं कोऽतिवर्त्तितुमर्हति ॥ ८ ॥ आहूतो हि परै राजा क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् । दीव्यते परकामेन तन्नः कीर्त्तिकरं महत् ॥ ९ ॥ भीमसेन उवाच । एवमस्मिन् कृतं विद्यां यदि नाहं धनञ्जय । दीप्तेऽग्नौ सहितौ बाहू निर्दहेयं बलादिव ॥ १० ॥ वैशम्पायन उवाच । तथा तान् दुःखितान् दृष्ट्वा पाण्डवान् धृतराष्ट्रजः । क्लिश्यमानाञ्च पाञ्चालीं विकर्ण इदमब्रवीत् ॥ ११ ॥ याज्ञसेन्या यदुक्तं तद्वाक्यं विब्रूत पार्थिवाः । अविवेकेन वाक्यस्य नरक सद्य एव नः ॥ १२ ॥ भीष्मश्च धृतराष्ट्रश्च कुरुवृद्धतमावुभौ । समेत्य नाहतुः किंचिद्विदुरश्च महामतिः ॥ १३ ॥ भारद्वाजश्च सर्वेषामाचार्य्यः कृप एव च । कुत एतावपि प्रश्नं नाहतुर्द्विजसत्तमौ १४ ये त्वन्ये पृथिवीपालाः समेताः सर्वतो दिशम् । कामक्रोधौ समुत्-

---

शत्रुओंके मनकी कामनाको पूरी मत करो, श्रेष्ठ धर्मका ही आचरण करो, जरा विचारो तो, धर्मात्मा बड़े भ्राताका कौन अपमान करता है ? ॥ ८ ॥ देखो जब शत्रुओंने जुआ खेलनेको बुलाया तब महाराजने क्षत्रियधर्मको याद करके उनकी इच्छाके अनुसार द्यूतक्रीड़ा करी, यह बात हमारे लिये बड़ा यश देनेवाली है ॥९॥ भीमसेनने कहा, कि—हे धनञ्जय ! यदि मैं पहिलेसे ऐसा नहीं जानता होता तो तब ही मैंने इनकी दोनों भुजाओंको बलात्कार से भस्म कर दिया होता ॥ १० ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं कि—हे जनमेजय ! धृतराष्ट्रके पुत्र विकर्णने पाण्डवोंको दुःखित और द्रौपदीको कातर देखकर सभामें बैठे हुए सब राजाओंसे कहा, कि—॥ ११ ॥ द्रौपदीने जो बात कही है, तुम सब उसके विषयमें भलेप्रकार विचार करके कहो, यथार्थ विचार न करनेसे हमको नरकगामी होना पड़ेगा ॥ १२ ॥ कौरवोंमें वृद्ध भीष्म, धृतराष्ट्र और महामति विदुरजीने समान करके कुछ उत्तर क्यों नहीं दिया ॥ १३ ॥ सबके आचार्य द्रोण और कृपाचार्य यह दोनों द्विजवर इस प्रश्नका कुछ उत्तर क्यों नहीं देते ? ॥ १४ ॥ और जो सब

सृज्य ते ब्रुवन्तु यथामति ॥ १५ ॥ यदिदं द्रौपदी वाक्यमुक्तवत्य-सकृच्छुभा । विमृश्य कस्य कः पक्ष पार्थिवा वदतोत्तरम् ॥ १६ ॥ एवं स बहुशः सर्वानुक्तवांस्तान् सभासदः । न च ते पृथिवीपाला-स्तमूचुःसाध्वसाधु वा ॥ १७ ॥ उक्त्वा सकृत्तथा सर्वान् विकर्णः पृथिवीपतीन् । पाणौ पाणिं विनिष्पिष्य निःश्वसन्निदमब्रवीत् १८ विब्रूत पृथिवीपाला वाक्यं मा वा कथंचन । मन्ये न्याय्यं यदत्राहं तद्धि वक्ष्यामि कौरवाः ॥ १९ ॥ चत्वार्याहुर्नरश्रेष्ठा व्यसनानि महीक्षिताम् । मृगयां पानमक्षांश्च ग्राम्ये चैवातिरक्तताम् ॥ २० ॥ एतेषु हि नरः सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्त्तते । तथायुक्तेन च कृतां क्रियां लोको न मन्यते ॥ २१ ॥ तदयं पाण्डुपुत्रेण व्यसने वर्त्तता

राजे चारों ओर इकट्ठे बैठे हैं, यह सब राग द्वेषको त्यागकर जो उचित हो सो बतावें ॥ १५ ॥ इस पतिव्रता द्रौपदीने बार २ जिस बातको कहा है, उस विषयमें सब लोग विचार करें और जिसकी समझमें जो कुछ आवे उसको अलग २ कहें ॥ १६ ॥ इसप्रकार विकर्णने उन सभासदोंसे कई वार कहा, परन्तु उन राजाओंनें से किसीने भी भला या बुरा कुछ उत्तर नहीं दिया ॥ १७ ॥ इसप्रकार उन राजाओंसे बार २ कहनेपर भी कुछ उत्तर न पाकर विकर्णने हाथसे हाथको मलकर लंबे श्वास लेते हुए कहा, कि-॥ १८ ॥ अब यह राजे कुछ उत्तर दें वा न दें परन्तु हे कौरवो! इस विषयमें मैं जिस बातको न्याय समझता हूं वह अवश्य ही कहूंगा ॥ १९ ॥ श्रेष्ठ पुरुषोंने राजाओंकी चार बातोंको व्यसन कहा है एक मृगया (शिकार) दूसरी मद्य पीना तीसरी जुआ खेलना और चौथी स्त्रीप्रसङ्गमें अधिक आसक्त होना ॥ २० ॥ मनुष्य इन बातोंमें आसक्त होनेपर धर्मसे गिरजाता है और ऐसे दुर्व्यसनी पुरुषका काम लोकमें प्रामाणिक नहीं माना जाता ॥ २१ ॥ सो जुआरियोंके बुलाये हुए युधिष्ठिरने द्यूतरूप

स्तम् । समाहूतेन कितवैरास्थितो द्रौपदीपणः ॥२२॥ साधारणी च सर्वेषां पाण्डवानामनिन्दिता । जितेन पूर्वं चानेन पाण्डवेन कृतः पणः ॥ २३ ॥ इयञ्च कीर्तिता कृष्णा सौबलेन पणार्थिना। एतत्सर्वं विचार्याहं मन्ये न विजितामिमाम् ॥ २४ ॥ एतच्छ्रुत्वा महान्नादः सभ्यानामुदतिष्ठत । विकर्णं शंसमानानां सौबलं चापि निन्दताम् ॥ २५ ॥ तस्मिन्नुपरते शब्दे राधेयः क्रोधमूर्च्छितः । प्रगृह्य रुचिरं बाहुमिदं वचनमब्रवीत् ॥२६॥ कर्ण उवाच । दृश्यन्ते वै विकर्णेह वैकृतानि बहून्यपि । तज्जातस्तद्विनाशाय यथाग्निररणी-प्रजः ॥ २७ ॥ एतेन किंचिदप्याहुश्चोदिता अपि कृष्णया । धर्मेण विजितामेतां मन्यन्ते द्रुपदात्मजाम् ॥ २८ ॥ त्वन्तु केवल-

---

दुर्व्यसनमें आसक्त होकर द्रौपदीको दांव पर लगाया है ॥ २२ ॥ और विशेष बात यह है, कि—यह सुशीला द्रौपदी पाँचों ही पाण्डवोंकी स्त्री है, तिसपर भी युधिष्ठिर द्रौपदीको दांवपर लगानेसे पहिले अपनेको हारचुके थे, इसलिये द्रौपदीको दांवपर लगानेका इनको कुछ अधिकार नहीं था ॥ २३ ॥ इधर शकुनिने दांव लगानेके लिये द्रौपदीका नाम लिया था, यह सब विचारकर देखने पर मेरी समझमें तो द्रौपदी नहीं जीती गई ॥ २४ ॥ यह सुनते ही विकर्णकी प्रशंसा और शकुनिकी निंदा करनेवाले सकल सभा-सदोंका बड़ा कोलाहल हुआ ॥ २५ ॥ उस कोलाहलके कुछ देरमें बन्द होजाने पर क्रोधमें भरेहुए कर्णने विकर्णकी सुंदर भुजाको पकड़कर कहा ॥ २६ ॥ कर्ण बोला, कि—हे विकर्ण ! मैं *देखता हूं, कि इस सभामें तू बड़ी उलटी बातें कररहा है प्रतीत* होता है, कि—जैसे अरणी काठमें उत्पन्न हुआ अग्नि उस काठको ही भस्म कर देता है तैसे ही तू भी जिस कुलमें उत्पन्न हुआ है उसका ही नाश करना चाहता है॥ २७ ॥ देख द्रौपदीके बार बार प्रश्न करने पर भी यह जो राजे बैठे हैं, कुछ नहीं कहते, क्योंकि-यह द्रौपदीको धर्मसे जीतीहुई मानते हैं ॥ २८ ॥ परंतु

सृज्य ते ब्रुवन्तु यथामति ॥ १५ ॥ यदिदं द्रौपदी वाक्यमुक्तवत्य-
सकृच्छुभा । विमृश्य कस्य कः पक्ष पार्थिवा वदतोत्तरम् ॥ १६ ॥
एवं स बहुशः सर्वानुक्तवांस्तान् सभासदः । न च ते पृथिवीपाला-
स्तमूचुःसाध्वसाधु वा ॥ १७ ॥ उक्त्वा सकृत्तथा सर्वान् विकर्णः
पृथिवीपतीन् । पाणौ पाणिं विनिष्पिष्य निःश्वसन्निदमब्रवीत् १८
विब्रूत पृथिवीपाला वाक्यं मा वा कथंचन । मन्ये न्याय्यं यदत्राहं
तद्धि वक्ष्यामि कौरवाः ॥ १९ ॥ चत्वार्याहुर्नरश्रेष्ठा व्यसनानि
महीक्षिताम् । मृगयां पानमक्षांश्च ग्राम्ये चैवातिरक्तताम् ॥ २० ॥
एतेषु हि नरः सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्त्तते । तथायुक्तेन च कृतां
क्रियां लोको न मन्यते ॥ २१ ॥ तदयं पाण्डुपुत्रेण व्यसने वर्त्तता

राजे चारों ओर इकट्ठे बैठे हैं, यह सब राग द्वेषको त्यागकर जो उचित हो सो बतावें ॥ १५ ॥ इस पतिव्रता द्रौपदीने बार २ जिस बातको कहा है, उस विषयमें सब लोग विचार करें और जिसकी समझमें जो कुछ आवे उसको अलग २ कहैं ॥ १६ ॥ इसप्रकार विकर्णने उन सभासदोंसे कई बार कहा, परन्तु उन राजाओंमें से किसीने भी भला या बुरा कुछ उत्तर नहीं दिया ॥ १७ ॥ इसप्रकार उन राजाओंसे बार २ कहनेपर भी कुछ उत्तर न पाकर विकर्णने हाथसे हाथको मलकर लंबे श्वास लेते हुए कहा, कि - ॥ १८ ॥ अब यह राजे कुछ उत्तर दें वा न दें परन्तु हे कौरवों! इस विषयमें मैं जिस बातको न्याय समझता हूं वह अवश्य ही कहूंगा ॥ १९ ॥ श्रेष्ठ पुरुषोंने राजाओंकी चार बातोंको व्यसन कहा है एक मृगया (शिकार) दूसरी मद्य पीना तीसरी जुआ खेलना और चौथी स्त्रीसङ्गमें अधिक आसक्त होना ॥ २० ॥ मनुष्य इन बातोंमें आसक्त होनेपर धर्मसे गिरजाता है और ऐसे दुर्व्यसनी पुरुषका काम लोकमें प्रामाणिक नहीं माना जाता ॥ २१ ॥ सो जुआरियोंके बुलाये हुए युधिष्ठिरने द्यूतरूप

भृशम् । समाहूतेन कितवैरास्थितो द्रौपदीपणः ॥२२॥ साधारणी च सर्वेषां पाण्डवानामनिन्दिता । जितेन पूर्वं चानेन पाण्डवेन कृतः पणः ॥ २३ ॥ इयञ्च कीर्त्तिता कृष्णा सौबलेन पणार्थिना। एतत्सर्वं विचार्याहं मन्ये न विजितामिमाम् ॥ २४ ॥ एतच्छ्रुत्वा महान्नादः सभ्यानामुदतिष्ठत । विकर्णं शंसमानानां सौबलं चापि निन्दताम् ॥ २५ ॥ तस्मिन्नुपरते शब्दे राधेयः क्रोधमूर्च्छितः । प्रगृह्य रुचिरं बाहुमिदं वचनमब्रवीत् ॥२६॥ कर्ण उवाच । दृश्यन्ते वै विकर्णेह वैकृतानि बहून्यपि । तज्जातस्तद्विनाशाय यथाग्निररणी-प्रजः ॥ २७ ॥ एनेन किंचिदप्याहुर्नोदिता ह्यपि कृष्णया । धर्मेण विजितामेतां मन्यन्ते द्रुपदात्मजाम् ॥ २८ ॥ त्वन्तु केवल-

दुर्व्यसनमें आसक्त होकर द्रौपदीको दाँव पर लगाया है ॥ २२ ॥ और विशेष बात यह है, कि—यह सुशीला द्रौपदी पाँचों ही पाण्डवोंकी स्त्री है, तिसपर भी युधिष्ठिर द्रौपदीको दाँवपर लगाने से पहिले अपनेको हारचुके थे, इसलिये द्रौपदीको दाँवपर लगाने का इनको कुछ अधिकार नहीं था ॥ २३ ॥ इधर शकुनिने दाँव लगानेके लिये द्रौपदीका नाम लिया था, यह सब विचारकर देखने पर मेरी समझमें तो द्रौपदी नहीं जीती गई ॥ २४ ॥ यह सुनते ही विकर्णकी प्रशंसा और शकुनिकी निंदा करनेवाले सकल सभा-सदोंका बड़ा कोलाहल हुआ ॥ २५ ॥ उस कोलाहलके कुछ देर में बन्द होजाने पर क्रोधमें भरेहुए कर्णने विकर्णकी सुंदर भुजा को पकड़कर कहा ॥ २६ ॥ कर्ण बोला, कि—हे विकर्ण ! मैं *देखता हूं, कि इस सभामें तू बड़ी उलटी बातें कररहा है प्रतीत* होता है, कि—जैसे अरणीकाठमें उत्पन्न हुआ अग्नि उस काठ को ही भस्म कर देता है तैसे ही तू भी जिस कुलमें उत्पन्न हुआ है उसका ही नाश करना चाहता है॥ २७ ॥ देख द्रौपदीके बार बार प्रश्न करने पर भी यह जो राजे बैठे हैं, कुछ नहीं कहते, क्योंकि—यह द्रौपदीको धर्मसे जीतीहुई मानते हैं ॥ २८ ॥ परंतु

सृज्य ते ब्रुवन्तु यथामति ॥ १५ ॥ यदिदं द्रौपदी वाक्यमुक्तवत्य-
सकृच्छुभा । विमृश्य कस्य कः पक्ष पार्थिवा वदतोत्तरम् ।' १६ ॥
एवं स बहुशः सर्वानुक्तवांस्तान् सभासदः । न च ते पृथिवीपाला-
स्तमूचुःसाध्वसाधु वा ॥ १७ ॥ उक्त्वा सकृत्तथा सर्वान् विकर्णः
पृथिवीपतीन् । पाणौ पाणिं विनिष्पिष्य निःश्वसन्निदमब्रवीत् १८
विब्रूत पृथिवीपाला वाक्यं मा वा कथंचन । मन्ये न्याय्यं यदत्राहं
तद्धि वक्ष्यामि कौरवाः ॥ १९ ॥ चत्वार्याहुर्नरश्रेष्ठा व्यसनानि
महीक्षिताम् । मृगयां पानमक्षांश्च ग्राम्ये चैवातिरक्तताम् ॥ २० ॥
एतेषु हि नरः सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्तते । तथायुक्तेन च कृतां
क्रियां लोको न मन्यते ॥ २१ ॥ तदयं पाण्डुपुत्रेण व्यसने वर्तता

राजे चारों ओर इकट्ठे बैठे हैं, यह सब राग द्वेपको त्यागकर जो
उचित हो सो बतावें ॥ १५ ॥ इस पतिव्रता द्रौपदीने वार २
जिस बातको कहा है, उस विषयमें सब लोग विचार करें और
जिसकी समझमें जो कुछ आवे उसको अलग २ कहें ॥ १६ ॥
इसप्रकार विकर्णने उन सभासदोंसे कई वार कहा, परन्तु उन
राजाओंमें से किसीने भी भला या बुरा कुछ उत्तर नहीं दिया
॥ १७ ॥ इसप्रकार उन राजाओंसे वार २ कहनेपर भी कुछ
उत्तर न पाकर विकर्णने हाथसे हाथको मलकर लंबे श्वास लेते
हुए कहा, कि-॥ १८ ॥ अब यह राजे कुछ उत्तर दें या न दें
परन्तु हे कौरवों! इस विषयमें मैं जिस बातको न्याय समझता हूं
वह अवश्य ही कहूंगा ॥ १९ ॥ श्रेष्ठ पुरुषोंने राजाओंकी चार
बातोंको व्यसन कहा है एक मृगया-(शिकार) दूसरी मद्य पीना
तीसरी जुआ खेलना और चौथी स्त्रीप्रसङ्गमें अधिक आसक्त होना
॥ २० ॥ मनुष्य इन बातोंमें आसक्त होनेपर धर्मसे गिरजाता है
और ऐसे दुर्व्यसनी पुरुषका काम लोकमें प्रामाणिक नहीं माना
जाता ॥ २१ ॥ सो जुआरियोंके बुलाये हुए युधिष्ठिरने द्यूतरूप

एकाम्बरधरत्वं वाप्यथवापि विवस्त्रता ॥ ३६ ॥ यच्चैषां द्रविणं किञ्चिद्या चैषा ये च पाण्डवाः । सौबलेनेह तत् सर्वं धर्मेण विजितं वसु ॥ ३७ ॥ दुःशासनः सुबालोऽयं विकर्णः प्राज्ञवादिकः । पाण्डवानां च वासांसि द्रौपद्याश्चाप्युपाहर ॥ ३८ ॥ तच्छ्रुत्वा पाण्डवाः सर्वे स्वानि वासांसि भारत । अवकीर्योत्तरीयाणि सभायां समुपाविशन् ॥३९॥ ततो दुःशासनो राजन् द्रौपद्या वसनं बलात् । सभामध्ये समाक्षिप्य व्याक्रष्टुमुपचक्रमे ॥ ४० ॥ वैशम्पायन उवाच । आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्या चिन्तितो हरिः । गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय ॥ ४१ ॥ कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव । हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन ॥४२ ॥ कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन । कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन ॥ ४३ ॥ प्रपन्नां पाहि

एक वस्त्र ओढे लाना अथवा नंगी करके भी लाना कुछ अनुचित नहीं है ॥ ३६ ॥ यह द्रौपदी ये पाण्डव और जो कुछ इनका धन था सो सब शकुनिने धर्मसे जीता है ॥ ३७ ॥ रे दुःशासन ! यह विकर्ण तो बालक होकर बड़े बुद्धिमानोंकीसी बात बनारहा है, अब तू इस द्रौपदीके और पाण्डवोंके भी सब वस्त्र उतार ले ॥ ३८ ॥ हे जनमेजय ! कर्णकी यह बात सुनते ही पाण्डवोंने अपने वस्त्र उतार डाले और सभामें नंगे होकर बैठगए ॥ ३९ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर दुःशासन बलात्कारसे द्रौपदीके वस्त्रको पकड़कर उतारलेनेका उद्योग करनेलगा ॥ ४० ॥ वैशंपायनजी कहते हैं, कि-उसके वस्त्र कोखेंचने पर द्रौपदी श्रीकृष्णका ध्यान करती हुई कहने लगी, कि-हे गोविंद ! हे द्वारकावासी कृष्ण ! हे गोपीजनवल्लभ ! ॥४१॥ हे केशव! हे नाथ! हे लक्ष्मीपते ! हे व्रजनाथ! दुःखहारिन् ! क्या आपको नहीं मालूम है, कि-कौरव मेरा तिरस्कार कररहे हैं ? हे जनार्दन ! हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे विश्वात्मन् ! हे विश्वपावन ! मैं कौरवरूप समुद्रमें डूबीजाती हूं, मेरा उद्धार करो ॥ ४२—४३ ॥ हे गोविन्द ! कौरवोंकी बीच

बाल्येन धार्त्तराष्ट्रावदीर्य्यसे । यद् ब्रवीषि सभामध्ये बालः स्थविरभाषितम् ॥२९॥ न च धर्मं यथातत्त्वं वेत्सि दुर्योधनावर । यद् ब्रवीषि जितां कृष्णां न जितेति सुमन्दधीः ॥ ३० ॥ कथं ह्यविजितां कृष्णां मन्यसे धृतराष्ट्रज । यदा सभायां सर्वस्वं न्यस्तवान् पाण्डवाग्रजः ॥ ३१ ॥ अभ्यन्तरा च सर्वस्वे द्रौपदी भरतर्षभ । एवं धर्मजितां कृष्णां मन्यसे न जितां कथम् ॥ ३२ ॥ कीर्तिता द्रौपदी वाचा अनुज्ञाता च पाण्डवैः । भवत्यविजिता केन हेतुनैपा मता तव ॥ ३३ ॥ मन्यसे वा सभामेतामानीतामेकवाससम् । अधर्मेणेति तत्रापि शृणु मे वाक्यमुत्तमम् ॥ ३४ ॥ एको भर्त्ता स्त्रिया देवैर्विहितः कुरुनन्दन । इयं त्वनेकवशगा बन्धकीति विनिश्चिता ॥ ३५ ॥ अस्याः सभामानयनं न चित्रमिति मे मतिः ।

तू केवल बालक स्वभावकी असहिष्णुतासे अधीर होकर सभामें वृद्धोंके सी बातें बनारहा है ॥ २९ ॥ तू दुर्योधनसे छोटा है और धर्मके तत्त्वको ठीक २ नहीं जानता है इसी कारण तू अपनी तुच्छबुद्धिसे जीती हुई द्रौपदीको न जीती हुई कहरहा है ॥३०॥ अरे धृतराष्ट्रकुमार! जब युधिष्ठिरने सर्वस्वका दांव सभामें लगा दिया तब तू द्रौपदीको बिनाजीती कैसे कहता है ? ॥३१॥ हे राजकुमार ! द्रौपदी भी तो सर्वस्वके भीतरे ही आगई इसप्रकार धर्मसे जीती हुई द्रौपदीको तू बिना जीता कैसे कहता है ॥ ३२ ॥ पाण्डवोंकी सम्मतिसे दांवपर द्रौपदीका नाम लिया गया है, फिर तुम्हारी समझमें द्रौपदीके जीती हुई न होनेकी क्या कारण है ? ॥ ३३ ॥ अथवा एकवस्त्रा रजस्वलाको जो सभामें लाया गया है इसको यदि अधर्म समझते हो तो इस विषयमें भी जो मैं उचित बात कहता हूं उसको सुनो ॥ ३४ ॥ हे कुरुनन्दन ! देवताओंने स्त्रीका एक पति ही विधान किया है और यह द्रौपदी तो पांचके अधीन रहती है, इसकारण यह निःसन्देह वेश्या है ॥ ३५ ॥ मेरी समझमें तो इस वेश्यासमान स्त्रीको सभामें लाना

एकाम्बरधरत्वं वाप्यथवापि विवस्त्रता ॥ ३६ ॥ यच्चैषां द्रविणं किंचिद्या चैषा ये च पाण्डवाः । सौबलेन ह तत् सर्वं धर्मेण विजितं वसु ॥ ३७ ॥ दुःशासनः सुबालोऽयं विकर्णः प्राज्ञवादिकः। पाण्डवानां च वासांसि द्रौपद्याश्चाप्युपाहर ॥ ३८ ॥ तच्छ्रुत्वा पाण्डवाः सर्वे स्वानि वासांसि भारत । अवकीर्योत्तरीयाणि सभायां समुपाविशन् ॥ ३९ ॥ ततो दुःशासनो राजन् द्रौपद्या वसनं बलात् । सभामध्ये समाक्षिप्य व्याकष्टुं प्रचक्रमे ॥ ४० ॥ वैशम्पायन उवाच । आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्या चिन्तितो हरिः । गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय ॥ ४१ ॥ कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव । हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन ॥ ४२ ॥ कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन । कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन ॥ ४३ ॥ प्रपन्नां पाहि

एक वस्त्र ओढे लाना अथवा नंगी करके भी लाना कुछ अनुचित नहीं है ॥ ३६ ॥ यह द्रौपदी ये पाण्डव और जो कुछ इनका धन था सो सब शकुनिने धर्मसे जीता है ॥ ३७ ॥ रे दुःशासन ! यह विकर्ण तो बालक होकर बडे बुद्धिमानोंकेसी बात बनारहा है, अब तू इस द्रौपदीके और पाण्डवोंके भी सब वस्त्र उतार ले ॥ ३८ ॥ हे जनमेजय ! कर्णकी यह बात सुनते ही पाण्डवोंने अपने वस्त्र उतार डाले और सभामें नंगे होकर बैठगए ॥ ३९ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर दुःशासन बलात्कारसे द्रौपदीके वस्त्रको पकड़ कर उतारलेनेका उद्योग करनेलगा ॥ ४० ॥ वैशंपायनजी कहते हैं,कि-उसके वस्त्र कोखेंचने पर द्रौपदी श्रीकृष्णका ध्यान करती हुई कहने लगी,कि-हे गोविंद ! हे द्वारकावासी कृष्ण ! हे गोपीजनवल्लभ ! ॥४१॥हे केशव! हे नाथ! हेलक्ष्मीपते ! हे व्रजनाथ! दुःख हारिन् ! क्या आपको नहीं मालूम है, कि-कौरव मेरा तिरस्कार कररहे हैं ? हे जनार्दन ! हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे विश्वात्मन् ! हे विश्वभावन ! मैं कौरवरूप समुद्रमें डूबीजाती हूं, मेरा उद्धार करो ॥ ४२—४३ ॥ हे गोविन्द ! कौरवोंकी बीच

गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम् । इत्यनुस्मृत्य कृष्णं सा हरिं त्रि-भुवनेश्वरम् ॥४४॥ारुदद्द दुःखिता राजन् मुखमाच्छाद्य भामिनी । याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा कृष्णो गह्वरितोऽभवत् ॥ ४५ ॥ त्यक्त्वा शय्यासनं पद्भ्यां कृपालुः कृपयाभ्यगात् । कृष्णञ्च विष्णुञ्च हरिं नरञ्च त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी ॥४६॥ ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा समावृणोद्वै विविधैः सुवस्त्रैः । आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्यास्तु विशाम्पते ॥४७॥ तद्रूपमपरं वस्त्रं प्रादुरासीदनेकशः । नानारागविरागाणि वसनान्यथ वै प्रभो ॥ ४८ ॥ प्रादुर्भवंति शतशो धर्मस्य परिपालनात् । ततो हलहलाशब्दस्तत्रासीद्द घोर-दर्शनः॥४९॥ तदद्भुततमं लोके वीक्ष्य सर्वे महीभृतः शशंसुर्द्रौपदीं तत्र कुत्सन्तो धृतराष्ट्रजम् ॥५०॥ शशाप तत्र भीमस्तु राजमध्ये

सभामें दुःख पाती हुई मैं आपकी शरण हूं, रक्षा करो, द्रौपदी इसप्रकार त्रिलोकीपति दुःखहारी कृष्णका स्मरण करके मुखको ढककर रोनेलगी द्रौपदीकी इस आर्त्त पुकारको सुनते ही कृष्ण का हृदय भरआया ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ कृपालु भगवान् शय्या, भोजन और लक्ष्मीको भी त्यागकर कृपा करकै द्रौपदीके समीप आनेलगे उस समय द्रौपदी अपनी रक्षाके निमित्त हे कृष्ण ! हे विष्णो ! हे हरे ! हे पुरुष ! ऐसा कहकर पुकार रही थी ॥ ४६ ॥ यह देख महात्मा धर्म वस्त्ररूप बनगया और बहुतसे सुन्दर वस्त्रों से द्रौपदीको ढक दिया, पापात्मा दुःशासन द्रौपदीको नंगी करने के लिये उसके वस्त्रको जितना खेंचताथा, उतना ही उसी प्रकार दूसरा वस्त्र प्रकट होजाता था, हे महाराज ! इसप्रकार रंगविरंगे बहुतसे वस्त्रोंका ढेर लगगया ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ धर्मकी कैसी अद्भुत महिमा है, कि-धर्मपालनके प्रभावसे ही सैकड़ों वस्त्र प्रकट होनेलगे, यह देखकैर सभामें चारों ओरसे बड़ा कोलाहल होने लगा ॥ ४९ ॥ सभामें बैठेहुए सब राजे स्पष्टरूपसे इस अद्भुत घटनाको देखकर, दुःशासनको धिक्कार देतेहुए द्रौपदीकी प्रशंसा करनेलगे ॥ ५० ॥ भीमसेन उससमय राजाओंके बीचमें बैठे थे,

बृहत्स्वनः । क्रोधाद्विस्फुरमाणौष्ठो विनिष्पिष्य करे करम् ॥५१॥ भीमसेन उवाच । इदं मे वाक्यमादद्‌ध्वं क्षत्रिया लोकवासिनः । नोक्तपूर्वं नरैरन्यैर्न चान्यो यद्वदिष्यति ॥५२॥ यद्येतदेवमुक्त्वाहं न कुर्यां पृथिवीश्वराः । पितामहानां पूर्वेषां नाहं गातमवाप्नुयाम् ॥ ५३ ॥ अस्य पापस्य दुर्बुद्धेर्भारतापसदस्य च । न पिबेयं बलाद्वक्षो भित्त्वा चेद्रुधिरं युधि ॥ ५४ ॥ वैशम्पायन उवाच । तस्य ते तद्वचः श्रुत्वा रौद्रं लोमहर्षणम् । प्रचक्रुर्बहुलां पूजां कुत्सन्तो धृतराष्ट्रजम् ॥ ५५ ॥ यदा तु वाससां राशिः सभामध्ये समाचितः । ततो दुःशासनः श्रान्तो व्रीडितः समुपाविशत् ॥५६॥ धिक्शब्दस्तु ततस्तत्र समभूल्लोमहर्षणः । सभ्यानां नरदेवानां दृष्ट्वा कुन्तीसुतांस्तथा ॥ ५७ ॥ न विब्रुवन्ति कौरव्याः प्रश्न-

उनके दोनों ओठ क्रोधसे काँपनेलगे, उन्होंने हाथसे हाथको मसलकर गर्जतेहुए शापदिया (प्रतिज्ञा करी) ॥ ५१ ॥ भीमसेनने कहा, कि—हे जहाँ तहाँके रहनेवाले क्षत्रियों ! मेरी इस बातको सुनो, कभी किसीने भी ऐसा नहीं कहा होगा और कदाचित् आगे को भी ऐसा नहीं कहेगा ॥ ५२ ॥ हे राजाओं ! मैं जो कुछ कहता हूं, यदि उसको न करूँ अर्थात् यदि मैं युद्धमें बलात्कारसे इस पापी दुष्टात्मा 'भरतकुलकलंक दुःशासनकी छातीको फाडकर इसके रुधिरको न पीऊँ तो मुझे अपने पूर्वपुरुषोंकी गति न मिले ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ वैशंपायनजी कहते हैं कि—भीमसेनके इस रोमाञ्च खडे करने वाले घोर वचनको सुनकर दुःशासनकी निन्दा और भीमसेनकी बडी भारी प्रशंसा होनेलगी ५५ जब द्रौपदीके वस्त्र खेंचते २ सभामें ढेर लगगया और दुःशासन थकगया तब लज्जित होकर बैठगया ॥ ५६ ॥ उस समय सभामें बैठे हुए राजे धिक्कार देतेहुए ऐसा कोलाहल करनेलगे, कि—जिसको सुनकर रोमाञ्च खडे होते थे कौरव पाण्डवोंकी ओरको देखकर कुछ प्रश्न नहीं करसके, सज्जन पुरुष धृतराष्ट्रकी निन्दा

मेतमिति स्म ह। सुमनः क्रोशति स्मात्र धृतराष्ट्रं विगर्हयन् ५८॥ ततो बाहू समुत्क्षिप्य निवार्य च सभासदः। विदुरः सर्वधर्मज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ॥ ५९ ॥ विदुर उवाच। द्रौपदी प्रश्नमुक्त्वैवं रौरवीति त्वनाथवत्। न च विब्रूत तं प्रश्नं सभ्या धर्मोऽत्र पीड्यते ॥ ६० ॥ सभां प्रपद्यते ह्यार्त्तो प्रज्वलन्निव हव्यवाट्। तं वै सत्येन धर्मेण सभ्याः प्रशमयन्त्युत ॥ ६१ ॥ धर्मप्रश्नमतो ब्रूयादार्यः सत्येन मानवः। विब्रूयुस्तत्र तं प्रश्नं कामक्रोधबलातिगाः ॥ ६२ ॥ विकर्णेन यथाप्रज्ञमुक्तः प्रश्नो नराधिपाः। भवन्तोऽपि हि तं प्रश्नं विब्रुवन्तु यथामति ॥ ६३ ॥ यो हि प्रश्नं न विब्रूयाद्धर्मदर्शी सभां गतः ॥ अनृते या फलावाप्तिस्तस्याः सोऽर्द्धं समश्नुते ॥६४॥ यः पुनर्वितथं ब्रूयाद्धर्मदर्शी सभां गतः। अनृ

और दुःख प्रकाशित करते हुए कहने लगे, कि-प्रश्नका उत्तर क्यों नहीं देते॥ ५७ ॥ ५८ ॥ यह सकल धर्मोंको जानने वाले विदुरजी भुजा उठाकर सब लोगोंको शान्त करतेहुए यह बात बोले ॥ ५९ ॥ विदुरजीने कहा, कि—देखो द्रौपदी अपना प्रश्न कहकर इसप्रकार अनाथकी समान रोरही है, परन्तु आपमेंसे कोई भी उसके प्रश्नका उत्तर नहीं देता इसमें धर्मकी हानि होती है॥ ६० ॥ दुःखित पुरुष अग्निकी समान दुःखसे जलता हुआ सभामें आता है सज्जन पुरुषोंको चाहिये, कि-सत्य और धर्मके द्वारा उसके दुःखको दूर करके शान्ति दें ॥ ६१ ॥ श्रेष्ठ पुरुष सत्यके द्वारा धर्मविषयके प्रश्नकी मीमांसा करते हैं, इसकारण आप भी राग द्वेषके वेगको रोककर द्रौपदीके प्रश्नका उचित उत्तर दीजिये ॥ ६२ ॥ हे राजाओं! विकर्णने अपनी बुद्धिके अनुसार इस प्रश्नका उत्तर दे दिया है अब आप भी अपनी २ बुद्धिके अनुसार उत्तर दीजिये ॥ ६३ ॥ जो धर्मज्ञ पुरुष सभामें जाकर किसी प्रश्नका उत्तर नहीं देता है वा मौन रहता है उसको आधा झूठ बोलनेका फल भोगना पड़ता है ॥ ६४ ॥ और जो धर्मका ज्ञाता

तस्य फलं कृत्स्नं समाप्नोतीति निश्चयः ॥ ६५ ॥ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् । प्रह्लादस्य च सम्वादं मुनेराङ्गिरसस्य च ६६ प्रह्लादो नामदैत्येन्द्रस्तस्य पुत्रो विरोचनः । कन्याहेतोराङ्गिरसं सुधन्वानमुपाद्रवत् ॥६७॥ अहं ज्यायानहं ज्यायानिति कन्येप्सया तदा । तयोर्देवनमत्रासीत् प्राणयोरिति नः श्रुतम् ॥ ६८॥ तयोः प्रश्नविवादोऽभूत् प्रह्लादं तावपृच्छताम् । ज्यायान् क आवयोरेकः प्रश्नं प्रब्रूहि मा मृषा ॥ ६९ ॥ स वै विवदनाद्भीतः सुधन्वानं विलोकयन् । तं सुधन्वाब्रवीत् क्रुद्धो ब्रह्मदण्ड इव ज्वलन् ॥ ७० ॥ यदि वै वक्ष्यसि मृषा प्रह्लादाथ न वक्ष्यसि । शतधा ते शिरो वज्री वज्रेण प्रहरिष्यति ॥ ७१ ॥ सुधन्वना तथोक्तः सन्

सभामें जाकर झूठी बात कहता है वह तो झूठ बोलनेका पूर्ण फल पाता ही है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ६५ ॥ इस विषय में पुरातन वृत्तान्तको जानने वाले पुरुष प्रह्लाद और आङ्गिरस मुनिके संवादरूप इस इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, कि— ॥ ६६ ॥ एक समय दैत्यराज प्रह्लादके पुत्र विरोचनका अङ्गिरा के पुत्र सुधन्वाके साथ एक कन्याके कारण विवाद हुआ ॥६७॥ उन्होंने परस्परमें मैं बड़ा हूं २ ऐसा कहते हुए कन्याको पानेकी इच्छा से प्राणपर्यन्तका पण (बाजी) लगाया, ऐसा हमने सुना है ॥ ६८ ॥ इस प्रकार विवाद करते हुए उन दोनोंने प्रह्लादजीके पास जाकर पूछा, कि—हम दोनोंमें कौनसा एक श्रेष्ठ है, यह बात हमको ठीक २ बताइये ॥ ६९ ॥ प्रह्लादने इस विवादसे भयभीत होकर सुधन्वाकी ओरको देखा, सुधन्वा क्रोधके कारण जलते हुए ब्रह्मदण्डकी समान होकर कहने लगा कि—॥ ७० ॥ हे प्रह्लाद ! यदि तुम मिथ्या कहोगे अथवा किसी कारणसे कुछ कहोगे ही नहीं, तो देवराज इन्द्र अपने वज्रसे तुम्हारे मस्तकके सौ टुकड़े कर देगा ॥ ७१ ॥ सुधन्वाके ऐसा कहने पर पीपलके पत्ते की समान विचलित हुए प्रह्लादजी मनमें दुःखित होतेहुए

व्यथितोऽश्वत्थपर्णवत् । जगाम कश्यपं दैत्यः परिप्रष्टुं महौजसम् ॥ ७२ ॥ प्रह्लाद उवाच । त्वं वै धर्मस्य विज्ञाता दैवस्येहासुरस्य च । ब्राह्मणस्य महाभाग धर्मकृच्छ्रमिदं शृणु ॥ ७३ ॥ यो वै प्रश्नं न विब्रूयाद्वितथञ्चैव निर्दिशेत् । केवै तस्य परे लोकास्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥७४॥ कश्यप उवाच । जानन्नविब्रुवन्प्रश्नान् कामात् क्रोधात्भयात्तथा । सहस्र वारुणान् पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ७५ साक्षी वा विब्रुवन् साक्ष्य गोकर्णशिथिलश्चरन् । सहस्र वारुणान् पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥ ७६ ॥ तस्य सम्वत्सरे पूर्णे पाश एकः प्रमुच्यते । तस्मात् सत्यन्तु वक्तव्यं जानता सत्यमञ्जसा ॥ ७७ ॥ विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते । न चास्य शल्यं कृन्तन्ति

तेजस्वी कश्यप ऋषिके पास पूछनेको आये ॥७२॥ प्रह्लादजी ने कहा, कि—हे महाभाग ! आप देवता, असुर और ब्राह्मणोंके धर्मके तत्त्वको जानते हैं अतः आप मेरे धर्मकष्टको सुनिये ॥७३॥ मैं आपसे यह बूझता हूं, कि—जो प्रश्नका उत्तर न देय और जो जानकर भी कुछका कुछ उत्तर देय उसको अगले जन्मोंमें कौन २ लोकमें फल भोगना पड़ता है, इसका उत्तर कहिये ॥ ७४ ॥ कश्यपने कहा, कि—जो जानकर राग, द्वेष या भयके कारण प्रश्नोंका ठीक २ उत्तर नहीं देता है वह अपने को वरुणकी सहस्र फांसियोंसे बाँधता है ॥ ७५ ॥ ऐसे ही जो साक्षी (गवाह) गवाही देनेमें शिथिलता करता है या कुछ की कुछ गवाही देता है वह भी अपनेको वारुणी सहस्र पाशोंसे बांधता है ॥ ७६ ॥ हरएक वर्षमें वह उस फांसीकी एक २ गांठसे छूटा करता है, इसकारण जिस बात की सचाईको जानता होय उस को सत्य २ कहदेय ॥ ७७ ॥ जिस सभामें धर्मको अधर्मसे बींधा जाता है तहांके सभासद यदि उस धर्म के कांटेको दूर नहीं करते हैं तो उसमें धर्मकी कुछ हानि नहीं होती, किन्तु सभासद

विद्वांस्तत्र सभासदः ॥ ७८ ॥ अर्द्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति भर्तृषु । पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दति निन्दितम् ॥ ७९ ॥ अनेना भवति श्रेष्ठो मुच्यन्ते च सभासदः । एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥८०॥ वितथन्तु वदेयुर्ये धर्मं प्रह्लाद पृच्छते । इष्टापूर्तञ्च ते घ्नन्ति सप्तसप्तपरावरान् ॥८१ ॥ हृतस्वस्य हि यद्दुःखं हतपुत्रस्य चैव यत् । ऋणिनः प्रति यच्चैव स्वार्थाद्भ्रष्टस्य चैव यत् ॥८२॥ स्त्रियाः पत्या विहीनाया राज्ञा ग्रस्तस्य चैव यत् । अपुत्रायाश्च यद्दुःखं व्याघ्राघ्रातस्य चैव यत् ॥ ८३ ॥ अध्यूढायाश्च यद्दुःखं साक्षिभिर्विहितस्य च । एतानि वै समान्याहुर्दुःखानि

ही उस पापके भागी होते हैं ॥ ७८ ॥ जो सभासद् निन्दित पुरुषकी निन्दा नहीं करते हैं उनमें जो सबसे श्रेष्ठ (सभापति) होता है,उसको अधर्मका आधा भाग, करनेवालेको चौथाई भाग और अन्य सभासदोंको भी चौथाई भाग मिलता है ॥ ७९ ॥ और जिस सभामें निन्दाके योग्य पुरुषकी निन्दा कीजाती है वहां सभापति निष्पाप होताहै और सभासद् भी अधर्मसे मुक्त रहते हैं वह सब अधर्म केवल कर्त्ताको ही लगता है ॥ ८० ॥ हे प्रह्लाद ! जो पूछनेवालेको धर्मके प्रतिकूल उत्तर देते हैं उनकी अगली पिछली सात २ पीढ़ियें और इष्टापूर्त्त आदि सकल शुभकर्म नष्ट होजाते हैं ॥ ८१ ॥ धन छिन जानेपर जो दुःख होता है, जिसके पुत्रका मरण होजाय उसको जो दुःख होता है ऋणीको जो दुःख होता है और स्वार्थी का प्रयोजन नष्ट होजाने पर जो दुःख होता है ॥ ८२ ॥ पतिसे हीन हुई स्त्रीको जो और राजासे दण्ड पाये हुए पुरुषको जो दुःख होता है, पुत्रहीना माताको जो दुःख होता है और सिंहके झपटेमें आयेहुए पुरुषको जो दुःख होता है ॥ ८३ ॥ सपत्नीके होतेहुए विवाहित होकर आई हुई स्त्रीको जो दुःख होता है, और साक्षियोंके धोखा दिये हुए पुरुषोंको जो दुःख होता है देवताओंने इन सब दुःखों

त्रिविदेश्वराः ॥ ८४ ॥ तानि सर्वाणि दुःखानि प्राप्नोति वितथं ब्रुवन्। समक्षदर्शनात् साक्षी श्रवणाच्चेति धारणात् ॥ ८५ ॥ तस्मात् सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते। कश्यपस्य वचः श्रुत्वा प्रह्लादः पुत्रमब्रवीत् ॥ ८६ ॥ श्रेयान् सुधन्वा त्वत्तो वै मत्तः श्रेयांस्तथाङ्गिराः। माता सुधन्वनश्चापि मातृतः श्रेयसी तव। विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव ॥ ८७ ॥ सुधन्वोवाच। पुत्रस्नेहं परित्यज्य यस्त्वं धर्मे व्यवस्थितः। अनुजानामि ते पुत्रं जीवत्वेष शतं समाः ॥ ८८ ॥ विदुर उवाच। एवं वै परमं धर्मं श्रुत्वा सर्वे सभासदः। यथा प्रश्नन्तु कृष्णाया मन्यध्वं तत्र किं परम् ॥ ८९ ॥ वैशम्पायन उवाच। विदुरस्य वचः श्रुत्वा नोचुः

को एकसमान कहा है ॥ ८४ ॥ हे प्रह्लाद ! जो पुरुष झूठ बोलता है उसको ये सब दुःख भोगने पड़ते हैं प्रत्यक्ष देखकर, सुनकर और धारणासे गवाही दीजासकती है ॥ ८५ ॥ इस कारण सत्य कहनेवाले साक्षीका धर्म और अर्थ नष्ट नहीं होता है, कश्यपजीकी इस बातको सुनकर प्रह्लादने अपने पुत्रसे कहा कि—॥ ८६ ॥ हे बेटा ! यह सुधन्वा तुझसे श्रेष्ठ है अङ्गिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं और सुधन्वाकी माता भी तेरी मातासे श्रेष्ठ है, इसकारण अब यह सुधन्वा ही तेरे प्राणोंका स्वामी है, चाहे तेरे प्राण लेय चाहे छोड़ देय ॥ ८७ ॥ यह सुनकर सुधन्वाने कहा, कि—हे प्रह्लाद ! तुमने पुत्रके प्रेमको कुछ नहीं गिना और धर्मपर अटल रहे, इसकारण मैं तुम्हारे पुत्रको आशीर्वाद देता हूं, कि—यह सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रहे ॥ ८८ ॥ इस इतिहासको समाप्त करके विदुरजी कहनेलगे, कि—हे सब सभासदो ! इस परम धर्मोपदेशके वाक्यको सुनकर द्रौपदीने जो प्रश्न किया है उसका ठीक २ उत्तर क्या होना चाहिये इसका विचार करिये ॥ ८९ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे राजन् जनमेजय ! विदुरजीकी इस बातको सुनकर सभामें बैठे हुए राजाओंने कुछ उत्तर नहीं दिया तब कर्णने दुःशासनसे, कहा, कि—भाई ! इस दासी द्रौपदीको

किञ्चन पार्थिवाः । कर्णो दुःशासनं त्वाह कृष्णां दासीं गृहान्नय ॥ ६० ॥ तां वेपमानां सव्रीडां मलपन्तीं स्म पाण्डवान् । दुःशासनः सभामध्ये विचकर्ष तपस्विनीम् ॥ ६१ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपद्यार्पणे सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

द्रौपद्युवाच । तावत् मतीक्ष दुष्पज्ञ दुःशासन नराधम । पुरस्तात्करणीयं मे न कृतं कार्य्यमुत्तरम् ॥ १ ॥ विहलास्मि कृतानेन कर्षता बलिना बलात् । अभिवादं करोम्येषां गुरूणां कुरुसंसदि । न मे स्यादपराधोऽयं यदिदं न कृतं मया ॥ २ ॥ वैशम्पायन उवाच । सा तेन च समाधूता दुःखेन च तपस्विनी । पतिता विललापेदं सभायामतथोचिता ॥ ३ ॥ द्रौपद्युवाच । स्वयम्वरे यास्मि नृपैर्दृष्टा रङ्गे समागतैः । न दृष्टपूर्वा चान्यत्र साहमद्य सभां गता ४

घर लेजाओ ॥ ६० ॥ कर्णकी आज्ञा पाते ही दुःशासन कांपती हुई लज्जित और पांडवोंको ओरको देखकर अनेकों बातें कहती हुई द्रौपदीको सभामें घसीटने लगा ॥ ६१ ॥ सप्तषष्टितम अध्याय समाप्त ॥ ६७ ॥ छ ॥ छ ॥ छ

द्रौपदीने कहा, कि—अरे नराधम दुःशासन ! थोड़ी देर थम जा, मैंने जो प्रश्न किया है, पहिले उसका उत्तर मिलना चाहिये जो कि—अभीतक नहीं मिला है ॥ १ ॥ इस महाबलीने बलात्कार से घसीटकर मुझे विहल करदिया है, इस कौरवोंकी सभामें गुरुजनोंको प्रणाम करती हूं, मेरा अपराध क्षमा हो, कि-मैंने पहिले प्रणाम नहीं किया था ॥ २ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—उस समय दुःशासनके दिये हुए अनुचित कष्टसे अत्यन्त कातर हुई वह तपस्विनी द्रौपदी, सभामें गिरकर इसप्रकार आर्त्तस्वरसे विलाप और परिताप करने लगी ॥ ३ ॥ द्रौपदीने कहा, कि—हाय ! मैं स्वयंवरके समय मण्डपमें आयेहुए राजाओंके सामने एक बार ही निकली थी, आजसे पहिले जिन्होंने मुझे कभी नहीं देखा था, इस समय में उनके ही सामने ऐसी दुर्दशाके साथ सभामें खड़ी

यां न वायुर्न चादित्यो दृष्टवन्तौ पुरा गृहे । साहमद्य सभामध्ये दृश्यास्मि जनसंसदि ॥ ५ ॥ यां न मृष्यन्ति वातेन स्पृश्यमानां गृहे पुरा । स्पृश्यमानां सहन्तेऽद्य पाण्डवास्तां दुरात्मना ॥ ६ ॥ मृष्यन्ति कुरवश्चेमे मन्ये कालस्य पर्य्ययम् । स्नुषां दुहितरञ्चैव क्लिश्यमानामनर्हतीम् ॥ ७ ॥ किन्वतः कृपणं भूयो यदहं स्त्री सती शुभा । सभा मध्ये विगाहेऽद्य क्व नु धर्मो महीक्षिताम् ॥ ८ ॥ धर्म्यां स्त्रियं सभां पूर्वे न नयन्तीति नः श्रुतम् । स नष्टः कौरवेयेषु पूर्वो धर्मः सनातनः ॥ ९ ॥ कथं हि भार्य्या पाण्डूनां पार्षतस्य स्वसा सती । वासुदेवस्य च सखी पार्थिवानां सभामिमाम् ॥१०॥ तामिमां धर्मराजस्य भार्य्यां सदृशवर्णजाम् । ब्रूत दासीमदासीं वा तत्करिष्यामि कौरवाः ॥११॥ अयं मां सुदृढं क्षुद्रः कौरवाणां यशो-

हूं ॥ ४ ॥ जिसको पहिले घरके भीतर वायु और सूर्यतकने भी नहीं देखपाया था, इस समय उसको ही सभामें सबके सामने खड़ा होना पड़ा है ॥ ५ ॥ जो पाण्डव पहिले घरके भीतर मुझे वायु के स्पर्श करने पर भी नहीं सहसकते थे, आज वही पाण्डव हैं, परन्तु दुष्टात्मा दुःशासन मुझे घसीट रहा है और इस बातको अनायासमें ही सह रहे हैं, ॥ ६ ॥ और यह कौरव भी पुत्रीसमान पुत्रवधूको ऐसा अनुचित क्लेश पाते हुए देखकर कुछ नहीं कहते इससे प्रतीत होता है, कि-अब कुछ समय ही पलट रहा है ७ इससे अधिक दयाके योग्य और कौनसी बात होगी, कि—मैं सुशीला सती स्त्री सभामें घसीटी जारही हूं, न जाने आज राजाओंका धर्म कहांगया ? ॥ ८ ॥ मैंने सुना है, कि-पहिले लोग सदाचारवाली स्त्रीको सभामें नहीं लाते थे, वह पहिला सनातन-धर्म कौरवोंमें नष्ट होगया ॥ ९ ॥ हाय ! पांडवोंकी सहधर्मिणी, धृष्टद्युम्नकी बहिन, और श्रीकृष्णकी कृपापात्र होनेपर भी मैं इस सभामें लाई गई ! न जाने इसमें क्या भेद है ॥१०॥ हे कौरवो ! मैं धर्मराजकी क्षत्रिया स्त्री हूं, मुझे चाहे दासी बनाओ चाहे अदासी बनाओ, जो कहोगे सो करूंगी ॥११॥ हे कौरवो ! यह क्षुद्र, कौरवों

हरः । क्लिश्नाति नाहं तत् सोढुं चिरं शक्ष्यामि कौरवाः ॥१२॥ जितां वाप्यजितां वापि मन्यध्वं मां यथा नृपाः । तथा प्रत्युक्तमिच्छामि तत्करिष्यामि कौरवाः ॥ १३ ॥ भीष्म उवाच । उक्तवानस्मि कल्याणि धर्मस्य परमा गतिः । लोके न शक्यते ज्ञातुमपि विज्ञैर्महात्मभिः ॥ १४ ॥ बलवांश्च यथा धर्मं लोके पश्यति पूरुषः । स धर्मोऽधर्मवेलायां भवत्यभिहतः परैः ॥१५॥ न विवेक्तुं च ते प्रश्नमिमं शक्नोमि निश्चयात् । सूक्ष्मत्वाद् गहनत्वाच्च कार्यस्यास्य च गौरवात् ॥ १६ ॥ नूनमन्तः कुलस्यास्य भविता न चिरादिव । तथा हि कुरवः सर्वे लोभमोहपरायणाः ॥ १७ ॥ कुलेषु जाताः कल्याणि व्यसनैराहता भृशम् । धर्म्यान्मार्गान्न च्यवन्ते येषां नस्त्वं वधूः स्थिता ॥ १८ ॥ उपपन्नश्च पाञ्चालि तवेदं वृत्तमीदृशम् । यत् कृच्छ्रमपि संप्राप्ता धर्ममेवान्ववेक्षसे ॥ १९ ॥ एते द्रोणादय-

के यशको नष्ट करनेवाला पापी दुःशासन बलात्कारसे घसीटकर मुझे दुःख देरहा है अब अधिक देरतक मैं इसको नहीं सहसकती ॥१२॥ हे कुरुवंशी राजाओं ! तुम मुझ जीतीहुई समझो चाहे बिना जीती समझो परन्तु प्रश्नका जैसा उत्तर दो मैं तैसा ही करूं १३ यह सुन फेर भीष्मजीने कहा, कि–हे कल्याणि ! धर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म है इस लोकमें बड़े २ बुद्धिमान् भी उसके ठीक २ तत्त्व को नहीं कह सकते ॥१४॥ इस लोकमें बलवान् पुरुष जिसप्रकार धर्मका आचरण करता है वही धर्म अधर्मके अवसरमें बहुत ही दब जाया करता है १५ तेरा प्रश्न बड़ा सूक्ष्म, गहन और गौरव भरा है कारण इसके सिद्धान्तका हम कुछ निश्चय नहीं करसकते ॥ १६ ॥ कौरव लोभ और मोहके वशमें होगये हैं, इससे प्रतीत होता है, कि—निःसन्देह शीघ्र ही इस कुलका नाश होजायगा ॥ १७ ॥ तू जिस कुलकी वहू है उस कुलके लोग अत्यन्त दुःख उठाने पर भी धर्ममार्गसे विचलित नहीं होते हैं ॥ १८ ॥ इसकारण हे पाञ्चालि ! तेरा यह वर्ताव कुलके योग्य ही है, कि–जो तू ऐसी दुर्दशामें पड़कर भी धर्मकी ओर ही देख रही है ॥ १९ ॥ यह

स्यैव दृष्ट्वा धर्मविदो जनाः। शून्यैः शरीरैस्तिष्ठन्ति गतासव इवानताः॥ २०॥ युधिष्ठिरस्तु प्रश्नेऽस्मिन् प्रमाणमिति मे मतिः। अजितां वा जितां वेति स्वयं व्याहर्त्तुमर्हति॥ २१॥ ॥ ष्ठ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीष्मवाक्येऽष्टषष्टितमोऽध्यायः॥ ६८॥

वैशम्पायन उवाच। तथा च दृष्ट्वा बहु तत्र देवीं रोरूयमाणां कुररीमिवार्त्ताम्। नोचुर्वचः साध्वथ वाप्यसाधु महीक्षितो धार्त्तराष्ट्रस्य भीताः॥ १॥ दृष्ट्वा तथा पार्थिवपुत्रपौत्रांस्तूष्णींभूतान् धृतराष्ट्रस्य पुत्रः। स्मयन्निवेदं वचनं बभाषे पांचालराजस्य सुतां तदानीम्॥ २॥ दुर्योधन उवाच। तिष्ठत्वयं प्रश्न उदारसत्त्वे भीमेऽर्जुने सहदेवे तथैव। पत्यौ च ते नकुले याज्ञसेनि वदन्त्वेते वचनं त्वत्प्रसूतम्॥ ३॥ अनीश्वरं विब्रुवन्त्वार्य्यमध्ये युधिष्ठिरं तव पांचालि हेतोः। कुर्वन्तु सर्वे चानृतं धर्मराजं पाञ्चालि त्वं मोक्ष्यसे

सब धर्मके जानने वाले वृद्ध द्रोण आदि तो प्राणहीनकी समान शिर झुका कर सूने शरीरसे बैठे हुए हैं॥ २०॥ मेरी समझ में तो अब धर्मराज युधिष्ठिर, ही इस प्रश्नका जैसा उत्तर दें उस को प्रमाण माना जाय, तू जीती गई या नहीं जीतीगई, इस बात को यह आप ही कह दें॥२१॥ अष्टषष्टितम अध्याय समाप्त ६८

वैशंपायन कहते हैं,- कि—सभामें बैठेहुए सकल राजे व्याधे के भयसे व्याकुल हुई हरिणीकी समान नेत्रोंसे आँसू टपकाती हुईद्रौपदीको देखकर भी दुर्योधनके भयसे भला बुरा कुछ नहीं कहसके॥ १॥ उन पुत्र और पौत्रों सहित राजाओंको मौन बैठे हुए देखकर दुर्योधनने मुसकुराते हुए द्रौपदीसे कहा॥२॥ दुर्योधनने कहा कि–हे द्रुपदकुमारी! इन उदारस्वभाव वाले अपने पति भीम अर्जुन नकुल और सहदेव से ही तू अपना प्रश्न कर यह ही तेरे प्रश्नका उत्तर देंगे॥ ३॥ हे पाञ्चालि! यह आज यदि सब श्रेष्ठ पुरुषोंके सामने कह दें, कि–युधिष्ठिर द्रौपदीके पति नहीं हैं

दासभावात् ॥ ४ ॥ धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा स्वयं चेदं कथयत्विन्द्रकल्पः । ईशो वा ते ह्यनीशोऽथवैष वाक्यादस्य क्षिप्रमेकं भजस्व ॥ ५ ॥ सर्वे हीमे कौरवेयाः सभायां दुःखान्तरे वर्त्तमानास्तवैव । न विब्रुवन्त्यार्य्यसत्त्वा यथावत् पतींश्च ते समवेक्ष्याल्पभाग्यान् ॥ ६ ॥ वैशम्पायन उवाच । ततः सभ्याः कुरुराजस्य तस्य वाक्यं सर्वे प्रशशंसुस्तथोच्चैः।चेलावेधांश्चापि चक्रुर्नदन्तो हाहेत्यासीदपि चैवार्त्तनादः ॥ ७ ॥ श्रुत्वा तु तद्वाक्यमनोहरं तद्धर्षश्चासीत् कौरवाणां सभायाम् । सर्वे चासन् पार्थिवाः प्रीतिमन्तः कुरुश्रेष्ठं धार्मिकं पूजयन्तः ॥८॥ युधिष्ठिरञ्च ते सर्वे समुदैक्षन्त पार्थिवाः । किन्नु वक्ष्यति धर्मज्ञ इति साचीकृताननाः ॥ ९ ॥ किन्नु वक्ष्यति बीभत्सुरजितो युधि पाण्डवः । भीमसेनो यमौ चोभौ भृशं कौतू-

और उन्होंने मिथ्या ही तुम्हें दांव पर लगाया था तो तू दासी बनने से छूट जायगी ॥ ४ ॥ सत्यप्रतिज्ञ धर्मपुत्र युधिष्ठिर इन्द्र की समान सदा धर्मपर दृढ़ रहते हैं, यह ही कह दें, कि—तेरे स्वामी हैं वा नहीं बस इनके कहनेके अनुसार तू शीघ्र ही एक बात को मानले, ॥५॥ यह सब ही कौरव तेरे दुःखसे अत्यन्त दुःखी होरहे हैं और यह तेरे पतियोंको मन्दभाग्य देखकर यथार्थ बात कहनेका साहस भी नहीं करते हैं ॥ ६ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं कि–कुरुराज दुर्योधनकी इस बातको सुनकर सभासदोंने उसकी बड़ी प्रशंसा करी और सब लोग चिल्ला २ कर वस्त्र उछालने लगे फिर इधर हाहाकार शब्द होने लगा ॥७॥ दुर्योधनका उस मनोहर बातको सुनकर सभामें बैठेहुए कौरवोंको बड़ा हर्ष हुआ और कुरु राजे धर्मकी बात कहनेवाले दुर्योधनकी प्रशंसा करते हुए बड़े प्रसन्न हुए ॥ ८ ॥ कौरव तथा कौरवोंके पक्षके दूसरे राजे कौतूहलमें भरकर प्रसन्नताके साथ युधिष्ठिरकी ओरको देखते हुए कहने लगे कि–देखें धर्मराज क्या कहते हैं ॥ ९ ॥ और फिर उत्कंठितसे होकर कहने लगे, कि–यह युद्धमें किसीसे न हारने

हलान्विताः ॥ १० ॥ तस्मिन्नुपरते शब्दे भीमसेनोऽब्रवीदिदम् । प्रगृह्य रुचिरं दिव्यं भुजं चन्दनचर्चितम् ॥ ११ ॥ भीमसेन उवाच । यद्येष गुरुरस्माकं धर्मराजो महामनाः । न प्रभुः स्यात् कुलस्यास्य न वयं मर्षयेमहि ॥ १२ ॥ ईशो नः पुण्यतपसां प्राणानामपि चेश्वरः । मन्यते जितमात्मानं यद्येष विजिता वयम् ॥ १३ ॥ न हि मुच्येत मे जीवन् पदा भूमिमुपस्पृशन् । मर्त्यधर्मा परामृश्य पाञ्चाल्या मूर्द्धजानिमान् ॥ १४ ॥ पश्यध्वं ह्यायतौ वृत्तौ भुजौ मे परिघाविव । नैतयोरन्तरं प्राप्य मुच्येतापि शतक्रतुः ॥ १५ ॥ धर्मपाशसितस्त्वेवं नाधिगच्छामि सङ्कटम् । गौरवेण निरुद्धश्च निग्रहादर्जुनस्य च १६ धर्मराजनिसृष्टस्तु सिंहः क्षुद्रमृगानिव । धार्त्तराष्ट्रानिमान्पापान्नि-

वाले अर्जुन, भीमसेन और नकुल सहदेव देखें क्या कहते हैं १० उस कोलाहलके बन्द होजाने पर भीमसेनने चन्दनचर्चित दिव्य मनोहर भुजाको उठाकर कहा ॥ ११ ॥ भीमसेन बोले, कि–यदि यह उदारचित्त धर्मराज हमारे कुलके कर्त्ता धर्त्ता नहीं होते तो हम कभी क्षमा नहीं करते ॥ १२ ॥ यह हमारे पुण्य, तप और जीवन पर्यन्तके स्वामी हैं, यदि यह अपनेको हारा हुआ मानते हैं तब हम भी हारगए इसमें सन्देह ही क्या है ? ॥ १३ ॥ यदि मेरी प्रभुता होती तो यह पापात्मा क्या आज द्रौपदीके केशोंको खेंचकर और भूमि पर गिरा पैरोंसे ठुकराकर मेरे हाथसे जीता छूट जाता ? ॥ १४ ॥ मेरे इन खंभोंकी समान लंबे और मोटे भुजदण्डोंको देखो, इनके बीचमें आकर एक बारको इंद्र भी नहीं छूट सकता ॥ १५ ॥ परंतु क्या करूँ धर्मकी डोरीसे बँधा हुआ हूँ इसीसे मेरा भुजबल सबके देखनेमें नहीं आया, तथा अर्जुनने मुझे रोक दिया, इनका गौरव भी मुझे कुछ नहीं करने देता ॥ १६ ॥ यदि धर्मराज मुझे नेत्र चलाकर भी आज्ञा देदें तो जैसे सिंह क्षुद्र प्राणियोंके प्राणोंको नष्ट कर देता है, तिसीप्रकार मैं सहजमें ही मुहूर्त्तभरमें इन पापात्मा धृतराष्ट्रकुमारोंको अपनी हथेलियोंसे ही

विषेयन्तलासिभिः ॥१७॥ वैशम्पायन उवाच । तमुवाच तदा भीष्मो द्रोणो विदुर एव च । क्षम्यतामिदमित्येवं सर्वं संभाव्यते त्वयि १८

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीष्मवाक्य एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

कर्ण उवाच । त्रयः किलेमे सधनाः सभायां भीष्मः क्षत्ता कौरवाणां गुरुश्च । ये स्वामिनं दुष्टतमं वदन्ति वाञ्छन्ति वृद्धिं न च विलिपंति ॥१॥ त्रय किले मे ह्यधना भवन्ति दासः पुत्रश्चास्वतंत्रा च नारी । दासस्य पत्नी त्वधनस्य भद्रे हीनेश्वरे दासधनञ्च सर्वम् ॥ २ ॥ प्रविश्य राज्ञः परिवारं भजस्व तत्ते कार्य्यं शिष्टमादिश्यतेऽत्र । ईशास्तु सर्वे तव राजपुत्रि भवन्ति वै धार्त्तराष्ट्रा न पार्थाः ॥ ३ ॥ अन्यं वृणीष्व पतिमाशु भाविनि यस्माद्दास्यं न लभसि देवनेन । अवाच्या वै पतिषु कामवृत्तिर्नित्यं दास्ये

पीसकर मार डालूं ॥१७॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! उस समय भीमसेनकी क्रोधाग्निको बराबर प्रज्वलित होते देखकर भीष्म, द्रोण और विदुरने कहा, कि—हे भीम ! क्षमा करो तुमको कुछ कठिन नहीं है तुम सब कुछ करसकते हो ॥१८॥ एकोनसप्ततितम अध्याय समाप्त ॥ ६९ ॥ * ॥

कर्णने कहा, कि—हे भद्रे ! इस सभामें भीष्म, विदुर और कौरवोंके गुरु द्रोणाचार्य यह तीन धनवान् हैं यह अपने स्वामीको परमदुष्ट कहते हैं अपने २ धनकी वृद्धि करना चाहते हैं और उसको व्यय नहीं करते ॥१॥ दास, पुत्र और जो स्वतन्त्र न हो ऐसी स्त्री यह तीन निर्धन होते हैं, दासकी स्त्री और उसका सकल धन प्रभु के अधीन होता है ॥ २ ॥ मेरी समझमें अब तुम राजभवनमें जाकर राजपरिवारकी सेवा करो, हे राजकुमारी ! अब धृतराष्ट्रके पुत्र ही तुम्हारे प्रभु हैं पाण्डव तुम्हारे स्वामी नहीं है ॥ ३ ॥ अब जो पुरुष तुझे जुएमें हारकर फिर दासभावकी फाँसीमें न बाँधे

हलान्विताः ॥ १० ॥ तस्मिन्नुपरते शब्दे भीमसेनोऽब्रवीदिदम् । प्रगृह्य रुचिरं दिव्यं भुजं चन्दनचर्चितम् ॥ ११ ॥ भीमसेन उवाच । यद्येष गुरुरस्माकं धर्मराजो महामनाः । न प्रभुः स्यात् कुलस्यास्य न वयं मर्षयेमहि ॥१२॥ ईशो नः पुण्यतपसां प्राणानामपि चेश्वरः । मन्यते जितमात्मानं यद्येष विजिता वयम् ॥ १३ ॥ न हि मुच्येत मे जीवन् पदा भूमिमुपस्पृशन् । मर्त्यधर्मा परामृश्य पांचाल्या मूर्द्धजानिमान् ॥ १४ ॥ पश्यध्वं ह्यायतौ वृत्तौ भुजौ मे परिघाविव । नैतयोरन्तरं प्राप्य मुच्येतापि शतक्रतुः ॥१५॥ धर्मपाशसितस्त्वेवं नाधिगच्छामि सङ्कटम् । गौरवेण निरुद्धश्च निग्रहादर्जुनस्य च १६ धर्मराजनिसृष्टस्तु सिंहः क्षुद्रमृगानिव । धार्त्तराष्ट्रानिमान्पापान्नि-

---

वाले अर्जुन, भीमसेन और नकुल सहदेव देखें क्या कहते हैं १० उस कोलाहलके बन्द होजाने पर भीमसेनने चन्दनचर्चित दिव्य मनोहर भुजाको उठाकर कहा ॥ ११ ॥ भीमसेन बोले, कि–यदि यह उदारचित्त धर्मराज हमारे कुलके कर्त्ता धर्त्ता नहीं होते तो हम कभी क्षमा नहीं करते ॥१२॥ यह हमारे पुण्य, तप और जीवन पर्यन्तके स्वामी हैं, यदि यह अपनेको हारा हुआ मानते हैं तब हम भी हारगए इसमें सन्देह ही क्या है ? ॥ १३ ॥ यदि मेरी प्रभुता होती तो यह पापात्मा क्या आज द्रौपदीके केशोंको खेंचकर और भूमि पर गिरा पैरोंसे ठुकराकर मेरे हाथसे जीता छूट जाता ? ॥ १४ ॥ मेरे इन खंभोंकी समान लंबे और मोटे भुजदण्डोंको देखो, इनके बीचमें आकर एक बारको इंद्र भी नहीं छूट सकता ॥ १५ ॥ परंतु क्या करूँ धर्मकी डोरीसे बँधा हुआ हूँ इसीसे मेरा भुजबल सबके देखनेमें नहीं आया, तथा अर्जुनने मुझे रोक दियो, इनका गौरव भी मुझे कुछ नहीं करने देता ॥ १६ ॥ यदि धर्मराज मुझे नेत्र चलाकर भी आज्ञा देदें तो जैसे सिंह क्षुद्र प्राणियोंके प्राणोंको नष्ट कर देता हैं, तिसीप्रकार मैं सहजमें ही मुहूर्त्तभरमें इन पापात्मा धृतराष्ट्रकुमारोंको अपनी हथेलियोंसे ही

ष्पिपेयन्तलासिभिः ॥१७॥ वैशम्पायन उवाच । तमुवाच तदा भीष्मो द्रोणो विदुर एव च । क्षम्यतामिदमित्येवं सर्वं संभाव्यते त्वयि १८

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीष्मवाक्य एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

कर्ण उवाच । त्रयः किलेमे सधनाः सभायां भीष्मः क्षत्ता कौरवाणां गुरुश्च । ये स्वामिनं दुष्टतमं वदन्ति वाञ्छन्ति वृद्धिं न च विक्षिपन्ति ॥१॥ त्रय किले मे ह्यधना भवन्ति दासः पुत्रश्चास्वतंत्रा च नारी । दासस्य पत्नी त्वधनस्य भद्रे हीनेश्वरे दासधनश्च सर्वम् ॥ २ ॥ प्रविश्य राज्ञः परिवारं भजस्व तत्ते कार्य्यं शिष्ट-मादिश्यतेऽत्र । ईशास्तु सर्वे तव राजपुत्रि भवन्ति वै धार्त्तराष्ट्रा न पार्थाः ॥ ३ ॥ अन्यं वृणीष्व पतिमाशु भाविनि यस्माद्दास्यं न लभसि देवनेन । अवाच्या वै पतिषु कामवृत्तिर्नित्यं दास्ये

पीसकर मार डालूं ॥१७॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे जन-मेजय ! उस समय भीमसेनकी क्रोधाग्निको बराबर प्रज्वलित होते देखकर भीष्म, द्रोण और विदुरने कहा, कि–हे भीम ! क्षमा करो तुमको कुछ कठिन नहीं है तुम सब कुछ करसकते हो ॥१८॥ एकोनसप्ततितम अध्याय समाप्त ॥ ६९ ॥ * ॥

कर्णने कहा, कि–हे भद्रे ! इस सभामें भीष्म, विदुर और कौरवोंके गुरु द्रोणाचार्य यह तीन धनवान् हैं यह अपने स्वामीको परमदुष्ट कहते हैं अपने २ धनकी वृद्धि करना चाहते हैं और उसको व्यय नहीं करते ॥१॥ दास, पुत्र और जो स्वतन्त्र न हो ऐसी स्त्री यह तीन निर्धन होते हैं, दासकी स्त्री और उसका सकल धन प्रभु के अधीन होता है ॥ २ ॥ मेरी समझमें अब तुम राजभवनमें जाकर राजपरिवारकी सेवा करो, हे राजकुमारी ! अब धृतराष्ट्रके पुत्र ही तुम्हारे प्रभु हैं पाण्डव तुम्हारे स्वामी नहीं हैं ॥ ३ ॥ अब जो पुरुष तुम्हें जुएमें हारकर फिर दासभावकी फाँसीमें न बांधे

विदितं तत्तथास्तु ॥ ४ ॥ पराजितो नकुलो भीमसेनो युधिष्ठिरः सहदेवार्जुनौ च । दासीभूता त्वं हि वै याज्ञसेनि पराजितास्ते पतयो नैव सन्ति ॥ ५ ॥ प्रयोजनं जन्मनि किन्न मन्यते पराक्रमं पौरुषं चैव पार्थः । पाञ्चालस्य द्रुपदस्यात्मजामिमां सभामध्ये यो व्यदेवीद् ग्लहेषु ॥ ६ ॥ वैशंपायन उवाच । तद्वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी भृशं निशश्वास तदार्त्तरूपः । राजानुगो धर्मपाशानुबद्धो दहन्निवैनं क्रोधसंरक्तदृष्टिः ॥ ७ ॥ भीमसेन उवाच । नाहं कुप्ये सूतपुत्रस्य राजन्नेष सत्यं दासधर्मप्रविष्टः । किं विद्विषो वै मामेवं व्याहरेयुर्नादेवीस्त्वं यद्यनया नरेन्द्र ॥ ८ ॥

ऐसे किसी दूसरे पतिको वरले क्योंकि—एकको पति बनाकर उसके साथ विहार करने वाली स्त्रीकी कोई निन्दा नहीं करता है और यह तो तुझे हार ही चुके इसकारण समझ रख कि—तुझे अब सदा दासीपनेमें ही रहना पड़ेगा ॥४॥ हे याज्ञसेनि ! युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन नकुल और सहदेव जुएमें हार गये हैं और तू दासी होगयी है यह पांचों भाई अब तेरे पति नहीं हैं ।५। देख युधिष्ठिरने अपनी जातिकी श्रेष्ठता तथा अपने पराक्रम और पुरुषार्थकी ओर जरा भी दृष्टि नहीं दी और उन्होंने इस सभामें द्रुपदकुमारी को जुएके दांव पर लगादिया ॥६॥ वैशंपायन कहते हैं, कि--परम क्रोधी भीमसेन कर्णकी इस बातका सुनकर पहिलेसे भी अधिक क्रोधमें भरगए परन्तु युधिष्ठिरके आज्ञाकारी और धर्मपाशमें बँधे होनेके कारण कुछ कर नहीं सकते थे इसकारण मनमें ही जलाते हुए लाल २ आँखें निकाल लंबे श्वास लेते हुए धर्मराजकी ओर को देखकर कहने लगे, कि--॥७॥ हे राजन् ! मुझे इस सूतपुत्र कर्णकी बातों से क्रोध नहीं आता है, क्योंकि--यथार्थमें ही हम दासभावको प्राप्त होगये हैं परन्तु विचार करके देखिये, कि—यदि आप द्रौपदीको दांवपर लगा कर जुआ नहीं खेलते तो क्या यह शत्रु हमें ऐसे कठोर वचन कहसकते थे ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच। भीमसेनवचः श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्तदा। युधिष्ठिरमुवाचेदं तूष्णीभूतमचेतनम् ॥ ९ ॥ भीमार्जुनौ यमौ चैव स्थितौ ते नृप शासने। प्रश्नं ब्रूहि च कृष्णां त्वामजितां यदि मन्यसे ॥ १० ॥ एवमुक्त्वा तु कौन्तेयमपोह्य वसनं स्वकम्। स्मयन्निवैक्ष्य पाञ्चालीमैश्वर्यमदमोहितः ॥ ११ ॥ कदलीदण्डसदृशं सर्वलक्षणसंयुतम्। गजहस्तप्रकाशं च वज्रप्रतिमगौरवम् ॥ ॥ १२ ॥ अभ्युत्स्मयित्वा राधेयं भीममाधर्षयन्निव। द्रौपद्याः प्रेक्षमाणायाः सव्यमूरुमदर्शयत् ॥ १३ ॥ भीमसेनस्तमालोक्य नेत्रे उत्फाल्य लोहिते। प्रोवाच राजमध्ये तं सभां विश्रावयन्निव ॥ १४ ॥ पितृभिः सह सालोक्यं मा स्म गच्छेद् वृकोदरः। यद्येतमूरुं गदया न भिन्द्यां ते महाहवे ॥ १५ ॥ क्रुद्धस्य तस्य

वैशंपायनजी कहते हैं, कि—भीमसेनकी इस बातको सुनकर राजा दुर्योधनने उस समय मौन और अचेतनसे हुए राजा युधिष्ठिरको पुकार कर कहा कि—॥ ९ ॥ हे राजन् ! भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव तुम्हारे वशमें हैं, अब तुम ही द्रौपदीके प्रश्नका उत्तर दो क्या तुम ऐसा मानते हो, कि—द्रौपदीको दाँव पर नहीं हारे हो ॥ १० ॥ ऐश्वर्यके मदमें मतवालेहुए पापात्मा दुर्योधनने धर्मराज युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर और कर्णकी ओरको मुसकुराकर मानो भीमसेनको लज्जित करनेके लिये, द्रौपदीको वस्त्र उघाड़ कर सर्वसुलक्षणोंसे युक्त वज्रकी समान दृढ़ कदलीके खंभेकी समान मोटी अपनी दाहिनी जंघा नंगी करके दिखाई ११–१३ महाक्रोधी भीमसेन इस बातको देखकर बड़े ही क्रोधमें भरगया और लाल २ आँखें निकाल कर ऊँचे स्वरसे सभामण्डपको गुंजारता हुआ सब राजाओंको सुनाकर कहने लगा, कि–१४ अरे दुर्योधन ! मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि—यदि महारणमें तेरी इस जंघाको गदासे न तोड़ दूं तो मुझ भीमसेनको अपने पूर्वपुरुषोंकी समान सद्गति न मिलै ॥ १५ ॥ जैसे जलतेहुए वृक्षकी कोटरों

सर्वेभ्यः स्रोतोभ्यः पावकार्चिषः । वृक्षस्येव विनिश्चेरुः कोटरेभ्यः प्रदहतः ॥ १६ ॥ विदुर उवाच । परं भयं पश्यत भीमसेनात्तद्बुध्यध्वं पार्थिवाः प्रातिपेयाः । दैवेरितो नूनमयं पुरस्तात् परोऽनयो भरतेषूदपादि ॥ १७ ॥ अतिद्यूतं कृतमिदं धार्त्तराष्ट्रा यस्मात् स्त्रियं विवदध्वं सभायाम् । योगक्षेमौ नश्यतो वः समग्रौ पापान्मन्त्रान् कुरवो मन्त्रयन्ति ॥ १८ ॥ इमं धर्मं कुरवो जानताशु ध्वस्ते धर्मे परिषत् संप्रदुष्येत् । इमाञ्चेत्पूर्वं कितवोऽग्लहीष्यदीशोऽभविष्यदपराजितात्मा ॥१९॥ स्वप्ने यथै-तद्धि जितं धनं स्यादेवं मन्ये यस्क दीव्यत्यनीशः । गान्धारराजस्य वचो निशम्य धर्मादस्मात् कुरवो मापयात ॥ २० ॥ दुर्योधन उवाच । भीमस्य वाक्ये तद्वदेवार्जुनस्य स्थितोऽहं वै यमयोश्च-

मेंसे अग्निकी लपटें निकला करती हैं तैसे ही क्रोधमें भरे हुए उस भीमसेनके सकल रोमकूपोंमेंसे चिनगारियें निकलनेलगीं ॥१६॥ उस समय विदुरजीने कहा, कि—अरे राजाओं ! देखो भीमसेन ने बड़ी भयानक प्रतिज्ञा करी है, निश्चय ही प्रतीत होता है, कि—प्रारब्धने ही भरतवंशमें इस बड़ी भारी अनीतिको रचा है॥१७॥ अरे धृतराष्ट्रकुमारो ! तुमने अन्यायसे द्यूत खेला है इसीसे सभा में स्त्रीके लिये विवाद कर रहे हो तुम्हारा योगक्षेम सर्वथा नष्ट होगया, तुम सब ही खोटी सम्मति किया करते हो ॥ १८ ॥ हे कौरवो ! सभामें अधर्माचरण होनेसे सब सभाको दोष लगता है, अब मेरी धर्मानुकूल बातको सुनो, देखो यदि युधिष्ठिर अपनेको हारनेसे पहिले द्रौपदीको पण रखकर खेलते तो यह अवश्य ही इसको हार सकते थे ॥१९॥ अब तो यह पहिले अपने शरीरको हार जानेके कारण द्रौपदीको पण रखनेका अधिकार ही नहीं रखते अतः अधिकार न होते हुए इनसे जीताहुआ द्रौपदीरूप धन स्वप्नमें जीते हुए धनकी समान है, इसकारण हे कौरवो ! तुम गांधारराज शकुनिकी बातें सुनकर धर्मसे भ्रष्ट न होओ॥ २० ॥ दुर्योधनने कहा, कि–हे द्रौपदि ! मैं तो भीमसेन, अर्जुन और

मेव । युधिष्ठिरन्ते भवदन्त्वनीशमयो दास्यान्मोक्ष्यसे याज्ञसेनि ॥२१॥ अर्जुन उवाच । ईशो राजा पूर्वमासीद्द ग्लहेन कुन्तीसुतो धर्मराजो महात्मा । ईशस्त्वयं कस्य पराजितात्मा तज्जानीध्वं कुरवः सर्व एव ॥२२॥ वैशम्पायन उवाच । ततो राज्ञो धृतराष्ट्रस्य गेहे गोमायुरुच्चैर्व्याहरदग्निहोत्रे । तं रासभाः प्रत्यभाषन्त राजन् समन्ततः पक्षिणश्चैव रौद्राः ॥ २३ ॥ तं वै शब्दं विदुरस्तत्त्ववेदी शुश्राव घोरं सुबलात्मजा च । भीष्मो द्रोणो गौतमश्चापि विद्वान् स्वस्ति स्वस्तीत्यपि चैवाहुरुच्चैः ॥ २४ ॥ ततो गान्धारी विदुरश्चापि विद्वांस्तमुत्पातं घोरमालक्ष्य राज्ञे । निवेदयामासतुरार्त्तवत्तदा ततो राजा वाक्यमिदं बभाषे ॥ २५ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । हतोऽसि दुर्योधन मन्दबुद्धे यस्त्वं सभायां कुरुपुङ्गवानाम् । स्त्रियं

नकुल सहदेवकी बात मानूंगा, यदि यह कहदें कि—द्रौपदीके ऊपर युधिष्ठिरका कुछ अधिकार नहीं है तो तू दासी बननेसे छूट जायगी ॥२१॥ यह सुनकर अर्जुनने कहा, कि—कुन्तीपुत्र महात्मा धर्मराज पहिले हम सबोंके प्रभु थे, परन्तु अब तुम सब कौरव इस बातको समझ देखो, कि—अपने आपेको हार जाने पर यह किसके स्वामी रहे ॥ २२ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे महाराज जनमेजय ! इस प्रकार प्रश्नोत्तर होरहे थे, कि-उसी समय महाराज धृतराष्ट्रकी अग्निहोत्रशालामें जोर २ से गीदड़ बोलनेलगे और उन गीदड़ोंका शब्द सुनते ही गधे भी रेंकनेलगे तथा चारों ओरसे भयसूचक पक्षी भी बोलनेलगे॥ २३ ॥ तत्त्वज्ञानी विदुर और गांधारीने उस घोर शब्दको सुना, विद्वान् भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य भी उस शब्दको सुनकर स्वस्ति २ कहनेलगे ॥ २४ ॥ तदनन्तर इस उत्पातको देखनेवाले विद्वान् विदुर और गांधारीने घबड़ाकर धृतराष्ट्रसे कहा, तब उन्होंने यह बात कही ॥ २५ ॥ धृतराष्ट्र दुर्योधनको ललकारते हुए कहनेलगे कि-अरे विनयहीन मूढ़बुद्धि दुर्योधन ! तू तो एकसाथ ही नष्ट

समाभाषसि दुर्विनीत विशेषतो द्रौपदीं धर्मपत्नीम् ॥ २६ ॥ एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी, हितान्वेषी बान्धवानामपायात् । कृष्णां पाञ्चालीमब्रवीत् सान्त्वपूर्वं विमृश्यैतत् प्रज्ञया तत्त्वबुद्धिः ॥ २७ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । वरं वृणीष्व पाञ्चालि मत्तो यदभिवाञ्छसि । वधूनां हि विशिष्टा मे त्वं धर्मपरमा सती ॥२८ ॥ द्रौपद्युवाच । ददासि चेद्वरं मह्यं वृणोमि भरतर्षभ । सर्वधर्मानुगः श्रीमानदासोऽस्तु युधिष्ठिरः ॥ २९॥ मनस्विनमजानन्तो मैवं ब्रूयुः कुमारकाः । एष वै दासपुत्रो हि प्रतिविन्ध्यं ममात्मजम् ॥ ३० ॥ राजपुत्रः पुरा भूत्वा यथा नान्यः पुमान् क्वचित् । राजभिर्लालितस्यास्य न युक्ता दासपुत्रता ॥ ३१ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । एवं भवतु कल्याणि यथा त्वमभिभाषसे । द्वितीयं ते वरं भद्रे ददानि

होगया, कि--जो तू कुरुकुलकी स्त्री और विशेष कर पांडवोंकी धर्मपत्नीको सभामें लाकर उससे बातें कररहा है ॥ २६ ॥ बुद्धिमान् धृतराष्ट्रने ऐसा कहकर इस विपत्तिमेंसे बांधवोंको बचानेकी इच्छासे कुछ देर मनमें विचारकर द्रौपदीको समझाते हुए कहा, २७ धृतराष्ट्र बोले कि--हे द्रौपदि ! तू मुझसे अपनी इच्छानुसार वर मांगले, तू परम पतिव्रता और मेरी पुत्रवधुओंमें,सबसे श्रेष्ठ है २८ द्रौपदीने कहा, कि--हे भरतकुलदीपक ! यदि आप मुझे वरदान देते हैं तो मैं यह मांगती हूं, कि--यह सदा धर्मके अनुगामी श्रीमान् युधिष्ठिर दासभावसे छूटजायँ ॥२९॥जिससे कि-आपके पुत्र अब आगेको इन्हें दास न कहें और यह मेरा पुत्र प्रतिविन्ध्य दासपुत्र न कहलावे ॥ ३० ॥ क्योंकि--प्रतिविंध्य राजपुत्र है, तिसपरभी राजाओंने इसको लाड़ लड़ाया है, इसका दासपुत्र होना अनुचित है और पहिले अन्य किसी राजपुत्रकी ऐसी दशा कभी हुई भी नहीं है ३१ ॥ यह सुनकर धृतराष्ट्रने कहा, कि-हे कल्याणि ! तू जैसा कहरही है, ऐसा ही होगा, मैं तुझे दूसरा वर और देना चाहता हूं उसको भी मांगले, मेरा मन कहता है, कि--तू

वरयस्व ह । मनो हि मे वितरति नैकं त्वं वरमर्हसि ॥ ३२ ॥ द्रौपद्युवाच । सरथौ सधनुष्कौ च भीमसेनधनञ्जयौ । यमौ च च वरये राजन्नदासान्स्ववशानहम् ॥ ३३ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । तथास्तु ते महाभागे यथा त्वं नन्दिनीच्छसि । तृतीयं वरयास्मत्तो नासि ताभ्यां सुसत्कृता । त्वं हि सर्वस्नुषाणां मे श्रेयसा धर्मचारिणी ॥३४॥ द्रौपद्युवाच । लोभो धर्मस्य नाशाय भगवन्नाहमुत्सहे । अनर्हा वरमादातुं तृतीयं राजसत्तम ॥ ३५ ॥ एकमाहुर्वैश्यवरं द्वौ तु क्षत्रियस्त्रियो वरौ । त्रयस्तु राज्ञो राजेन्द्र ब्राह्मणस्य शतं वराः ॥ ३८ ॥ पापीयांस इमे भूत्वा संतीर्णाः पतयो मम । वेत्स्यन्ति चैव भद्राणि राजन् पुण्येन कर्मणा ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीवरलाभे सप्ततितमोऽध्यायः ॥७०॥

एक वर पानेके योग्य नहीं है ॥ ३२ ॥ द्रौपदीने कहा, कि-रथ और धनुषसहित भीमसेन और अर्जुन तथा नकुल और सहदेव भी दासभावसे छूटकर स्वाधीन होजायँ यही दूसरा वर मैं माँगती हूं ॥ ३३ ॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि-हे महाभागे ! मैं तेरी अभिलाषा के अनुसार यह वरदान भी देता हूं, इन दो वरोंसे ही तेरा उचित सत्कार नहीं हुआ, इसकारण तीसरा वर और माँग क्योंकि-तू मेरी सब पुत्रवधुओंमें श्रेष्ठ और धर्मचारिणी है ॥ ३४ ॥ द्रौपदीने कहा, कि-हे महाराज ! अधिक लोभ करनेसे धर्मका नाश होजाता है इसकारण तीसरा वर माँगनेके लिये मेरे चित्तमें उत्साह नहीं होता और तीसरा वर माँगनेका मुझे अधिकार भी नहीं है ॥ ३५ ॥ क्योंकि-शास्त्रमें कहा है, कि-वैश्यको एक वर क्षत्रिय की स्त्रीको दो वर राजाको तीन वर और ब्राह्मणको सौ वर लेने का अधिकार है ॥ ३६ ॥ इससमय मेरे पति दासभावरूप दारुण पापपङ्कमें मग्न होकर फिर उसके पार होगए, अब यह पुण्यकर्म करके उसके प्रभावसे बहुतसे शुभ पदार्थ पाजायँगे ॥ ३७ ॥ सप्ततितम अध्याय समाप्त ॥ ७० ॥ * ॥ * ॥

कर्ण उवाच। या नः श्रुता मनुष्येषु स्त्रियो रूपेण सम्मताः। तासामेतादृशं कर्म न कस्याश्च न शुश्रुम ॥ १ ॥ क्रोधाविष्टेषु पार्थेषु धार्त्तराष्ट्रेषु चाप्यति। द्रौपदी पाण्डुपुत्राणां कृष्णा शान्तिरिहाऽभवत् ॥ २ ॥ अप्लवेऽम्भसि मग्नानामप्रतिष्ठे निमज्जताम्। पाञ्चाली पाण्डुपुत्राणां नौरेषा पारगाऽभवत् ॥ ३ ॥ वैशंपायन उवाच। तद्वै श्रुत्वा भीमसेनः कुरुमध्येऽत्यमर्षणः। स्त्री गतिः पाण्डुपुत्राणामित्युवाच सुदुर्मनाः ॥ ४ ॥ भीम उवाच। त्रीणि ज्योतींषि पुरुष इति वै देवलोऽब्रवीत्। अपत्यं कर्म विद्या च यतः सृष्टाः प्रजास्ततः ॥५॥ अमेध्ये वै गतप्राणे शून्ये ज्ञातिभिरुज्झिते। देहे त्रितयमेवैतत्पुरुषस्योपयुज्यते ॥ ६ ॥ तन्नो ज्योतिरभिहतं दाराणामभिमर्शनात्। धनञ्जय कथं स्वित् स्यादपत्यमभिमृष्टजम् ॥ ७ ॥ अर्जुन उवाच। न चैवोक्ता नवानुक्ता हीनतः

कर्णने कहा, कि-हमने जिन परमरूपवती स्त्रियोंकी कथा सुनी है उनमेंसे किसी स्त्रीका भी ऐसा कर्म नहीं सुना ॥ १ ॥ पाण्डव और कौरव सब बड़ेभारी क्रोधमें होरहे थे परन्तु पाण्डवोंके लिये द्रौपदी शांतिरूपिणी होगई ॥ २ ॥ पाण्डव दुस्तर जलमें डूबे जाते थे द्रौपदीने नौका बनकर उनको पार लगा दिया ॥ ३ ॥ वैशंपायनजी कहते हैं, कि-कौरवोंके मध्यमें बैठा हुआ परमक्रोधी भीमसेन कर्णकी इस बातको सुनकर मनमें दुःखित होता हुआ कहनेलगा, कि-हा! पाण्डवोंने स्त्रीसे रक्षा पाई ॥ ४ ॥ भीमसेन ने अर्जुनसे कहा, कि—देवल ऋषिने कहा है, कि—जब प्राणहीन होनेपर पुरुषको सम्बन्धी और जातिवाले त्याग देते हैं तब सन्तान, कर्म और विद्या यह ज्योतियें उसकी सहायता करती हैं क्योंकि—सब प्रजाएं इनसे ही रची गई है ॥ ५ ॥ इस समय हमारी धर्मपत्नी द्रौपदीको दुःशासनने अप्रतिष्ठा करके तेजोहीन करदिया है, हे धनञ्जय! इससे उत्पन्न हुई सन्तान ज्योतियोंमें कैसे गिनीजायगी ? ॥७॥ अर्जुनने कहा, कि-हे भरतकुलभूषण!

परुषा गिरः । भारत प्रतिजल्पन्ति तदा तूत्तमपूरुषाः ॥८॥ स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि । सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्धसम्भावनाः स्वयम् ॥ ९॥ भीम उवाच। इहैवैतांस्त्वहं सर्वान् हन्मि शत्रून् समागतान् । अथ निष्क्रम्य राजेन्द्र समूलान् हन्मि भारत। ॥ १० ॥ किं नो विवदितेनेह किमुक्तेन च भारत । अद्यैवैतान्निहन्मीह प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ॥ ११ ॥ इत्युक्त्वा भीमसेनस्तु कनिष्ठैर्भ्रातृभिः सह । मृगमध्ये यथा सिंहो मुहुर्मुहुरुदैक्षत ॥१२॥ सान्त्वमानो वीक्ष्यमाणः पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा। खिद्यत्येव महाबाहुरन्तर्दाहेन वीर्यवान् ॥ १३ ॥ क्रुद्धस्य तस्य स्रोतोभ्यः कर्णादिभ्यो नराधिप । स धूमः सस्फुलिङ्गार्चिः पावकः समजायत

नीच पुरुष किसीको कठोर वचन कहें चाहे न कहें श्रेष्ठ पुरुष उन के कथनको लेकर चर्चा नहीं करते हैं ॥ ८ ॥ सज्जन केवल सत्कर्मोंका ही स्मरण किया करते हैं कोई वैरके काम करै तो भी उसको चित्त पर कभी नहीं लाते क्योंकि-किसीके दुर्वचन कहने से उनकी प्रतिष्ठामें दोष नहीं लगता ॥ ९ ॥ अर्जुनके इतना कह चुकने पर भीमसेनने युधिष्ठिरसे कहा, कि-हे राजेन्द्र ! हमारे जो शत्रु यहां आये हैं उनको इसी स्थानपर अथवा यहांसे निकलते ही मारडालूंगा ॥ १० ॥ अथवा हमको विवाद करने या बातें करनेकी क्या आवश्यकता है ? आज इस सभामें ही सब शत्रुओं को यमराजके हाथमें सौंपे देता हूं, आप निष्कण्टक होकर इस पृथिवीका शासन करिये ॥ ११ ॥ भीमसेन ऐसा कहकर छोटे भाइयों सहित, मृगोंके झुंडमें सिंहकी समान बार २ इधर उधर को देखनेलगा ॥ १२ ॥ अपने कामसे किसीको कष्ट न पहुंचाने वाले युधिष्ठिरने यह दशा देखकर भीमसेनको शांत किया, तब वह महाबाहु वीर भीमसेन अपने हृदयमें ही भस्म होता हुआ इधर उधरको देखनेलगा ॥१३॥ हे महाराज ! क्रोधके मारे उसके कान आदि शरीरके छिद्रोंमेंसे मानो धुआं,चिनगारियें और लपटों

॥ १४ ॥ भ्रुकुटीकृतदुष्प्रेक्ष्यमभवत्तस्य तन्मुखम् । युगान्तकाले संप्राप्ते कृतान्तस्येव रूपिणः ॥ १५ ॥ युधिष्ठिरस्तमावार्य्य बाहुना बाहुशालिनम् । नैवमित्यब्रवीच्चैनं जोषमास्स्वेति भारत ॥ १६ ॥ निवार्य्य च महाबाहुं कोपसंरक्तलोचनम् । पितरं समुपातिष्ठद् धृतराष्ट्रं कृताञ्जलिः ॥ १७ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥ छ

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीमक्रोध एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

युधिष्ठिर उवाच । राजन् किं करवामस्ते प्रशाध्यस्मांस्त्वमीश्वरः । नित्यं हि स्थातुमिच्छामस्तव भारत शासने ॥ १ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । अजातशत्रो भद्रं ते अरिष्टं स्वस्ति गच्छत । अनुज्ञाताः सहधनाः स्वराज्यमनुशासत ॥ २ ॥ इदञ्चैवावबोद्धव्यं वृद्धस्य मम शासनम् । मया निगदितं सर्वं पथ्यं निःश्रेयसं परम् ॥ ३ ॥ वेत्थ त्वं तात

सहित आग निकलनेलगी ॥ १४ ॥ भौंएं चढ़ाहुआ भीमसेनका मुख, प्रलयकालमें शरीरधारी यमराजके मुखकी समान भयानक दीखता था ॥ १५ ॥ हे महाराज ! तब युधिष्ठिरने उस महाबाहु भीमसेनको हाथमें पकड़कर बैठाला और कहा, कि—ऐसी बातें न करो, मौन बैठे रहो ॥ १६ ॥ क्रोधसे लाल २ नेत्रोंवाले महाबाहु भीमसेनको इसप्रकार समझाकर युधिष्ठिर हाथ जोड़े हुए चचा धृतराष्ट्रके पास गए ॥ १७ ॥ एकसप्ततितम अध्याय समाप्त ७१

युधिष्ठिरने कहा, कि—हे महाराज ! आज्ञा दीजिये, अब हम क्या करें, आप हमारे प्रभु हैं, हम चिरकाल तक आपकी आज्ञा में ही रहना चाहते हैं ॥ १ ॥ धृतराष्ट्र ने कहा, कि—हे अजातशत्रो ! तुम्हारा कल्याण हो, सदा आनन्दसे रहो, तुम सब धन लेकर जाओ और राज्यका पालन करो ॥ २ ॥ बस मुझ बूढ़ेकी यही आज्ञा है मेरी कही हुई सब बात हित और परममङ्गलरूप है ॥ ३ ॥ हे तात युधिष्ठिर ! तुम धर्मकी सूक्ष्म गतिको जानते हो,

धर्माणां गतिं सूक्ष्मां युधिष्ठिर। विनीतोऽसि महाप्राज्ञ वृद्धानां पर्युपासिता ॥ ४ ॥ यतो बुद्धिस्ततः क्षान्तिः प्रशमं गच्छ भारत। नादारुणि पतेच्छस्त्रं दारुण्येतन्निपात्यते ॥ ५ ॥ न वैराण्यभिजानन्ति गुणान् पश्यन्ति नागुणान्। विरोधं नाधिगच्छन्ति ये त उत्तमपूरुषाः ॥ ६ ॥ स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि। सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ते प्रतिक्रियाम् ॥ ७ ॥ संवादे परुषाण्याहुर्युधिष्ठिर नराधमाः। प्रत्याहुर्मध्यमास्त्वेतानुक्ताः परुषमुत्तरम् ॥ ८ ॥ न चोक्ता नैव चानुक्तास्त्वहिताः परुषा गिरः। प्रतिजल्पन्ति वै धीराः सदा तूत्तमपूरुषाः ॥ ९ ॥ स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि। सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्ध्वा प्रत्ययमात्मनः ॥ १० ॥ असम्भिन्नार्यमर्यादाः साधवः प्रियदर्शनाः।

हे परमप्रवीण! तुम बड़े नम्र और वृद्धोंके सेवक हो ॥ ४ ॥ हे भारत! जहाँ बुद्धि है तहाँ ही क्षमा है, इस कारण तुम शान्ति को धारण करो, दृढ़ काठके ऊपर ही शस्त्र पड़ता है, अन्य स्थान पर शस्त्र नहीं ठहर सकता ॥ ५ ॥ जो वैर करना ही नहीं जानते, दोषोंकी ओरको न देखकर केवल गुणोंको ही देखते हैं और किसीसे विरोध नहीं करते वह ही उत्तमपुरुष हैं ॥ ६ ॥ सत्पुरुष केवल सत्कर्मोंकी ओर ही दृष्टि देते हैं, कोई वैर करे तो भी उसको स्मरण नहीं रखते, शत्रुका भी उपकार ही करते हैं, उससे बदला लेनेका उद्योग नहीं करते ॥ ७ ॥ हे युधिष्ठिर! नीच पुरुष साधारण वार्तोंमें कठोर वचन कहने लगते हैं, वह मध्यम पुरुष हैं जो किसीके कठोर वचन कहने पर उसको कठोर वचनसे ही उत्तर देते हैं ॥ ८ ॥ और जो उत्तम पुरुष हैं वह कोई कठोर वचन कहै चाहे न कहै सदा धीरतासे ही उत्तर देते हैं ॥ ९ ॥ सज्जन पुरुष शत्रुओंके कियेहुए सत्कर्मोंका ही स्मरण रखते हैं, वैरभावकी बात उनके हृदय पर ठहरती ही नहीं ॥ १० ॥ साधुपुरुष किसी दशामें भी अपनी मर्यादाके बाहर नहीं जाते और उनको देखते ही सब

तथाचरितमार्येण त्वयास्मिन् सत्समागमे ॥ ११ ॥ दुर्योधनस्य पारुष्यं तत्तात हृदि मा कृथाः। मातरञ्चैव गान्धारीं माञ्च त्वं गुणकांक्षया ॥ १२ ॥ उपस्थितं वृद्धमन्धं पितरं पश्य भारत। मेत्तापूर्वं मया द्यूतमिदमासादुपेक्षितम् ॥ १३ ॥ मित्राणि द्रष्टुकामेन पुत्राणां च बलाबलम्। अशोच्याः कुरवो राजन् येषां त्वमनुशासिता १४ मन्त्री च विदुरो धीमान् सर्वशास्त्रविशारदः। त्वयि धर्मोऽर्जुने धैर्यं भीमसेने पराक्रमः ॥ १५ ॥ श्रद्धा च गुरुशुश्रूषा यमयोः पुरुषाग्रययोः। अजातशत्रो भद्रं ते खाण्डवप्रस्थमाविश। भ्रातृभिस्तेऽस्तु सौभ्रात्रं धर्मे ते धीयतां मनः ॥१६॥ वैशम्पायन उवाच। इत्युक्तो भरतश्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः। कृत्वार्य्यसमयं सर्वं प्रतस्थे भ्रातृभिः सह ॥ १७ ॥ ते रथान् मेघसङ्काशानास्थाय सह कृष्णया।

लोग प्रसन्न होजाते हैं, सो तुमने भी अपनी श्रेष्ठताकी ओर ध्यान देकर वैसा ही वर्त्ताव किया है ॥ ११ ॥ सो हे तात ! अब तुम मुझ वृद्ध और माता गांधारी की ओरको देखकर इस दुर्योधनकी निठुराईको अपने हृदयसे निकालदो ॥ १२ ॥ हे भारत ! इस अपने बूढ़े अन्धे चचाकी ओरको देखो मैंने इस द्यूतक्रीड़ाको देखतेहुए भी उपेक्षा करी ॥ १३ ॥ केवल मित्रों की परीक्षा और और पुत्रोंका बलाबल देखनेके लिये ही मैंने द्यूत होनेकी आज्ञा दी थी, हे तात ! जिनके तुम शासनकर्त्ता, और सर्वशास्त्रप्रवीण बुद्धिमान् विदुर मन्त्री हैं उन कौरवोंको किस बातका शोक होसकता है ? तुममें धर्म अर्जुनमें धीरता और भीमसेनमें पराक्रम है ॥ १४—१५ ॥ सकल पुरुषोंमें श्रेष्ठ नकुल सहदेव गुरुजनोंके परम आज्ञाकारी हैं, हे अजातशत्रो ! तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम खाण्डवप्रस्थको जाओ ॥ १६ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! भरतकुलभूषण धर्मराज युधिष्ठिर, धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर सबप्रकारका शिष्टाचार दिखाकर भ्राताओं सहित तहांसे चलदिये ॥१७॥ वह सब द्रौपदी सहित मेघकी समान शब्द करनेवाले रथोंमें बैठकर मनमें प्रसन्न

मथयुर्हृष्टमनस इन्द्रप्रस्थं पुरोत्तमम् ॥ १८ ॥ ॥ छ ॥ छ

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि खाण्डवप्रस्थ-
प्रस्थाने द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

॥ समाप्तश्च द्यूतपर्व ॥

अथानुद्यूतपर्व ।

जनमेजय उवाच । अनुज्ञातांस्तान् विदित्वा सरत्नधनसञ्चयान् । पाण्डवान् धार्त्तराष्ट्राणां कथमासीन्मनस्तदा ॥ १ ॥ वैशम्पायन उवाच । अनुज्ञातांस्तान् विदित्वा धृतराष्ट्रेण धीमता । राजन् दुःशासनः क्षिप्रं जगाम भ्रातरं प्रति ॥२॥ दुर्योधनं समासाद्य सामात्यं भरतर्षभ । दुःखार्त्तो भरतश्रेष्ठं इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥ दुःशासन उवाच । दुःखेनैतत् समानीतं स्थविरो नाशयत्यसौ । शत्रुसात् गमयन् द्रव्यं तद् बुध्यध्वं महारथाः ॥ ४ ॥ अथ दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः । मिथः सङ्गम्य सहिताः पाण्डवान् प्रति

होते हुए अपने सुन्दर नगर इन्द्रप्रस्थको चले गए।१८॥ द्विसप्ततितम अध्याय समाप्त॥ ७२ ॥ छ ॥ छ ॥

जनमेजयने कहा, कि—हे ब्रह्मन्! धृतराष्ट्रने धन और रत्नसमूहों सहित पाण्डवोंको जानेकी आज्ञा देदी, इसबातको जानकर धृतराष्ट्रके पुत्रोंके मनकी क्या दशा हुई ॥१ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-हे राजन् जनमेजय! बुद्धिमान् धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको धनसहित जानेकी आज्ञा देदी, इस बातको सुनते ही दुःशासन अपने भाई दुर्योधनके पास गया ॥ २ ॥ हे महाराज ! मंत्रीके साथ बैठेहुए दुर्योधनके पास जाकर उसने मनमें दुःखित होते हुए यह बात कही ॥ ३ ॥ दुःशासन बोला, कि—हमारे बड़े कष्टसे पाये हुए धनको यह बूढ़ा राजा नष्ट करे देता है हे महारथो ! वह सब धन शत्रुओंके हाथमें चलागया, अब इसमें जो कुछ भलाई बुराई हो उसको सोच लो ॥ ४ ॥ यह सुनते ही दुर्योधन, कर्ण और सुबल नंदन शकुनि पाण्डवोंके प्रति बड़ा अभिमान करते हुए शीघ्रताके

मानिनः ॥ ५ ॥ वैचित्रवीर्यं राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् । अभि-
गम्य त्वरायुक्ताः श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन् ॥ ६ ॥ दुर्योधन उवाच ।
न त्वयेदं श्रुतं राजन् यज्जगाद बृहस्पतिः । शक्रस्य नीतिं प्रवदन्
विद्वान् देवपुरोहितः ॥ ७ ॥ सर्वोपायैर्निहन्तव्या शत्रवः शत्रुसूदन ।
पुरा युद्धाद्बलाद्वापि ये कुर्वन्ति सदाहितम् ॥ ८ ॥ ते वयं पांडव-
धनैः सर्वान् सम्पूज्य पार्थिवान् । यदि तान्योधयिष्यामः किं वै
नः परिहास्यति ॥ ९ ॥ अहीनाशीविषान् क्रुद्धान्नाशाय समु-
पस्थितान् । कृत्वा कण्ठे च पृष्ठे च कः समुत्स्रष्टुमर्हति ॥ १० ॥
आत्तशस्त्रा रथगताः कुपितास्तात पाण्डवाः । निःशेषं वः करि-
ष्यन्ति क्रुद्धा ह्याशीविषा इव ॥ ११ ॥ सन्नद्धो ह्यर्जुनो याति
विवृत्य परमेषुधी । गांडीवं मुहुरादत्ते निःश्वसंश्च निरीक्षते ॥१२॥

साथ बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रके पास पहुंचे और विनयके साथ यह बात बोले ॥ ५ ॥ ६ ॥ दुर्योधनने कहा, कि–हे राजन्! क्या तुमने यह नहीं सुना है, कि जो देवताओंके पुरोहित विद्वान् बृहस्पतिजीने स्वर्गपति इन्द्रको उपदेश देते समय कहा था, कि-७ हे शत्रुनाशन! सकल उपायोंसे शत्रुओंका नाश ही करदेना ठीक है, क्योंकि—वह युद्ध करके और बल दिखाकर हानि पहुंचाने की चेष्टा करते हैं ॥ ८ ॥ इस कारण यदि इससमय हम पाण्डवों से पायेहुए धनसे ही राजाओंको प्रसन्न करके युद्ध करनेके लिये तयार कर देते तो इसमें हमारी क्या हानि थी? ॥ ९ ॥ देखिये, प्राण लेनेको तयार और क्रोधमें भरे सर्पोंको कंठमें वा पीठपर रखकर कौन रक्षा पासकता है? ॥ १० ॥ हे महाराज! पांडव भी सर्पोंकी समान ही क्रोधमें भर रहे हैं वह जिस समय शस्त्र धारण कियेहुए रथोंमें बैठकर आवेंगे उस समय सबको ही मारडालेंगे, एकको भी जीता नहीं छोड़ेंगे ॥ ११ ॥ हमने सुना है, कि—अर्जुन कवच पहरकर और तरकस लगाकर युद्धके लिये तयार है बार २ गांडीव धनुषको हाथमें लेता है और

गदां गुर्वीं समुद्यम्य त्वरितश्च वृकोदरः स्वरथं योजयित्वाशु निर्यातं इति नः श्रुतम् ॥ १३ ॥ नकुलः खड्गमादाय चर्म चाप्यर्द्धचन्द्रवत् सहदेवश्च राजा च चक्रुराकारमिङ्गितैः ॥ १४ ॥ ते त्वास्थाय रथान् सर्वे बहुशस्त्रपरिच्छदान् । अभिघ्नन्तो रथव्रातान् सेनायोगाय निर्ययुः ॥ १५ ॥ न क्षंस्यन्ते तथास्माभिर्जातु विप्रकृता हि ते । द्रौपद्याश्च परिक्लेशं कस्तेषां क्षन्तुमर्हति ॥१६॥ पुनर्दीव्याम भद्रन्ते वनवासाय पाण्डवैः । एवमेतान् वशे कर्तुं शक्ष्यामः पुरुषर्षभ १७ ते वा द्वादशवर्षाणि वयं वा द्यूतनिर्जिताः । प्रविशेम महारण्य-मजिनैः प्रतिवासिताः ॥ १८ ॥ त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम् । ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥ १९ ॥ निवसेम वयं ते वा तथा द्यूतं प्रवर्त्तताम् । अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमिदं

लंबे२ श्वास लेता हुआ इधर उधरको देखता है और भीमसेन तो अपनी बड़ीभारी गदाको ले शीघ्र ही रथको जोड़कर चल दिया है ॥ १२ ॥१३॥ नकुल भी तलवार और आधे चन्द्रमाकी समान ढालको लेकर चला है तथा सहदेव और युधिष्ठिर भी तो ऐसा ही आकार और चेष्टा कररहे हैं॥१४॥ यह सब ही अस्त्र शस्त्र लेकर अपने रथोंको दौड़ातेहुए सेना इकट्ठी करनेको निकल पड़े हैं १५ हमने एकवार उनसे प्रतिकूलता कर ली है, वह अब हमें क्षमा नहीं करेंगे, द्रौपदीको जो क्लेश पहुंचा है उसको उन पाँचोंमेंसे एक भी नहीं सह सकता ॥१६॥ हे महाराज! हम तो वनवास का दाँव लगाकर पाण्डवोंके साथ फिर चौसर खेलेंगे, आपका कल्याण होगा और इसप्रकार हम उनको अपने वशमें कर सकेंगे ॥ १७ ॥ हम या वह जो जुएमें हारजायं वारह वर्ष पर्यन्त मृग-छाला ओढ़कर वनमें रहें ॥ १८ ॥ और तेरहवें वर्षमें किसी नगरमें ऐसे छुपकर रहें, कि—कोई जान न लेय, यदि कोई जानजाय कि–यह पाण्डव या कौरव हैं तो फिर वारह वर्ष पर्यन्त वनमें रहें, इस प्रतिज्ञा पर द्यूत खेलनेकी आप आज्ञा देदीजिये,

कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥ २० ॥ एतत् कृत्यतमं राजन्नस्माकं भरतर्षभ । अयं हि शकुनिर्वेद सविद्यामक्षसम्पदम् ॥ २१ ॥ दृढमूला वयं राज्ये मित्राणि परिगृह्य च । सारवद्विपुलं सैन्यं सत्कृत्य च दुरासदम् २२ ते च त्रयोदशं वर्षं पारयिष्यन्ति चेद् व्रतम् । जेष्यामस्तान् वयं राजन् रोचतां ते परन्तप ॥ २३ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । तूर्णं प्रत्यानयस्वैतान् कामं व्यध्वगतानपि । आगच्छन्तु पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥ २४ ॥ वैशम्पायन उवाच । ततो द्रोणः सोमदत्तो बाह्लीकश्चैव गौतमः । विदुरो द्रोणपुत्रश्च वैश्यापुत्रश्च वीर्यवान् २५ भूरिश्रवा शान्तनवो विकर्णश्च महारथः । मा द्यूतमित्यभाषन्त शमोऽस्त्विति च सर्वशः ॥ २६ ॥ अकामानाञ्च सर्वेषां सुहृदामर्थ-

मिससे, कि-पांडव फिर फाँसे डालकर हमारे साथ चौसर खेलैं ॥ १६ ॥ २० ॥ हे महाराज ! इस समय हमारा यह बहुत ही आवश्यक काम है और फाँसे डालनेकी विद्यामें यह हमारे मामा शकुनि परमचतुर हैं ही ॥ २१ ॥ यदि पांडव तेरह वर्षके इस नियमको पूरा भी कर लेंगे तो इतने समयमें हम बहुतसे राजाओं को अपना मित्र बनालेंगे, बड़े सत्कारके साथ महाबली योधाओं की बहुतसी सेना इकट्ठी कर लेंगे, इसकारण पांडवोंको युद्धमें भी जीत लेंगे, सो हे महाराज ! आप हमारी इस बातको मान लीजिये ॥२२ ॥ २३ ॥ यह सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा, कि—हे बेटा ! यदि ऐसा है तो चाहे दूर निकल गए हों तब भी पांडवोंको शीघ्र ही दूत भेज कर बुलालो, वह आजायँ तो इस प्रतिज्ञा पर फिर खेल हो ॥ २४ ॥ वैशंपायन कहते हैं, कि—इस बातको सुनकर द्रोणाचार्य, सोमदत्त, बाह्लीक, कृपाचार्य, विदुर, द्रोणपुत्र, अश्वत्थामा, वीर युयुत्सु, भूरिश्रवा, शंतनुकुमार भीष्मजी और महारथी विकर्ण इन सबोंने ही कहा कि—शांति रक्खो अब द्यूत मत खेलो ॥ २५—२६ ॥ परन्तु उस समय पुत्र पर प्रेम करने वाले महाराज धृतराष्ट्रने परिणामदर्शी सकल मित्रोंकी इच्छा न

दर्शिनाम् । अकरोत् पाण्डवाह्वानं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वण्यनुद्यूतपर्वणि पुन-
र्युधिष्ठिराह्वाने त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

वैशम्पायन उवाच । अथाब्रवीन्महाराज धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् । पुत्रहार्दाद्धर्मयुक्ता गान्धारी शोककर्षिता ॥ १ ॥ जाते दुर्योधने क्षत्ता महामतिरभाषत । नीयतां परलोकाय साध्वयं कुलपांसनः २ व्यनदज्जातमात्रो हि गोमायुरिव भारत । अन्तो नूनं कुलस्यास्य तन्निबोधत भारत ॥ ३ ॥ मा निमज्जीः स्वदोषेण महाप्सु त्वं हि भारत । मा बालानामशिष्टानामभिमंस्था मतिं प्रभो ॥ ४ ॥ मा कुलस्य क्षये घोरे कारणं त्वं भविष्यसि । बद्धं सेतुं कोऽनु भिन्द्या-द्धमेच्छान्तञ्च पावकम् ॥ ५ ॥ शमे स्थितान् कोऽनु पार्थान् कोपये-द्भरतर्षभ । स्मरन्तं त्वामाजमीढ स्मारयिष्याम्यहं पुनः ॥ ६ ॥

हाने पर भी, किसीकी बात न मानकर जुआ खेलनेके लिये पाण्डवोंको फिर बुलवाया ॥२७॥ त्रिसप्ततितम अध्याय समाप्त७३

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-हे महाराज ! तदनंतर शोकमें मग्न हुई धर्मपरायणा गान्धारीने पुत्रके प्रेमवश राजा धृतराष्ट्रसे कहा, कि—॥ १ ॥ दुर्योधनका जन्म होनेके समय महामति विदुर-जीने कहा था, कि—इस कुल कलङ्कको परलोकवासी करदो ॥ २ ॥ क्योंकि—हे भारत ! यह उत्पन्न होते ही गीदड़की समान रोया है, अतः यह अवश्य ही इस कुलका नाश करेगा ॥ ३ ॥ इसकारण हे नाथ ! आप अपने दोषसे सबोंको विपत्तिके सागरमें मत डुबाइये, इन विनयहीन बालकोंकी हाँ में हाँ न मिलाइये ॥ ४ ॥ आप इस कुलका नाश करने वाले खोटे काममें कारण मत बनिये, बँधे हुए पुलको जानकर कौन तोड़ा करता है? ऐसा करनेसे यह बुझीबुझाई अग्नि फिर बल उठेगी ॥ ५॥ हे महाराज ! शांतिमें स्थित, किसीसे विरोध न करनेवाले पाण्डवों को क्रोध दिलाना ठीक नहीं है, हे महाराज ! इस बातको आप जानते ही हैं, तथापि मैंने और स्मरण दिला दिया है ॥ ६ ॥ हे

शास्त्रं न शास्ति दुर्बुद्धिं श्रेयसे चेतराय च । न वै वृद्धो बाल-मतिर्भवेद्राजन् कथञ्चन ॥ ७ ॥ त्वन्नेत्राः सन्तु ते पुत्रा मा त्वां दीर्णाः प्रहासिषुः । तस्मादयं मद्वचनात्त्यज्यतां कुलपांसनः ॥८॥ तथा तेन कृतं राजन् पुत्रस्नेहान्नराधिप । तस्य प्राप्तं फलं विद्धि कुलान्तकरणाय यत् ॥९॥ शमेन धर्मेण परस्य बुद्ध्या या ते बुद्धिः सास्तु ते मा प्रमादीः । प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्रीर्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥ १० ॥ अथाब्रवीन्महाराजो गान्धारीं धर्म-दर्शिनीम् । अन्तःकामं कुलस्यास्तु न शक्नोमि निवारितुम् ॥११॥ यथेच्छन्ति तथैवास्तु प्रत्यागच्छन्तु पाण्डवाः । पुनर्द्यूतञ्च कुर्वन्तु मामकाः पाण्डवैः सह ॥ १२ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

राजन् ! शास्त्रका उपदेश महामूर्खके चित्त पर भला बुरा कुछ प्रभाव नहीं डालसकता परन्तु आप बूढे होकर बालकोंकीसी बातें करें, यह किसी प्रकार भी उचित नहीं है ॥ ७ ॥ इस समय आप पुत्रसमान पाण्डवोंको अपने वशमें रखिये, ऐसा न हो, कि-वह दुःखित होकर आपसे अलग होजायँ, इसकारण आप मेरे कहनेसे इस कुलकलङ्कको त्याग दीजिये ॥ ८ ॥ हे राजन् ! आपने पुत्रके प्रेममें पड़कर उस समय विदुरकी बात नहीं मानी थी, यह उसका ही फल मिलरहा है, कि-अब कुलका नाश होनेका अवसर आगया ॥ ९ ॥ शान्ति, धर्म और मंत्रियोंकी सम्मतिसे आपको जैसी विचारशक्ति प्राप्त हुई है, इसको ठीक बनाये रखिये, प्रमादमें न पड़िये, बिना विचारे काम करना आप को बड़ा दुःख देगा, क्रूरके हाथमें गई हुई राजलक्ष्मी नाश कर देती है, परन्तु सरल पुरुषकी राजलक्ष्मी परम्परासे पुत्र पौत्रादि में रहा करती है ॥ १० ॥ राजा धृतराष्ट्रने सहधर्मिणी गांधारी की यह बात सुनकर कहा, कि-हे प्रिये ! यदि वंशका नाश ही होना है तो होय, उसको मैं नहीं रोकसकता ॥ ११ ॥ अब दुर्योधनादि जैसा चाहते हैं वही होना चाहिये, पाण्डवोंको फिर लौट कर आने दो-मेरे पुत्र उनके साथ जुआ खेलेंगे ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वण्यनुद्यूतपर्वणि गान्धारी वाक्ये चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततो व्यध्वगतं पार्थं प्रातिकामी युधिष्ठिरम् । उवाच वचनाद्राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥१॥ उपस्तीर्णा सभा राजन्नक्षानुप्त्वा युधिष्ठिर । एहि पाण्डव दीव्येति पिता त्वाहेति भारत ॥ २ ॥ युधिष्ठिर उवाच । धातुर्नियोगाद्भूतानि प्राप्नुवन्ति शुभाशुभम् । न निवृत्तिस्तयोरस्ति देवितव्यं पुनर्यदि ॥ ३ ॥ अक्षद्यूते समाह्वानं नियोगात्स्थविरस्य च । जानन्नपि क्षयकरं नातिक्रमितुमुत्सहे ॥ ४ ॥ वैशंपायन उवाच । असम्भवे हेममयस्य जन्तो स्तथापि रामो लुलुभे मृगाय । प्रायः समासन्नपराभवाणां धियो विपर्यस्ततरा भवन्ति ॥ ५ ॥ इति ब्रुवन्निववृते भ्रातृभिः सह

चतुःसप्ततितम अध्याय समाप्त ॥ ७४ ॥ ॥ छ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-तदनन्तर राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे प्रातिकामी, मार्गमें दूर पहुंचे हुए युधिष्ठिरके पास जाकर कहने लगा, कि-॥ १ ॥ हे राजन् युधिष्ठिर ! फिर सभा जोड़ी गई है और हे पाण्डव ! आपसे महाराज धृतराष्ट्रने कहा है, कि-आकर फिर चौसर खेलिये ॥ २ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि-सकल प्राणी दैववश ही शुभ अशुभ फलको भोगा करते हैं, उसको कोई टाल ही नहीं सकता, इसकारण यदि फिर जुआ खेलना पड़ता है तो ऐसा ही सही ॥ ३ ॥ मैं जानता हूं कि जुआ खेलनेसे कुलका नाश होगा, तथापि चौसरके खेलके लिये बुलाया गया है और तिसपर भी वृद्ध चचाकी आज्ञा है, कि-जिसको मैं टाल ही नहीं सकता ॥ ४ ॥ वैशंपायनजी कहते हैं, कि-जीव सुवर्णका शरीर धारण करके उत्पन्न हो, इस बातको सर्वथा असम्भव जानकर भी रघुकुलतिलक राजा रामचन्द्रजी सुवर्णके मृगके लोभमें आगए, इससे सिद्ध है, कि-विपत्तिकाल समीप आनेपर प्रायः लोगोंकी बुद्धियें उलटी होजाती हैं ॥ ५ ॥ ऐसा कहकर

पाण्डवः। जानंश्च शकुनेर्मायां पार्थो द्यूतमियात्पुनः ॥६॥ विविशुस्ते सभां तान्तु पुनरेव महारथाः। व्यथयन्ति स्म चेतांसि सुहृदां भरतर्षभाः ॥ ७ ॥ यथोपजोपमासीनाः पुनर्द्यूतप्रवृत्तये। सर्वलोकविनाशाय दैवेनोपनिपीडिताः ॥ ८ ॥ शकुनिरुवाच । अमुञ्चत्स्थविरो यद्वो धनं पूजितमेव तत्। महाधनं ग्लहं त्वेकं शृणु भो भरतर्षभ ॥ ९ ॥ वयं वा द्वादशब्दानि युष्माभिर्द्यूतनिर्जिताः । प्रविशेम महारण्यं रौरवाजिनवाससः ॥ १० ॥ त्रयोदशञ्च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम्। ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ११ अस्माभिर्निर्जिता यूयं वने द्वादश वत्सरान्। वसध्वं कृष्णया सार्द्धमजिनैः प्रतिवासिताः ॥ १२ ॥ त्रयोदशञ्च सजने अज्ञाता परि-

युधिष्ठिर भ्राताओं सहित लौट आये और शकुनि छली है, इस बातको जानकर भी फिर उसके साथ द्यूत खेलनेको चले गए ॥ ६ ॥ वह महारथी भरतवंशभूषण पाण्डव जब फिर द्यूतसभा में जाकर बैठे उस समय उनके मित्रोंके चित्तमें बड़ा दुःख हुआ ॥ ७ ॥ वह नानाप्रकारके सुखोंको भोगते हुए समयको विताया करते थे, परन्तु खोटे प्रारब्धने सकल लोकोंका नाश करनेके लिये इनको पीड़ित करके जुआ खेलनेमें प्रवृत्त करदिया और वह खेलनेके लिये सभामें आकर चुपचाप बैठ गए ॥ ८ ॥ तब शकुनि ने युधिष्ठिरसे कहा, कि—हे भरतर्षभ! जो उत्तमोत्तम धन आप को बूढ़े धृतराष्ट्रने छोड़ दिया है सो बहुत ही अच्छा हुआ परन्तु अब हमने एक बड़े भारी धनको दाँव पर लगाना विचारा है, उसको सुनो ॥ ९ ॥ यदि हम आपसे जुएमें हारजायँगे तो काली मृगछाला ओढ़े हुए बनमें जाकर बारह वर्ष पर्यन्त ज्ञातवास करेंगे और फिर एक वर्ष पर्यन्त कोई भी जाने नहीं इसप्रकार अपने संबंधियोंमें रहेंगे और यदि कोई पहिचान लेगा तो फिर बारह वर्षका वनवास करेंगे ॥ १० ॥ ॥ ११ ॥ और यदि हम तुम्हें हरादें तो तुमभी काली मृगछाला ओढ़कर द्रौपदी सहित बारह वर्षपर्यन्त वनमें जाकर रहो ॥ १२ ॥ और तेरहवें वर्ष अपने

वत्सरम् । ज्ञातश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥१३॥ त्रयोदशे च निवृत्ते पुनरेव यथोचितम् । स्वराज्यं प्रतिपत्तव्यमितरैरथवेतरैः ॥ १४ ॥ अनेन व्यवसायेन सहास्माभिर्युधिष्ठिर । अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमेहि दीव्यस्व भारत ॥ १५ ॥ अथ सभ्याः सभामध्ये समुच्छ्रितकरास्तदा । ऊचुरुद्विग्नमनसः संवेगात् सर्व एव हि १६ सभ्या ऊचुः । अहो धिग्बान्धवा नैनं बोधयन्ति महद्भयम् । बुद्ध्या बुध्येन्नवा बुध्येदयं वा भरतर्षभ ॥ १७ ॥ वैशम्पायन उवाच । जनमभाषितं सुबहून् शृण्वन्नपि नराधिप । ह्रिया च धर्मसंयोगात् पार्थो द्यूतमियात्पुनः ॥ १८ ॥ जानन्नपि महाबुद्धिः पुनर्द्यूतमवर्तयत् । अप्यासन्नो विनाशः स्यात् कुरूणामिति चिन्तयन् ॥१९॥

पुरवासोंमें छुपे हुए रहो, यदि तेरहवें वर्षमें तुमको कोई पहिचान लेय तो तुम फिर बारह वर्ष पर्यन्त वनमें रहो ॥१३॥ इसप्रकार तेरह वर्ष पूर्ण होनेके अनन्तर तुम या हम यथोचित रीति से अपने राज्यको हाथमें लेलें ॥१४॥ हे युधिष्ठिर ! आप इस नियम से हमारे साथ खेलनेको बैठिये और फाँसे डालकर फिर जुआ खेलिये ॥ १५ ॥ ऐसे शकुनिके वचन सुनकर जिनके मन खिन्न होगये थे वह सब सभासद् उसी समय सभामें वेगसे ऊंचे हाथ करके बोल उठे ॥ १६ ॥ सभासदोंने कहा, कि—हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्र ! आगेको बड़े भयका सामना करना पड़ेगा, इस बातको दुर्योधन यह अपनी बुद्धिसे जानता हो या न जानता हो, चाहे सो हो, परन्तु इसके भाइयोंको धिक्कार है कि-जो इस दुर्योधनको आने वाले भयको नहीं समझाते ॥ १७ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं कि-हे जनमेजय ! मनुष्योंके मुखोंसे ऐसी अनेकों प्रकारकी बातें सुनकर भी कुन्तीकुमार धर्मराज लज्जा के कारण तथा क्षत्रियधर्मकी मर्यादाके कारण फिर जुआ खेलने को बैठे ॥ १८ ॥ महाबुद्धिमान् युधिष्ठिर कौरवोंका विनाशकाल समीप ही आगया है ऐसा जानते थे तब भी इस विषयका विचार करते २ फिर जुआ खेलनेको उद्यत हुए और कहने लगे ॥१९॥

युधिष्ठिर उवाच । कथं वै मद्विधो राजा स्वधर्ममनुपालयन् । आहूतो विनिवर्त्तेत दीव्यामि शकुने त्वया ॥ २० ॥ शकुनिरुवाच । गवाश्वं बहुधेनूकमपर्य्यन्तमजाविकम् । गजाः कोषो हिरण्यञ्च दासीदासाश्च सर्वशः ॥२१॥ एष नो ग्लह एवैको वनवासाय पाण्डवाः । यूयं वयं वा विजिता वसेम वनमाश्रिताः ॥ २२ ॥ त्रयोदशञ्च वै वर्षं मज्ञाताः सजने तथा । अनेन व्यवसायेन दीव्याम पुरुषर्षभाः ॥ २३ ॥ समुक्तस्तेन चैकेन वनवासाय भारत। प्रतिजग्राह तं पार्थो ग्लहं जग्राह सौबलः । जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥२४॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणयनुद्यूतपर्वणि पुनर्युधिष्ठिरपराजये पंचसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

युधिष्ठिर बोले. कि-मुझ जैसे स्वधर्मका पालन करनेवाले राजाको जुआ खेलनेका निमंत्रण दिया जाय तो क्या वह पीछेको हट सकता है ? कभी पीछेको नहीं हट सकता, इसकारण हे शकुने ! मैं तुम्हारे साथ चौसर खेलनेको तयार हूं ॥ २० ॥ शकुनिने कहा, कि–हे पाण्डवों ! गौ, घोड़े बैलोंके समूह, असंख्यों बकरे, मेंढ़े, हाथी, धनके भण्डार सुवर्ण, सब दास और दासियें ॥ २१ ॥ इन सब वस्तुओंको हम दाँवपर "वनवासके लिये, एक ही पणके रूपमें धरते हैं और जुआ खेलनेमें तुम या हम जो कोई हारे उस को ऊपर कही हुई सकल सम्पदाको छोड़कर बारह वर्ष पर्यन्त वनमें जाकर रहना पड़ेगा और तेहरवें वर्षमें कोई भी जानने न पावै, इसप्रकार मनुष्योंमें रहना होगा, हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ पाण्डवों ! इस नियमके अनुसार आइये हम और आप जुआ खेलैं ॥ २२ ॥ ॥ २३ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! इसप्रकार एक ही वार कहनेसे कुन्तीनन्दन धर्मराजने शकुनिके कहनेको मान लिया, उसी समय सुबलके पुत्र शकुनिने कपटसे फाँसे डालकर युधिष्ठिरसे कहा, कि तो यह मैंने जीतलिया ॥२४॥ पञ्चसप्ततितम अध्याय समाप्त॥७५॥

वैशम्पायन उवाच । ततः पराजिताः पार्था वनवासाय दीक्षिताः । अजिनान्युत्तरीयाणि जगृहुश्च यथाक्रमम् ॥१॥ आजिनैः सम्वृतान् दृष्ट्वा हृतराज्यानरिन्दमान् । प्रस्थितान्वनवासाय ततो दुःशासनोऽब्रवीत् ॥२॥ प्रवृत्तं धार्त्तराष्ट्रस्य चक्रं राज्ञो महात्मनः । पराजिताः पाण्डवेया विपत्तिं परमां गताः ॥ ३ ॥ अद्य देवाः सम्प्रयाताः समैर्वर्त्मभिरस्थलैः । गुणज्येष्ठा तथा ज्येष्ठा श्रेयांसो यद्वयं परैः॥४॥ नरकं पातिताः पार्था दीर्घकालमनन्तकम् । सुखाच्च हीना राज्याच्च विनष्टाः शाश्वतीः समाः ॥ ५ ॥ धनेन मत्ता ये ते स्म धार्त्तराष्ट्रान् प्रहासिषुः । ते निर्जिता हृतधना वनमेष्यन्ति पाण्डवाः ॥६॥ चित्रान् सन्नाहानवमुञ्चन्तु चैषां वासांसि दिव्यानि च भानु-

---

वैशंपायनजी कहते हैं, कि-हे जनमेजय ! तदनन्तर जुएमें हारे हुए पाण्डवोंने क्रमसे काली मृगछालाएं शरीर पर धारण करीं और वनवासको जानेके लिये तयार होगए ॥ १ ॥ राज्यहीन हुए शत्रुओंका दमन करनेवाले मृगचर्म धारी पाण्डवोंको वनवासके लिये जाते हुए देखकर दुःशासन बोल उठा, कि-॥ २ ॥ अब महात्मा दुर्योधन राजाका राजचक्र चलपड़ा और पाण्डव हारकर परम विपत्तिमें पड़ गए हैं ॥३॥ आज देवता भी खचाखच भरेहुए सब मार्गोंसे हमारे पास आगए हैं अर्थात् सकल देवता भी हमारे अनुकूल होगए हैं तथा अपने शत्रुओंसे गुणोंमें और अवस्थामें बड़े होनेके कारण हमारी बड़ी प्रशंसा होरही है ॥ ४ ॥ हमने कुन्ती के पुत्रोंको अति चिरकाल तकको नरकमें डालदिया है और अब यह अनन्तकालतक सुखहीन और राज्यभ्रष्ट रहेंगे ॥ ५ ॥ अरेरे देखो तो ! धनके मदमें मत्त हुए जिन पाण्डवोंने धृतराष्ट्रकुमार दुर्योधनकी हँसी की थी, वही पाण्डव आज जुएमें पराजय पाकर निर्धन हुए वनको जारहे हैं ॥ ६ ॥ इससमय पांडवोंके विचित्र दमकते हुए सुनहरी वस्त्र पगड़ियें, कवच और पेटियें आदि उतार लो और शकुनिके सामने दाँवमें पणके लिये जो स्वीकार किया है

मन्ति । विवास्यन्तां रुरुचर्माणि सर्वे यथा ग्लहं सौबलस्याभ्युपेताः ॥७॥ न सन्ति लोकेषु पुमांस ईदृशा इत्येव ये भावितबुद्धयः सदा। ज्ञास्यन्ति तेऽस्मानमिमेऽद्य पांडवा विपर्यये षण्डतिला इवाफलाः॥८॥ इदं हि वासो यदि वेदृशानां मनस्विनां रौरवमाहवेषु । अदीक्षितानामजिनानि यद्वद्बलीयसां पश्यत पाण्डवानाम् ॥ ९ ॥ महाप्राज्ञः सौमकिर्य्यज्ञसेनः कन्यां पाञ्चालीं पाण्डवेभ्यः प्रदाय । अकार्षीद्वै सुकृतं नेह किञ्चित् क्लीवाः पार्थाः पतयो याज्ञसेन्याः ॥ १० ॥ सूक्ष्मप्रावारान् जितोत्तरीयान् दृष्ट्वारण्ये निर्धनानप्रतिष्ठान् । कां त्वं प्रीतिं लप्स्यसे याज्ञसेनि पतिं वृणीष्वेह यमन्यमिच्छसि॥११॥ एते हि सर्वे कुरवः समेताः क्षान्ता दान्ता सुद्रविणोपपन्नाः।

उसके अनुसार यह काली मृगछाला ओढ़कर वनमें वास करनेको जायँ ॥ ७ ॥ ये पांडव कि–जो सदा मनमें यह अभिमान रखते थे, कि–हमारी समान कोई त्रिलोकीमें नहीं है वह आज विना फलके काले तिलोंकी समान अपनी दशाके बदलने पर अपनेको निष्फल समझेंगे ॥ ८ ॥ ऐसे श्रेष्ठ पुरुष यज्ञके समय वा युद्धके समय मृगचर्मको धारण करते हैं, परन्तु इन महाबली पाण्डवोंने तो यज्ञकी दीक्षाके विना ही भीलोंकी समान मृगचर्मको धारण किया है जरा इनकी ओरको देखो तो सही ॥ ९ ॥ ओ हो ! राजा यज्ञसेन तो बड़ा ही बुद्धिमान है, तो भी उसने अपनी कन्या द्रौपदी जो पांडवोंको विवाहदी यह कुछ अच्छा काम नहीं किया क्योंकि–द्रौपदीके पति पाण्डव तो नपुंसक हैं ॥१०॥ हे द्रुपदराजकुमारि ! अब निर्धन हुए पाण्डव सादे वस्त्र पहरकर तथा मृगचर्मको ओढ़कर वनमें रहेंगे, यह देखकर तुझे उनके ऊपर प्रेम कैसे उत्पन्न होगा, इसकारण तेरी जिस दूसरे पुरुषको इच्छा चाहै उसको वरले ॥११॥ यहां क्षमाशील जितेंद्रिय और पूर्ण धनवान् सकल कौरव इकट्ठे हुए बैठे हैं, इनकी ओरको देख और इनमेंसे एकको वर ले

एषां तृणीप्वैकतमं पतित्वे न त्वां नयेत् कालविपर्ययोऽयम्॥१२॥ यथाऽफलाः पण्डतिला यथा चर्ममया मृगाः। तथैव पाण्डवाः सर्वे यथा काकयवा अपि॥ १३॥ किं पाण्डवांस्ते पतितानुपास्य मोघः श्रमः पण्डतिलानुपास्य। एवं नृशंसः परुषाणि पार्थानश्राव-यद् धृतराष्ट्रस्य पुत्रः॥ १४॥ तद्वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी निर्भर्त्स्योच्चैः सन्निगृह्यैव रोषात्। उवाच चैनं सहसैवोपगम्य सिंहो यथा यथा हैमवतः शृगालम्॥ १५॥ भीमसेन उवाच। क्रूरं पापजनैर्जुष्टमकृतार्थं प्रभाषसे। गान्धारविद्यया हि त्वं राजमध्ये विकत्थसे॥ १६॥ यथा तुदसि मर्माणि वाक्शरैरिह नो भृशम्। तथा स्मारयिता तेऽहं कृन्तन्मर्माणि संयुगे॥ १७॥ ये च त्वामनु-

---

जिससे, कि-यह समीपमें आया हुआ विपत्तिकाल तुझे पीड़ा न देय॥ १२॥ परन्तु यह सब पांडव तो वनके काले तिल, चमड़ेके मृग और खाली धानोंकी समान निष्फल और पराक्रमहीन होगए हैं॥ १३॥ निष्फल तिलोंके सेवनमें जैसे परिश्रम वृथा ही जाता है तैसे ही पापी पांडवोंकी सेवा करनेमें भी तू क्या फल पावेगी? इसप्रकार क्रूर दुःशासनने कुन्तीनन्दन पांडवोंको कटुवचन सुनाये॥ १४॥ उनको सुनकर महाक्रोधी भीमसेन ऊँचे स्वरसे उसको ललकार कर, जैसे हिमालयका सिंह गीदड़के समीपमें चलाजाता है तैसे ही एकायकी उसके समीप गया और क्रोधके साथ पकड़ कर कहने लगा॥ १५॥ भीमसेनने कहा, कि—अरे क्रूर! तुच्छ तूने हमको अपने बाहुबलसे नहीं जीता है, किन्तु शकुनिकी छल विद्यासे जीता है, तथापि तू राजाओंमें आप ही अपनी प्रशंसा करता है और पापी मनुष्योंके कहने योग्य बातें कररहा है॥१६॥ तू वाणीरूप तीखे बाणोंसे हमारे मर्मस्थानोंको बींधकर बड़ा दुःख देरहा है, परन्तु मैं भी इसीप्रकार युद्धमें तेरे मर्म स्थानोंको फाड़कर तेरी इन बातोंका स्मरण दिलाऊँगा॥१७॥ तथा जो पुरुष क्रोध और लोभके वशमें होकर तेरा पक्ष कररहे हैं और तेरी रक्षा

वर्त्तन्ते क्रोधलोभवशानुगाः । गोप्तारः सानुबन्धांस्तान्नेतास्मि यमसादनम् ॥ १८ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवं ब्रुवाणमजिनैर्विवासितं दुःशासनस्तं परिनृत्यति स्म । मध्ये कुरूणां धर्मनिबद्धमार्गं गौर्गौरिति स्माह्वयन्मुक्तलज्जः ॥ १९ ॥ भीमसेन उवाच । नृशंस परुषं वक्तुं शक्यं दुःशासन त्वया । निकृत्या हि धनं लब्ध्वा को विकत्थितुमर्हति ॥ २० ॥ मैव स्म सुकृतांल्लोकान् गच्छेत्पार्थो वृकोदरः । यदि वक्षो हि ते भित्त्वा न न पिबेच्छोणितं रणे॥२१॥ धार्त्तराष्ट्रान् रणे हत्वा मिषतां सर्वधन्विनाम् । शमं गन्तास्मि न चिरात् सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥२२ ॥ वैशंपायन उवाच । तस्य राजा सिंहगतेः सखेलं दुर्योधनो भीमसेनस्य हर्षात् । गतिं स्वां गत्यानुचकार मन्दो निर्गच्छतां पाण्डवानां सभायाः ॥ २३ ॥

कररहे हैं उनको भी पुत्र और बान्धवों सहित यमालयमें भेजूंगा ॥ १८ ॥ वैशंपायन कहते हैं, कि–हे जनमेजय ! इसप्रकार बोलते मृगछाला ओढे तथा धर्मके कारण जिसका शत्रुओंके नाश करने का मार्ग रुकरहा है ऐसे भीमसेनको दुःशासन 'ओ बैल ! ओ बैल ! ऐसा कहता हुआ लज्जाको त्यागकर कौरवोंके मध्यमें नाचने कूदने लगा, यह देख भीमसेन बोल उठा ॥ १९ ॥ भीमसेनने कहा, कि—अरे क्रूर दुःशासन ! यह क्रूर वचन तेरे मुखसे कैसे निकल रहे हैं ? कौन मनुष्य कपटसे किसीकी संपत्तिको छीनकर ऐसी तीखी बातें कहसकता है ? ॥२०॥कुन्तीपुत्र वृकोदर भीमसेन रणभमिमें यदि तेरी छातीको चीरकर उसमेंसे रुधिर न पियें तो उसको पुण्यवानोंके लोक न मिलें ॥ २१ ॥ संग्राममें सब धनुषधारी देखेंगे, कि–धृतराष्ट्रके पुत्रोंका संहार करके मैं थोड़ीसी देर में ही शांति पाजाऊँगा यह बात मैं सत्य ही कहता हूं ॥ २२ ॥ वैशंपायनजी कहते हैं, कि–ऐसी बातें होनेके अनन्तर पाण्डव, राजसभामेंसे बाहरको निकलने लगे, उससमय भीमसेन सिंहकी समान धीरे २ चलता था, मूर्ख दुर्योधन हर्षमें भरकर उसकी समान ही (नकल करता हुआ) उसके पीछे २ चलने लगा।२३।

नैतावता कृतमित्यब्रवीत्तं वृकोदरः सन्निवृत्ताद्धकायः । शीघ्रं हि-त्वां निहतं सानुबन्धं संस्मार्य्याहं प्रतिवक्ष्यामि मूढ ॥ २४ ॥ एवं समीक्ष्यात्मनि चावमानं नियम्य मन्युं बलवान् स मानी । राजानुगः संसदि कौरवाणां विनिष्क्रामन् वाक्यमुवाच भीमः ॥ २५॥ भीमसेन उवाच । अहं दुर्य्योधनं हन्ता कर्णं हन्ता धनञ्जयः । शकुनिञ्चाक्षकितवं सहदेवो हनिष्यति ॥२६॥ इदं च भूयो वक्ष्यामि सभामध्ये बृहद्वचः । सत्यं देवाः करिष्यन्ति यन्नो युद्धं भविष्यति ॥ २७ ॥ सुयोधनमिमं पापं हन्तास्मि गदया युधि । शिरः पादेन चास्याहमधिष्ठास्यामि भूतले ॥ २८ ॥ वाक्यशूरस्य चैवास्य परुषस्य दुरात्मनः । दुःशासनस्य रुधिरं पातास्मि मृगराडिव ॥२९॥

उस समय भीमसेन पीछेको मुड़ कर देखते ही कहनेलगा, कि-रे मूर्ख ! इस कामकी इतनेमें ही समाप्ति हुई न समझलेना, मैं थोड़े ही समयके पीछे रणभूमिमें सगे संबंधियों सहित तेरा नाश करके तुझे तेरी इन बातोंका स्मरण दिलाता हुआ तेरे इस हास्य करनेका उत्तर दूंगा ॥ २४ ॥ इसप्रकार अपमानको मनमें रखकर क्रोधको शान्त किया और मानी, बलवान्, धर्मराजके पीछे २ चलतेहुए भीमसेनने बाहरको निकलते २ कौरवोंकी सभामें यह बात कही ॥ २५ ॥ भीमसेनने कहा, कि—मैं दुर्योधनका नाश करूँगा, अर्जुन कर्णका प्राणान्त करेगा और सहदेव द्यूतकी छल विद्यामें निपुण शकुनिको मारेगा ॥ २६ ॥ और फिर इस सभामें तुमसे मैं यह बात भी कहेदेता हूं, कि-यदि हमारा कौरवोंके साथ युद्ध होगा, तो हमारे इस कहनेको देवता सत्य करेंगे ॥२७॥ मैं संग्राममें गदासे इस पापी दुर्योधनके प्राण लूँगा और इसके मस्तकको भूमिमें लुढ़काकर उसके ऊपर चरण रखकर खड़ा होऊँगा ॥ २८ ॥ और दूसरी बात यह है कि-बोलनेमें शूर क्रूर, तथा दुष्टात्मा इस दुःशासनके रुधिरको भी मैं सिंहकी समान पीऊंगा ॥ २९ ॥ अर्जुनने कहा, कि—भाई भीम ! सत्पुरुषोंको

अर्जुन उवाच । नैवं वाचा व्यवसितं भीम विज्ञायते सताम् । इतश्चतुर्दशे वर्षे द्रष्टारो यद्भविष्यति ॥ ३० ॥ भीमसेन उवाच । दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः । दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ ३१ ॥ अर्जुन उवाच । असूयितारं द्रष्टारं प्रवक्तारं विकत्थनम् । भीमसेन नियोगात्ते हन्ताहं कर्णमाहवे ॥ ३२ ॥ अर्जुनः प्रतिजानीते भीमस्य प्रियकाम्यया । कर्णं कर्णानुगांश्चैव रणे हन्तास्मि पत्रिभिः ॥ ३३ ॥ ये चान्ये प्रतियोत्स्यन्ति बुद्धिमोहेन मां नृपाः । तांश्च सर्वानहं बाणैर्नेतास्मि यमसादनम् ॥ ३४ ॥ चलेद्धि हिमवान् स्थानान्निष्प्रभः स्याद् दिवाकरः । शैत्यं सोमात् प्रणश्येत मत्सत्यं विचलेद्यदि ॥ ३५ ॥ न प्रदास्यति चेद्राज्यमितो वर्षे चतुर्दशे । दुर्योधनोऽभिसत्कृत्य

काम कहीं इसप्रकार बातोंमें कहनेसे जानाजाता है ! किन्तु परिणाममें जाना जाता है, इस कारण आजसे चौदहवें वर्ष जो कुछ होगा उसको सब देखलेंगे ॥ ३० ॥ भीमसेनने कहा, कि-दुर्योधन कर्ण दुष्ट शकुनि और दुष्ट दुःशासनके रुधिरको भूमि पियेगी ॥ ३१ ॥ अर्जुनने कहा, कि-हे भीमसेन ! हमसे द्वेष करनेवाले हमारा पराजय करनेके लिये कौरवोंको उत्तेजना और खोटी संमति देनेवाले तथा हमारी निन्दा करने वाले इस कर्णको मैं तुम्हारी आज्ञासे रणभूमिमें मार डालूंगा ॥ ३२ ॥ और हे भीमसेन ! तुम्हारी अभिलाषाको पूरी करनेके लिये यह अर्जुन प्रतिज्ञा करता है, कि-संग्राममें कर्णका तथा उसके साथियोंका रणमें बाण मारकर संहार करैगा ॥ ३३ ॥ और दूसरे भी जो राजे अपनी मूर्खताके कारण मेरे साथ युद्ध करनेको आवेंगे उन सबोंको भी मैं बाणोंसे घायल करके यमलोकमें पहुचा दूंगा ॥ ३४ ॥ हिमालय चाहे अपने स्थानसे चलायमान होजाय सूर्य चाहे निस्तेज होजाय और चन्द्रमामेंसे चाहे शीतलता दूर होजाय परन्तु मेरा सत्य वचन मिथ्या नहीं होगा ॥ ३५ ॥ यदि चौदहवें वर्षमें दुर्योधन सत्कारके साथ हमारा राज्य लौटाकर नहीं देगा तो जो हमने

सत्यमेतद्भविष्यति ॥ ३६ ॥ वैशम्पायन उवाच । इत्युक्तवति पार्थे तु श्रीमान्माद्रवतीसुतः । प्रगृह्य विपुलं बाहुं सहदेवः प्रतापवान् ॥ ३७ ॥ सौबलस्य वधं प्रेप्सुरिदं वचनमब्रवीत् । क्रोधसंरक्तनयनो निश्वसन्निव पन्नगः ॥ ३८ ॥ सहदेव उवाच । अक्षान् यान्मन्यसे मूढ गान्धाराणां यशोहर । नैतेऽक्षा निशिता बाणास्त्वयैते समरे वृताः ॥ ३६ ॥ यथा चैवोक्तवान् भीमस्त्वामुद्दिश्य सबान्धवम् । कर्त्ताहं कर्मणस्तस्य कुरु कार्य्याणि सर्वशः ॥ ४० ॥ हन्तास्मि तरसा युद्धे त्वामेवेह सबान्धवम् । यदि स्थास्यसि संग्रामे क्षत्रधर्मेण सौबल ॥ ४१ ॥ सहदेववचः श्रुत्वा नकुलोऽपि विशाम्पते । दर्शनीयतमो नृणामिदं वचनमब्रवीत्॥४२॥ नकुल उवाच । सुतेयं यज्ञसेनस्य द्यूतेऽस्मिन् धृतराष्ट्रजैः । यैर्वचः

कहा है, अवश्य ऐसा ही होगा ॥३६॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-इसप्रकार अर्जुन कहरहा था, कि-इतनेही में शकुनिको मारने की इच्छावाले प्रतापी माद्रीके पुत्र श्रीमान् सहदेवजीने अपनी विशाल भुजा ऊँचीकर क्रोध से नेत्रोंको लाल २ करके सर्पकी समान फुंकारें मारते हुए नीचे लिखे अनुसार कहा ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ सहदेव बोला, कि-अरे मूढ़ ! गान्धार देशके राजाओं के यशका नाश करनेवाले शकुनि ! तू जिनको फाँसे समझरहा है, यह फाँसे नहीं हैं, किन्तु यह तो संग्रामके लिये तेरे वरण कियेहुए तीखे बाण हैं॥ ३९ ॥ इसलिये इन भीमसेनने तेरे विषयमें जो कुछ कहा है, उसीप्रकार मैं तेरा सम्बंधियों सहित संहार करूंगा, अतः तुझे कौरवोंके लिये और जो कुछ करना हो सो करले ॥ ४० ॥ ओ सुबलपुत्र शकुने ! यदि तू रणभूमिमें क्षत्रियधर्मानुसार खड़ा रहेगा तो मैं क्षणभरमें तेरा और तेरे सम्बंधियोंका संहार करडालूँगा ॥ ४१ ॥ हे राजन् ! ऐसे सहदेवके वचन सुनकर मनुष्योंमें बड़ा ही दर्शनीय नकुल भी नीचे लिखे अनुसार कहनेलगा ॥ ४२ ॥ नकुल बोला, कि—दुर्योधनकी प्रिय

श्राविता रूक्षाः स्थितैर्दुर्योधनप्रिये ॥ ४३ ॥ तान् धार्त्तराष्ट्रान् दुर्वृत्तान् मुमूर्षून् कालनोदितान् । गमयिष्यामि भूयिष्ठानहं वैवस्वतक्षयम् ॥ ४४ ॥ निदेशाद्धर्मराजस्य द्रौपद्याः पदवीं चरन् । निर्धार्त्तराष्ट्रां पृथिवीं कर्त्तास्मि न चिरादिव ॥४५ ॥वैशम्पायन उवाच । एवं ते पुरुषव्याघ्राः सर्वे व्यायतबाहवः । प्रतिज्ञा बहुलाः कृत्वा धृतराष्ट्रमुपागमन् ॥ ४६ ॥

इति श्री महाभारते सभापर्वण्यनुद्यूतपर्वणि पाण्डव प्रतिज्ञाकरणे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

युधिष्ठिर उवाच । आमन्त्रयामि भरतांस्तथा वृद्धं पितामहम् । राजानं सोमदत्तञ्च महाराजञ्च बाह्लिकम् ॥ १ ॥ द्रोणं कृपं नृपांश्चान्यानश्वत्थामानमेव च । विदुरं धृतराष्ट्रं च धार्त्तराष्ट्रांश्च सर्वशः ॥ २ ॥ युयुत्सुं सञ्जयञ्चैव तथैवान्यान् सभासदः ।

करनेके लिये प्रवृत्त हुए, राजा धृतराष्ट्रके जिन पुत्रोंने इस जुएमें द्रौपदीको कठोर वचन सुनाये हैं ॥ ४३ ॥ उन दुराचारी, मरने को तयार हुए और कालके प्रेरणा किये हुए धृतराष्ट्रके बहुतसे पुत्रोंको मैं यमराजकी राजधानीमें पहुंचाऊँगा ॥ ४४ ॥ और द्रौपदीके दुःखसे दुःखी होनेवाला मैं धर्मराजकी आज्ञासे थोड़े ही दिनोंमें पृथ्वीको धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे सूनी करदूँगा ॥ ४५ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं कि—हे जनमेजय ! पुरुषोंमें सिंहकी समान पराक्रमी महाबाहु पांडव इसप्रकार बहुतसी प्रतिज्ञाएं करके फिर राजा धृतराष्ट्रके पास गए ॥ ४६ ॥ षट्सप्ततितम अध्याय समाप्त ॥ ७६ ॥ छ ॥ छ ॥

युधिष्ठिरने कहा, कि—मैं भरतवंशी राजे, वृद्ध भीष्म पितामह, राजा सोमदत्त, महाराज बाह्लीक, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अन्य सब राजे, अश्वत्थामा, विदुर, धृतराष्ट्र, धृतराष्ट्रके सब पुत्र युयुत्सु, सञ्जय तथा अन्य सब सभासदोंकी आज्ञा लेकर वनवासके लिये जाताहूं, तहांसे लौटकर आऊँगा, तब फिर तुम सबोंके

सर्वानामन्त्र्य गच्छामि द्रष्टास्मि पुनरेत्य वः ॥ ३ ॥ वैशम्पायन उवाच । न च किञ्चिद्वोचुस्तं ह्रियासन्ना युधिष्ठिरम् । मनोभिरेव कल्याणं दध्युस्ते तस्य धीमतः ॥ ४ ॥ विदुर उवाच । आर्या पृथा राजपुत्री नारण्यं गन्तुमर्हति । सुकुमारी च वृद्धा च नित्यञ्चैव सुखोचिता ॥ ५ ॥ इह वत्स्यति कल्याणि सत्कृता मम वेश्मनि । इति पार्था विजानीध्वमगदं वोऽस्तु सर्वशः ॥ ६ ॥ पाण्डवा ऊचुः । तथेत्युक्त्वाब्रुवन् सर्वे यथा नो वदसेऽनघ । त्वं पितृव्यः पितृसमो वयं च त्वत्परायणाः ॥ ७ ॥ यथाज्ञापयसे विद्वंस्त्वं हि नः परमो गुरुः ॥ यच्चान्यदपि कर्त्तव्यं तद्विधत्स्व महामते ॥ ८ ॥ विदुर उवाच । युधिष्ठिर विजानीहि ममेदं भरतर्षभ । नाधर्मेण

दर्शन करूँगा ॥ १—३ ॥ वैशंपायनजी कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! इस समय कोई भी युधिष्ठिरको कुछ उत्तर नहीं देसके किन्तु सब ही लज्जाके मारे नीचेको मुख किये बैठे रहे और मनसे बुद्धिमान् धर्मराजका कल्याण चाहने लगे, फिर उन सभासदोंमेंसे विदुरने कहा, कि—॥ ४ ॥ यह आर्या राजकुमारी कुन्तीजी कोमलशरीर बूढ़ी और सदा आराम करनेके योग्य हैं, इसकारण इनका वनमें जाना ठीक नहीं है, ॥ ५ ॥ यह कल्याणी कुन्तीजी आदर मानके साथ मेरे घर रहें, यह बात हे पाण्डवों ! मैं आपको विदित करता हूं और तुम सर्वत्र आरोग्य रहो, यह तुम्हें आशीर्वाद देता हूं ॥ ६ ॥ पाण्डवोंने कहा कि—हे निर्दोष चाचाजी ! बहुत अच्छा, आप जैसा कहते हैं, हम यही करनेको तयार हैं, क्योंकि—आप हमारे चचा और पिताकी समान हैं तथा हमें सदुपदेश देते रहते हैं ॥ ७ ॥ हे विद्वन् ! आप हमारे मान्य बड़े हैं अतः हम आपकी आज्ञाके अनुसार ही काम करेंगे, हे महामते ! हमारे करने योग्य कुछ और काम हो तो वह भी बताइये ॥८॥ विदुरजीने कहा, कि–हे भरतवंशमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तुम मेरे इस विचारको सुनो, कि–इस जगत्में जो मनुष्य दूसरेके

जितः कश्चिद्व्यथते च पराजये ॥ ९॥ त्वं वै धर्मं विजानीषे युद्धे जेता धनञ्जयः । हन्तारीणां भीमसेनो नकुलस्त्वर्थसंग्रही। १०॥ संयन्ता सहदेवस्तु धौम्यो ब्रह्मविदुत्तमः। धर्मार्थकुशला चैव द्रौपदी धर्मचारिणी ॥ ११ ॥ अन्योऽन्यस्य प्रियाः सर्वे तथैव प्रियदर्शनाः। परैरभेद्याः सन्तुष्टाः को वो न स्पृहयेदिह ॥ १२ ॥ एष वै सर्वकल्याणः समाधिस्तव भारत । नैनं शत्रुर्विषहते शक्रेणापि समोऽप्युत ॥ १३ ॥ हिमवत्यनुशिष्टोऽसि मेरुसावर्णिना पुरा । द्वैपायनेन कृष्णेन नगरे वारणावते ।१४। भृगुतुङ्गे च रामेण दृषद्वत्याञ्च शम्भुना । अश्रौषीरसितस्यापि महर्षेरञ्जनं प्रति ॥१५॥ कल्माषीतीरसंस्थस्य गतस्त्वं शिष्यतां भृगोः । द्रष्टा सदा नारदस्ते

अधर्मसे पराजय पाता है उसको अपने पराजयका शोक नहीं होता है ॥ ९ ॥ तुम धर्मके प्राण हो अर्जुन युद्धमें विजय पाने वाला है, भीमसेन शत्रुओंका संहारकर्त्ता, नकुल धनसंग्रह करने वाला और सहदेव शत्रुओंको वशमें रखने वाला है, धौम्य ऋषि बड़े ब्रह्मज्ञानी हैं और पतिव्रता द्रौपदी धर्म तथा अर्थका संग्रह करने में प्रवीण है ॥ १० ॥ और तुम सब भाई परस्पर प्रेमभाव से रहते हो, तुम्हारा स्वरूप सुन्दर है, शत्रु तुम्हारे चित्तोंमें भेद नहीं डाल सकते, तुम सन्तोषी हो, ऐसे तुमको इस लोकमें कौन नहीं चाहेगा ? सब ही तुम्हारा दर्शन करनेको आतुर रहते हैं ॥ ११ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! मनको वशमें करनेका कल्याणकारी नियम तुम्हारा इतना बढ़ा हुआ है कि–जिसको इन्द्रसमान शत्रु भी सहन नहीं कर सकता ॥ १३ ॥ पहिले हिमालयके ऊपर मेरु नामके सावर्णिने वारणावत नगरमें व्यासजीने भृगुतुंग पर्वतपर परशुरामजीने और दृषद्वती नदीके तटपर महादेवजीने तुम्हें धर्मोपदेश दिया है, और तुमने अंजन पर्वत पर असित नामा महर्षिसे भी ज्ञान पाया है ॥ १४ ॥ १५ ॥ कल्माषी नदीके तट पर रहनेवाले भृगुमुनिके तुम शिष्य हो, नारदमुनि सदा तुम्हारा

धौम्यस्तेऽयं पुरोहितः ॥ १६ ॥ मा हासीः साम्पराये त्वं बुद्धिं तामृषिपूजिताम् । पुरूरवसमैलं त्वं बुद्ध्या जयसि पाण्डव ॥१७॥ शक्त्या जयसि राज्ञोऽन्यानृषीन् धर्मोपसेवया । ऐन्द्रे जये धृतमना याम्ये कोपविधारणे ॥ १८ ॥ तथा विसर्गे कौबेरे वारुणे चैव संयमे । आत्मप्रदानं सौम्यत्वमद्भ्यश्चैवोपजीवनम् ॥ १९ ॥ भूमेः क्षमाञ्च तेजश्च समग्रं सूर्यमण्डलात् । वायोर्बलं प्राप्नुहि त्वं भूतेभ्य-श्चात्मसम्पदम् ॥ २० ॥ अगदं वोऽस्तु भद्रं वो द्रक्ष्यामि पुनरागतान् । आपद्धर्मार्थकृच्छ्रेषु सर्वकार्येषु वा पुनः ॥ २१ ॥ यथावत् प्रतिपद्येथाः काले काले युधिष्ठिर । आपृष्टोऽसीह कौन्तेय स्वस्ति

समाचार लेते रहते हैं और यह धौम्यमुनि तुम्हारे पुरोहित हैं ॥ १६ ॥ अतः युद्धका अवसर आनेपर ऋषियोंके सदुपदेशको न भूलजाना, हे पांडव ! तुमने अपनी बुद्धिसे इलाके पुत्र पुरूरवा को भी जीत लिया है ॥ १७ ॥ शक्तिसे अन्य राजाओंको जीत रहे हो, धर्माचरणसे ऋषियोंसे भी आगे बढ़रहे हो, तुम मनको वशमें करनेमें इन्द्रकी समान हो, क्रोध करनेमें यमराजकी समान हो ॥ १८ ॥ शत्रुको वशमें रखनेमें वरुणकी समान हो और आत्मार्पण करनेमें निर्मलतामें तथा दूसरोंको जीवन देनेमें जल की समान हो अर्थात् अपना शरीर भी अर्पण करके दूसरोंका हित करना चाहते हो ॥ १९ ॥ इस कारण मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूं, कि—तुम पृथिवीसे क्षमा पाओ, सूर्यमण्डलसे तेज पाओ, वायुसे बल पाओ और सकल प्राणियोंसे सम्पत्ति पाओ ॥ २० ॥ और आशीर्वाद देता हूं, कि—तुम आरोग्य रहो तुम्हारा कल्याण हो और मैं तुम्हें वनमेंसे कुशलपूर्वक लौटकर आया हुआ देखना चाहता हूं. हे युधिष्ठिर ! तुम आपत्तिके समय धन तथा धर्मके सङ्कटके समय अथवा सकल कार्योंको करते समय, सदा यथार्थ रीतिसे विचार करके वर्त्ताव करना, हे कुन्ती-नन्दन युधिष्ठिर ! अब मैं तुम्हें वनमें जानेके लिये आज्ञा देता हूं,

प्राप्नुहि भारत ॥ २२ ॥ कृतार्थं स्वस्तिमन्तं त्वां द्रक्ष्यामः पुनरागतम्। नहि वो वृजिनं किंचिद्वेद कश्चित् पुराकृतम् ॥ २३ ॥ वैशम्पायन उवाच। एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा पाण्डवः सत्यविक्रमः। भीष्मद्रोणौ नमस्कृत्य प्रातिष्ठत युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वण्यनुद्यूतपर्वणि युधिष्ठिर-वनप्रस्थाने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

वैशम्पायन उवाच। तस्मिन् संप्रस्थिते कृष्णा पृथां प्राप्य यशस्विनीम्। आपृच्छद् भृशदुःखार्ता याश्चान्यास्तत्र योषितः ॥ १ ॥ यथार्हं वन्दनाश्लेषान् कृत्वा गन्तुमियेष सा। ततो निनादः सुमहान् पाण्डवान्तःपुरेऽभवत् ॥ २ ॥ कुन्ती च भृशसन्तप्ता द्रौपदीं प्रेक्ष्य गच्छतीम्। शोकविह्वलया वाचा कृच्छ्राद्वचनमब्रवीत्

हे भरतवंशी राजन्! तुम्हारा कल्याण हो॥ २१ ॥ २२ ॥ मैं फिर भी तुम्हें कृतार्थ हुआ और सुखी देखूंगा, क्योंकि—तुमने पहिले कोई पापकर्म किया हो, ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता २३ वैशंपायनजी कहते हैं, कि—हे जनमेजय! सत्यपराक्रमी राजा युधिष्ठिरने विदुरजीके इन वचनोंको अपने मस्तक परचढ़ा स्वीकार किया और भीष्म पितामह तथा द्रोणाचार्यको प्रणाम करके वनवास करनेको चलदिये ॥२४॥ सप्तसप्ततितम अध्याय समाप्त ७७

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे जनमेजय! धर्मराज अपनी माता कुन्तीके पाससे वनमें जानेकी आज्ञा लेकर बाहर आये, उसी समय अतिदुःखसे व्याकुल हुई द्रौपदी कीर्तिमती कुन्तीजीके तथा सामने ही और जो स्त्रियें खड़ी थी उनके पास गई और अपनी सास तथा अन्य स्त्रियोंसे वनमें जानेकी आज्ञा मांगी और यथायोग्य रीतिसे किसी को प्रणाम और किसीको आलिङ्गन आदि करके वनको जाने की इच्छा दिखाई उस समय पाण्डवोंके अन्तःपुरमें बड़ा भारी शोकदायक कोलाहल होने लगा, द्रौपदी को वनवासके लिये जाती हुई देखकर कुन्ती बहुत ही दुःखित हुई और शोकसे विह्वल हुई वाणीमें बड़े कष्टके साथ द्रौपदीसे

॥ ३ ॥ वत्से शोको न ते कार्य्यः प्राप्येदं व्यसनं महत् । स्त्रीधर्माणामभिज्ञासि शीलाचारवती तथा ॥४॥ न त्वां सन्देष्टुमर्हामि भर्त्तॄन् प्रति शुचिस्मिते । साध्वी गुणसमापन्ना भूषितं ते कुलद्वयम् ॥ ५ ॥ सभाग्याः कुरवश्चेमे ये न दग्धास्त्वयानघे । अरिष्टं व्रज पन्थानं मदनुध्यानबृंहिता ॥ ६ ॥ भाविन्यर्थे हि सत्स्त्रीणां वैक्लव्यं नोपजायते । गुरुधर्माभिगुप्ता च श्रेयःक्षिप्रमवाप्स्यसि ॥७॥ सहदेवश्च मे पुत्रः सदावेक्ष्यो वने वसन् । यथेदं व्यसनं प्राप्य नायं सीदेन्महामतिः ॥ ८॥ तथेत्युक्त्वा तु सा देवी स्रवन्नेत्रजलाविला । शोणिताक्तैकवसना मुक्तकेशी विनिर्ययौ ॥ ९ ॥ तां

कहा, कि-॥ १-३ ॥ हे बेटी ! इस बड़े भारी दुःखमें पड़कर तू शोक न करना, तू स्त्रियोंके धर्मको जानती है, शील और सदाचारको धारण किये रहती है ॥ ४ ॥ इसलिये हे पवित्र और मन्द हास्यवाली बहू ! मैं तेरे पतियोंके विषयमें तुझे शिक्षा देनेकी योग्यता नहीं रखती हूं, क्योंकि—तू पतिव्रता, गुणवती और दोनों कुलका उजाला है ॥ ५ ॥ हे निर्दोष बहू ! तूने इन कौरवोंको शाप देकर भस्म नहीं किया, सो यह कौरव यथार्थमें भाग्यशाली हैं, तू पतिव्रता है तब भी माताकी समान प्रेमभावको भी धारण करके पतियोंके ऊपर प्रेम करतीहुई निर्विघ्नतासे वनको जा ॥ ६ ॥ कुलीन स्त्रियें दैवी दुःखके समय जरा भी नहीं घबड़ाती हैं सो तू भी घबड़ाना मत पातिव्रत्यरूपी धर्म तेरी सदा रक्षा करता है इस कारण तू थोड़े ही समयमें सुख पावेगी ॥ ७ ॥ अब तुझसे इतना कहना है, कि-तू वनमें वसते समय मेरे पुत्र सहदेवकी नित्य सम्हाल रखना कि-जिससे वह बुद्धिमान् वनवासके दुःखको पाने पर भी दुःखी न होय ॥ ८ ॥ इस समय जिसका आधा वस्त्र रजोधर्मके रुधिर से भीगरहा था तथा जिसके मस्तक पर केश बिखर रहे थे वह द्रौपदी बराबर अश्रुधारा बहाती हुई 'अच्छा ऐसा ही करूंगी, इस प्रकार कहकर राजभवनमेंसे बाहर निकल आयी ॥ ९ ॥ और रोतीहुई आगेको चलने

क्रोशन्तीं पृथा दुःखादनुवव्राज गच्छतीम् ॥ अथापश्यत् सुतान् सर्वान् हृताभरणवाससः ॥१०॥ रुरुचर्मावृततनून् ह्रिया किञ्चिद्-वाङ्मुखान् । परैः परीतान् संहृष्टैः सुहृद्भिश्चानुशोचितान् ॥ ११॥ तदवस्थान्सुतान्सर्वानुपसृत्यातिवत्सला । स्वजमानावदच्छोकात्त-द्विलपन्ती बहु ॥ १२ ॥ कुन्त्युवाच । कथं सद्धर्मचारित्रान् वृत्त-स्थितिविभूषितान् । अक्षुद्रान् दृढभक्तांश्च दैवतेज्यापरान् सदा ॥ १३ ॥ व्यसनं वः समभ्यागात् कोऽयं विधिविपर्ययः । कस्यापध्यानजं चेदमागः पश्यामि वो धिया ॥ १४ ॥ स्यात्तु तद्भाग्यदोषोऽयं याहं युष्मानजीजनम् । दुःखायासभुजोऽत्यर्थं

लगी, कि—उसके पीछे २ कुन्ती भी बड़े कष्टसे जाने लगी और देखा, कि—अपने पाँचों पुत्रोंके शरीरों परसे गहने और वस्त्र उतार लिये गए, वह अपने शरीरोंपर काली मृगछालाएँ ओढ़ रहे हैं, वह लज्जामें अपने मुख नीचेको किये हुए खड़े हैं, उनके आस पास इकट्ठे होकर खड़े हुए शत्रु प्रसन्न होरहे हैं और सगे संबंधी उनकी दुर्दशाकी ओर दृष्टि करके शोक कररहे हैं, ऐसी दशामें पड़े हुए अपने पाँचों पुत्रोंको देखकर अति व्याकुल होती हुई कुन्ती उनके पास गई और उनको छातीसे लगा कर बड़ा शोक करनेलगी तथा उनके पहिले भोगेहुए ऐश्वर्योंको याद करके विलाप करती हुई कहनेलगी ॥ १०—१२ ॥ कुन्तीने विलपतेहुए कहा, कि—हे पुत्रों ! तुम श्रेष्ठ धर्मके सेवक, सदाचारवान, सद्गुणी, सुदशामें शोभायमान, उत्तम विचारयुक्त और परमेश्वरके ऊपर दृढ़ भक्ति करने वाले तथा देवसेवा और यज्ञादिमें सदा तत्पर रहते हो, तब भी तुम्हारे ऊपर यह सङ्कट आकर पड़ा है, इसलिये मैं विचार करके भी नहीं जान सकी हूं, कि—क्या यह प्रारब्ध ही प्रतिकूल होगया ? अथवा किसीका अपराध करनेसे यह दुःख तुम्हारे ऊपर आकर पड़ा है ॥ १३—१४ ॥ इसमें केवल मेरे ही भाग्यका दोष प्रतीत होता है, कि-जिस मैंने तुम्हें जन्म दिया

युक्तानप्युत्तमैर्गुणैः ॥ १५ ॥ कथं वत्स्यथ दुर्गेषु वने ऋद्धिं विना कृताः । वीर्यसत्त्वबलोत्साहतेजोभिरकृशाः कृशाः ॥ १६ ॥ यद्येतदेवमज्ञास्यं वने वासो हि वो ध्रुवम् । शतशृङ्गान्मृते पाण्डौ नागमिष्यं गजाह्वयम् ॥१७॥ धन्यं वा पितरं मन्ये तपोमेधान्वितं तथा । यः पुत्राधिमसंप्राप्य स्वर्गेच्छामकरोत् प्रियाम् ॥ १८ ॥ धन्या चातीन्द्रियज्ञानामिमां प्राप्तां परां गतिम् । मन्ये तु माद्रीं धर्मज्ञां कल्याणीं सर्वथैव तु ॥ १९ ॥ रत्या मत्या च गत्या च ययाहमभिसन्धिता । जीवितप्रियतां मह्यं धिङ् मां संक्लेशभागिनीम् ॥ २० ॥ पुत्रका न विहास्ये वः कृच्छ्रलब्धान् प्रियान् सतः ।

हैं, क्योंकि तुम पहिले उत्तम गुणोंसे युक्त हो तथापि अत्यन्त दुःख और परिश्रम को भोग रहे हो॥१५॥ तुम पहिले वीर्य, सत्त्व, बल, उत्साह तथा तेजसे परिपूर्ण थे वह ही तुम पहिले इससमय वीर्य आदि तथा सम्पत्तिसे हीन होगए हो, तुम वनमें दुःखदायक स्थानोंमें कैसे रह सकोगे ॥ १६ ॥ यदि मैं पहिलेसे ही ऐसा जानती होती कि—तुम्हें अवश्य ही वनवासको जाना पड़ेगा, तो महाराज पाण्डुके मरनेके पीछे मैं शतशृङ्ग पर्वतसे यहां हस्तिनापुरमें आती ही नहीं ॥ १७ ॥ तुम्हारे बुद्धिमान् पिता पांडुको मैं भाग्यवान् समझती हूं, क्योंकि—उन्होंने पुत्रोंके दुःखको देखनेसे पहिले ही स्वर्गवासी होनेकी इच्छा की ॥ १८ ॥ तिसी प्रकार दिव्य ज्ञानवाली धार्मिका माद्री भी पुत्रोंके दुःख देखनेसे पहिले ही परलोकको सिधार गई, इसकारण उसको भी मैं सर्वथा भाग्यवती समझती हूं १९ इसके सिवाय प्रेम, बुद्धि तथा आचरणमें जिनके साथ एक होकर रहती थी उनका मरण होजाने पर भी मैं जीवनकी तुच्छ तृष्णा के कारण अबतक जीरही हूं और ऐसे कष्टोंको भोगती हूं, इसलिये मुझे और मेरी तृष्णाको धिक्कार है ॥ २० ॥ हे पुत्रों ! मैंने तुम्हें बड़े २ कष्ट भोगकर पाया है, तुम मुझे प्रिय और सद्‌गुणी हो, इसकारण मैं तुम्हें अकेले वनमें नहीं जाने दूंगी, किंतु

साहं यास्यामि हि वनं हा कृष्णे किं जहासि माम् ॥ २१ ॥ अन्तवत्यसुधर्मेऽस्मिन् धात्रा किंनु प्रमादतः । ममान्तो नैव विहितस्तेनायुर्न जहाति माम् ॥ २२ ॥ हा कृष्ण द्वारकावासिन् क्वासि सङ्कर्षणानुज । कस्मान्न त्रायसे दुःखान्मां च मांश्च नरोत्तमान् ॥ २३ ॥ अनादिनिधनं ये त्वामनुध्यायन्ति वै नराः । तांस्त्वं पासीत्ययं वादः स गतो व्यर्थतां कथम् ॥ २४ ॥ इमे सद्धर्ममाहात्म्ययशोवीर्यानुवर्तिनः । नार्हन्ति व्यसनं भोक्तुं नन्वेषां क्रियतां दया ॥ २५ ॥ सेयं नीत्यर्थविज्ञेषु भीष्मद्रोणकृपादिषु । स्थितेषु कुलनाथेषु कथमापदुपागता ॥ २६ ॥ हा पाण्डो हा महाराज क्वासि किं समुपेक्षसे । पुत्रान् विवास्यतः साधूनरिभिर्द्यूतनिर्जितान्

मैं भी तुम्हारे साथ ही वनको चलती हूं, हे द्रौपदी ! क्या तू मुझे छोड़कर चली जायगी ? ॥ २१ ॥ क्षणभरमें विनाश होजाना, यह प्राणियोंका धर्म है परन्तु विधाताने प्रमाद किया, जो पांडुकी समान मेरा अन्त नहीं रचा इस लिये आयु मुझे नहीं छोड़ती है ॥२२॥हा कृष्ण! हा द्वारकावासिन्! हा सङ्कर्षणके छोटे भैया! इस भयानक कष्टमेंसे मेरी और मेरे महात्मा पुत्रोंकी रक्षा तुम क्यों नहीं करते हो ?॥२३॥जो मनुष्य, अनादि अनन्तरूप आपका ध्यान करते हैं उनकी तुम रक्षा किया करते हो, यह बात इस समय झूठी क्यों होगई ?॥२४॥हा कैसा प्रारब्ध पलटा है ! कि-जो मेरे पुत्र सदा धर्माचरणमें तत्पर रहते हैं जिनका बड़ा गौरव, यश और वीरता है उनके ऊपर ऐसा अनुचित कष्ट पड़ा है, हे भगवन् ! तुम इनके ऊपर दया करो ॥ २५ ॥ अरे रे ! नीति तथा व्यवहारमें चतुर भीष्मपितामह द्रोणाचार्य और कृपाचार्य आदि कुरुकुलके नेताओं के सभामें बैठे होने पर भी यह विपत्ति हमारे ऊपर कैसे आगई ॥ २६ ॥ हा महाराज पाण्डो ! तुम कहां हो ! शत्रु तुम्हारे निरपराधी पुत्रोंको कपटद्यूतमें हराकर वनवासके लिये भेजरहे हैं, हे नाथ ! इस समय तुम उपेक्षा क्यों कर रहे हो ! ॥ २७ ॥ बेटा

॥ २७ ॥ सहदेव निवर्त्तस्व ननु त्वमसि मे प्रियः । शरीरादपि
माद्रेय मा मा त्याक्षीः कुपुत्रवत् ॥ २८ ॥ व्रजन्तु भ्रातरस्तेऽमी
यदि सत्याभिसन्धिनः । मत्परित्राणजं धर्ममिहैव त्वमवाप्नु हि २९
वैशम्पायन उवाच । एवं विलपतीं कुन्तीमभिवाद्य प्रणम्य च ।
पाण्डवा विगतानन्दा वनायैव प्रवव्रजुः ॥३०॥ विदुरश्चापि तामार्त्तां
कुन्तीमाश्वास्य हेतुभिः । प्रावेशयद् गृहं क्षत्ता स्वयमार्त्ततरः शनैः
॥ ३१ ॥ धार्त्तराष्ट्रस्त्रियस्ताश्च निखिलेनोपलभ्य तत् । गमनं परि-
कर्षञ्च कृष्णाया द्यूतमण्डले ॥ ३२ ॥ रुरुदुः सुस्वनं सर्वा विनि-
न्दन्त्यः कुरून् भृशम् । दध्युश्च सुचिरं कालं करासक्तमुखाम्बुजाः
॥ ३३ ॥ राजा च धृतराष्ट्रस्तु पुत्राणामनयं तदा । ध्यायन्नुद्विग्न-

माद्रीकुमार सहदेव ! तू तो मुझे अपने प्राणोंसे भी अधिक प्यारा है इसलिये तू लौट आ, तुझे कुपुत्रकी समान मेरा त्याग नहीं करना चाहिये ॥ २८ ॥ तेरे यह भ्राता यदि धर्मानुकूल सत्य प्रतिज्ञामें बँधे हुए हैं तो यह वनमें जाकर भले वसें, परन्तु तू तो पास रहकर मेरी रक्षा कर, इसप्रकार यहां ही तुझे धर्मकी प्राप्ति होजायगी ॥ २९ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—इसप्रकार विलाप करती हुई कुन्तीकी दयाभरी वातोंको सुनकर खिन्न हुए पांडव कुन्तीको प्रणाम करके वनमें जानेको चलनेलगे ॥ ३० ॥ तब विदुरजीने कातर होती हुई कुन्तीको दैवकी प्रबलता बताने वाले वचनों से शान्त किया और फिर बहुत व्याकुल हुए विदुर जी स्वयं ही धीरे २ उसको अपने घर लिवा गए ॥ ३१ ॥ *इतने ही में दुःशासन द्रौपदीको द्यूतसभामें लेगया था और वहां* उसके केश पकड़कर घसीटा था, यह सुनकर धृतराष्ट्र के यहांकी सब स्त्रियें कौरवोंकी बहुतही निन्दा करती हुई डीक फोड़कर रोने लगीं और हाथपर मुखकमलको रखकर बहुत देरतक [redacted] विषयकी ही चिंता करती रहीं ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ उस समय राजा धृतराष्ट्र भी अपने पुत्रोंके अन्यायका विचार करके

हृदयो न शान्तिमधिजग्मिवान् ॥ ३४ ॥ स चिन्तयन्ननेशाग्रः शोकव्याकुलचेतनः । क्षत्तुः संप्रेषयामास शीघ्रमागम्यतामिति ॥ ३५ ॥ ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम् ॥ तं पर्यपृच्छत् संविग्नो धृतराष्ट्रो नराधिपः ॥ ३६ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वण्यनुद्यूतपर्वणि धृतराष्ट्रप्रश्नेऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

वैशम्पायन उवाच । तमागतमथो राजा विदुरं दीर्घदर्शिनम् । साशङ्क इव पप्रच्छ धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥१॥ धृतराष्ट्र उवाच । कथं गच्छति कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ भीमसेनः सव्यसाची माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥२॥ धौम्यश्चैव कथं क्षत्तर्द्रौपदी च यशस्विनी । श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं तेषां शंस विचेष्टितम् ॥ ३ ॥ विदुर उवाच । वस्त्रेण संवृत्य मुखं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । बाहू विशालौ संपश्यन्

मनमें संताप करने लगे और उनके चित्तको किसीप्रकार शांति नहीं मिली ॥ ३४ ॥ उनका मन शोकसे बड़ा ही व्याकुल हो उठा और उन्होंने विदुरजीके पास एक दूतको भेजकर कहलाया कि—तुम शीघ्र ही मेरे पास आओ ॥ ३५ ॥ दूतके ऐसा कहने पर विदुरजी धृतराष्ट्रके निवासस्थानमें गए तब उदास बैठे हुए राजा धृतराष्ट्रने विदुरजीसे प्रश्न किया ॥ ३६ ॥ अष्टसप्ततितम अध्याय समाप्त ॥ ७८ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन जी कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! तदनन्तर चित्त में शङ्कित हुए अम्बिकाके पुत्र धृतराष्ट्रने अपने पास आये हुए दीर्घदर्शी विदुरजीसे बूझा ॥१॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि-हे विदुर! धर्म तथा कुन्तीके पुत्र युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव धौम्य मुनि और यशस्विनी द्रौपदी यह सब वनमें रहनेको किस प्रकारसे जारहे हैं यह सब मैं सुनना चाहता हूं, इसलिये मुझसे उनकी चेष्टाका वर्णन करिये ॥ २॥ ३॥ विदुरजीने कहा कि-कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर वस्त्रसे अपने मुखको ढक कर जारहे हैं,

भीमो गच्छति पाण्डवः ॥ ४ ॥ सिकता वपन् सव्यसाची राजानमनुगच्छति । माद्रीपुत्रः सहदेवो मुखमालिप्य गच्छति ॥ ५ ॥ पांशूपलिप्तसर्वाङ्गो नकुलश्चित्तविह्वलः । दर्शनीयतमो लोके राजानमनुगच्छति ॥ ६ ॥ कृष्णा तु केशैः प्रच्छाद्य मुखमायतलोचना । दर्शनीया प्ररुदती राजानमनुगच्छति॥७॥ धौम्यो रौद्राणि सामानि याम्यानि च विशाम्पते । गायन् गच्छति मार्गेषु कुशानादाय पाणिना ॥ ८ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । विविधानीह रूपाणि कृत्वा गच्छन्ति पाण्डवाः । तन्ममाचक्ष्व विदुर कस्मादेवं व्रजन्ति ते ॥९ ॥ विदुर उवाच । निकृतस्यापि ते पुत्रैर्हृते राज्ये धनेषु च । न धर्माच्चलते बुद्धिर्धर्मराजस्य धीमतः ॥ १० ॥ योऽसौ राजा घृणी नित्यं धार्त्तराष्ट्रेषु भारत । निकृत्या भ्रंशितः क्रोधान्नोन्मीलयति

पाण्डुपुत्र भीमसेन अपने विशाल भुजदण्डोंकी ओरको देखता हुआ जारहा है ॥ ४ ॥ अर्जुन धूलिको उड़ाता हुआ धर्मराजके पीछे २ जारहा है और माद्रीका पुत्र सहदेव अपने मुखपर धूलि मल कर धर्मराजके पीछे जारहा है और जगत्में परमदर्शनीय नकुल अपने सब शरीरपर धूलि मलकर मनमें व्याकुल होताहुआ धर्मराज के पीछे२गया है५-६ विशाल नेत्रोंवाली सुंदरी द्रौपदी२अपने खुले हुए केशोंसे मुखको ढककर रोती हुई युधिष्ठिरके पीछे जारही है ७ और हे राजन् ! धौम्य ऋषि हाथमें कुशोंकी गड्डी लेकर मार्गमें, जिनका देवता यमराज है उन भयदायक सामवेदके मंत्रोंका गान करते हुए जारहे हैं ॥ ८ ॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि–पाण्डव अनेकों प्रकारके स्वरूप धारण करके वनको जारहे हैं, हे विदुर ! मुझे बताओ, कि—यह इस प्रकार क्यों जारहे हैं ॥ ९ ॥ विदुरजीने कहा, कि—हे धृतराष्ट्र ! तुम्हारे पुत्रोंने छलसे धर्मराजको जुएमें हराकर यद्यपि उनका राज्य तथा सकल सम्पत्ति छीनली है और उनको निर्धन कर दिया है तो भी विचारशील धर्मराजकी बुद्धि धर्ममेंसे नहीं हटी है ॥१०॥ हे भरतवंशी राजन् ! यह धर्मराज

लोचने ॥ ११ ॥ नाहं जनं निर्दहेयं दृष्ट्वा घोरेण चक्षुषा । स पिधाय मुखं राजा तस्माद् गच्छति पाण्डवः ॥ १२ ॥ यथा च भीमो व्रजति तन्मे निगदतः शृणु । बाह्वोर्बले नास्ति समो ममेति भरतर्षभ ॥ १३ ॥ बाहू विशालौ कृत्वासौ तेन भीमोऽपि गच्छति । बाहू विदर्शयन् राजन् बाहुद्रविणदर्पितः ॥ १४ ॥ चिकीर्षन् कर्म शत्रुभ्यो बाहुद्रव्यानुरूपतः । प्रदिशन् शरसम्पातान् कुन्तीपुत्रोऽर्जुनस्तदा ॥ १५ ॥ सिकता वपन् सव्यसाची राजानमनुगच्छति । असक्ताः सिकतास्तस्य यथा संप्रति भारत ॥ १६ ॥ असक्तं शरवर्षाणि तथा मोक्ष्यति शत्रुषु । न मे कश्चिद्विजानीयान्मुखम-

निरन्तर तुम्हारे पुत्रोंके ऊपर दया ही रखते हैं, इसी कारण यद्यपि तुम्हारे पुत्रोंने कपट करके उनको राज्यसे भ्रष्ट करदिया "तब भी वह क्रोध करके नेत्रोंको नहीं खोलते हैं ॥११॥ और मैं अपनी घोर दृष्टिसे देखकर उनका नाश न करूँ यही अच्छा है" ऐसे विचारसे पाण्डुपुत्र धर्मराज अपना मुख वस्त्रसे ढककर वनको जारहे हैं ॥ १२ ॥ हे भरतवंशश्रेष्ठ ! अब भीमसेन जिस प्रकार जारहा है, वह भी मैं तुम्हें बताता हूं, सुनो, हे राजन् ! बाहुरूप धनका घमंडी भीमसेन भी अपने भुजदण्डोंको चौड़ा करके "बाहुबलमें मेरी समान दूसरा कोई है ही नहीं" ऐसा जताता और शत्रुओंके सामने अपने बाहुबलकी समान पराक्रम करनेकी इच्छावाला भीमसेन अपनी भुजाओंको दिखाता हुआ धर्मराजके पीछे २ जारहा है, कुन्तीपुत्र अर्जुन युद्धमें शत्रुओंके ऊपर इस प्रकार ही बाणोंकी वर्षा करनेकी सूचना देता ऐसा धूलि उड़ाता हुआ धर्मराजके पीछे जारहा है, हे भरतवंशी राजन् ! इस समय उसकी रेती जैसे अलग २ को उड़ती है तैसे ही शत्रुओंके ऊपर बाणोंकी जुदी २ वर्षा करेगा ॥१३-१६॥ हे भरतवंशी राजन् ! 'इस संकटके समयमें कोई भी मेरा मुख न देखे तो अच्छा है इस कारण हे राजन् ! सहदेव भी अपने मुख पर धूलि मलकर युधि-

थ ति भारत ॥ १७ ॥ मुखमालिप्य तेनासौ सहदेवोऽपि गच्छति।
नाहं मनांस्यादद्ेयं मार्गे स्त्रीणामिति प्रभो। पांशूपलिप्तसर्वाङ्गो
नकुलस्तेन गच्छति ॥ १८ ॥ एकवस्त्रा प्ररुदती मुक्तकेशी रजस्वला।
शोणिताक्तवसना द्रौपदी वाक्यमब्रवीत् ॥१९॥ यत्कृतेऽहमिदं
प्राप्ता तेषां वर्षे चतुर्दशे। हतपत्न्यो हतसुता हतबन्धुजनप्रियाः
॥२०॥ बहुशोणितदिग्धाङ्ग्यो मुक्तकेश्यो रजस्वलाः। एवं कृतो-
दका भार्याः प्रवेक्ष्यन्ति गजाह्वयम् ॥ २१ ॥ कृत्वा तु नैर्ऋतान्
दर्भान् धीरो धौम्यः पुरोहितः। सामानि गायन् याम्यानि पुरतो
याति भारत ॥ २२ ॥ हतेषु भारतेष्वाजौ कुरूणां गुरवस्तदा।
एवं सामानि गास्यन्तीत्युक्त्वा धौम्योऽपि गच्छति ॥ २३ ॥

सिरके पीछे जारहा है ॥ १७ ॥ और हे प्रभो! "मार्गमें अपनी सुन्दरतासे मैं स्त्रियोंके मनोंको मोहित न करूँ तब ही ठीक है" इस विचारसे नकुल अपने सब शरीर पर धूलि मलकर धर्मराजके पीछे २ जारहा है ॥ १८॥ इसके सिवाय चलते समय एकवस्त्र धारिणी खुले केशोंवाली, रजस्वला और जिसका अधोवस्त्र रजके रुधिरसे भीगरहा था उस द्रौपदीने रोते २ कहा कि—॥ १९ ॥ जिन्होंने मेरी ऐसी दशा करी है उनकी स्त्रियें आजसे चौदहवें वर्षमें रोवेंगी, उनके पुत्र बान्धव, मनुष्य तथा प्रियतमोंका विनाश होगा और बहुतसे रुधिरसे जिनके शरीर भीगे होंगे तथा जिनके केश खुले होंगे ऐसी कौरवोंकी रजस्वला स्त्रियें मरणको प्राप्त हुए अपने पति आदि सगे सम्बन्धियोंको जलदान देकर हस्तिनापुर में प्रवेश करेंगी ॥ २० ॥ २१ ॥ और हे भरतवंशी राजन्! धैर्य-धारी धौम्य पुरोहित नैर्ऋत्य दिशाकी ओरको कुशोंके मुख करके यमदेवतावाले सामवेदके मंत्रोंका गान करतेहुए सबके आगे२ गए हैं ॥ २२ ॥ इससे ऐसा प्रतीत होता है, कि जब भरतवंशी राजे रणमें मारेजायँगे तब कौरवोंके गुरु इसप्रकार यम देवताके साममंत्रोंका गान करेंगे, इस बातको ही जताते हुए धौम्य ऋषि

हा हा गच्छन्ति नो नाथा समवेक्ष्यध्वमीदृशम् । अहो धिक् कुरुवृद्धानां बालानामिव चेष्टितम् ॥ २४ ॥ राष्ट्रेभ्यः पाण्डुदायादांल्लोभान्निर्वासयन्ति ये ।अनाथा स्म वयं सर्वे वियुक्ताः पाण्डुनन्दनैः ॥ २५ ॥ दुर्विनीतेषु लुब्धेषु का प्रीतिः कौरवेषु नः । इति पौराः सुदुःखार्त्ताः क्रोशन्ति स्म पुनः पुनः ॥ २६ ॥ एवमाकारलिङ्गैस्ते व्यवसायं मनोगतम् । कथयन्तश्च कौन्तेयः वनं जग्मुर्मनस्विनः ॥२७॥ एवं तेषु नराग्र्येषु निर्यात्सु गजसाह्वयात् । अनभ्रे विद्युतश्चासन् भूमिश्च समकम्पत ॥ २८ ॥ राहुरग्रसदादित्यमपर्वणि विशाम्पते । उल्का चाप्यपसव्येन पुरं कृत्वा व्यशीर्यत ॥ २९ ॥ प्रत्याहरन्ति क्रव्यादा गृध्रगोमायुवायसाः । देवायतनचैत्येषु प्राकाराट्टालकेषु च ॥ ३० ॥ एवमेते महोत्पाता-

---

धर्मराजके साथ गए हैं ॥ २३ ॥ और नगरमें प्रजाके सब लोग अति दुःखसे व्याकुल होकर बारंवार विलाप कररहे हैं और यह कहते हैं, कि–हाय हाय ! देखो हमारे महाराज वनको जारहे हैं ! अरे ! धिक्कार है वृद्ध कौरवोंके इन बालकोंकेसे मूर्खताभरे कर्मको कि–जो कौरव लोभके कारण पाण्डुके पुत्रोंको देशसे निकाल रहे हैं,इन पांडुपुत्रोंके जुदे होनेसे हम तो अनाथ होगए,इन अन्यायी लोभी कौरवोंके ऊपर हमारा प्रेम कैसे होसकता है ? ॥२५–२६॥ इस प्रकार अपने आकार और चिन्होंसे मानो अपने मनका भाव कहते हुए मनस्वी पाण्डव वनको चलेगए॥ २७ ॥ इस प्रकार उन महापुरुषोंके हस्तिनापुरसे बाहर निकलते ही हे राजन्! बिना मेघके ही आकाशमें बिजलियें चमकने लगीं और भूमि कांपने लगी२८ राहु अमावास्याके बिना ही पूर्ण सूर्यमण्डलको ग्रस गया और नगरके दाहिनी ओर उल्कापात होनेलगा॥२९॥ मांसभक्षी गिद्ध पक्षी, गीदड़ियें और कौए नगरके समीपमें, देवमंदिरोंमें चैत्योंमें, किलोंके ऊपर और अटारियोंके ऊपर मरे हुए मनुष्योंके मांस तथा हड्डियें आदि लाकर डालने लगे हैं ॥३० ॥ हे राजन् ! इस प्रकार

प्रादुरासन् दुरासदाः । भारतानामभावाय राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ ३१ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवम्प्रवदतोरेव तयोस्तत्र विशाम्पते । धृतराष्ट्रस्य राज्ञश्च विदुरस्य च धीमतः ॥ ३२ ॥ नारदश्च सभामध्ये कुरूणामग्रतः स्थितः । महर्षिभिः परिवृतो रौद्रं वाक्यमुवाच ह ॥ ३३ ॥ इतश्चतुर्दशे वर्षे विनङ्क्ष्यन्तीह कौरवाः । दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥ ३४ ॥ इत्युक्त्वा दिवमाक्रम्य क्षिप्रमन्तरधीयत । ब्राह्मीं श्रियं सुविपुलां बिभ्रद्देवर्षिसत्तमः॥३५॥ वैशम्पायन उवाचाततो दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः।द्रोणं द्वीपममन्यन्त राज्यं चास्मै न्यवेदयन् ॥३६॥ अथाब्रवीत्ततो द्रोणो दुर्योधनममर्षणम् । दुःशासनञ्च कर्णं च सर्वानेव च भारतान् ॥३७॥ अवध्यान्पाण्डवान्माहुर्देवपुत्रान् द्विजातयः । अहं वै शरणं

तुम्हारी खोटी संमतिसे भरतवंशी राजाओंका नाश करनेके लिये भयानक उत्पात होने लगे हैं ॥ ३१ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे राजन् ! इस प्रकार बुद्धिमान् विदुर और राजा धृतराष्ट्र बातें कररहे थे, कि इतनेमें ही दूसरी ओर सभामें कौरवोंके आगे बैठे हुए और महर्षियोंसे घिरेहुए परम तेजस्वी देवर्षियोंमें श्रेष्ठ नारद मुनिने भयानक बात कही ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ कि—इस दुर्योधनके अपराधके कारण आजसे चौदहवें वर्ष भीमसेन और अर्जुनके बलसे कौरवोंका नाश होजायगा ॥ ३४ ॥ ऐसा कहकर बड़े ब्रह्मतेजसे दमकते देवर्षियोंमें श्रेष्ठ नारदमुनि, आकाशमें को चढ़कर अन्तर्धान होगए ॥ ३५ ॥ फिर दुर्योधन, कर्ण और सुबलनन्दन शकुनिने द्रोणाचार्यको अपना मुख्य अवलम्बन समझ कर पाण्डवोंका सब राज्य उनको सौंप दिया ॥३६॥ द्रोणाचार्यने डाह करनेवाले दुर्योधन, दुःशासन और दूसरे सकल भरतवंशी राजाओंसे कहा, कि—॥ ३७ ॥ पाण्डव देवताओंके पुत्र हैं और इनको कोई नहीं मार सकता, ऐसा ब्राह्मण कहते हैं, तथापि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने मेरी शरण ली है इसकारण सकल राजाओं

मात्मान् वर्त्तमानो यथाबलम् ॥ ३८ ॥ गन्वा सर्वात्मना भक्त्या धार्त्तराष्ट्रान् सराजकान्। नोत्सहेयं परित्यक्तुं दैवं हि बलवत्तरम् ॥ ३६ ॥ धर्मतः पाण्डपुत्रा वै वनं गच्छन्ति निर्जिताः। ते च द्वादशवर्षाणि वने वत्स्यन्ति पाण्डवाः ॥ ४० ॥ चरितब्रह्मचर्याश्च क्रोधामर्षवशानुगाः। वैरं निर्यातयिष्यन्ति महद्दुःखाय पाण्डवाः ॥ ४१ ॥ मया च भ्रंशितो राज्यात् द्रुपदः सखिविग्रहे। पुत्रार्थमयजद्राजा वधाय मम भारत ॥ ४२ ॥ याजोपयाजतपसा पुत्रं लेभे स पावकात्। धृष्टद्युम्नं द्रौपदीं च वेदीमध्यात् सुमध्यमाम् ॥४३॥ धृष्टद्युम्नस्तु पार्थानां श्यालः सम्बन्धिनां मतः। पाण्डवानां प्रियतरस्तस्मान्मां भयमाविशत् ॥ ४४ ॥ ज्वालावर्णो देवदत्तो धनुष्मान् कवची शरी। मर्त्यधर्मतया तस्मादद्य मे साध्वसौ

सहित इनको मैं अपनी शक्तिके अनुसार प्रेमभावसे पूरी२ सहायता दूंगा, मैं शरणागतको त्यागना नहीं चाहता, क्या करूँ ? दैव सबसे अधिक बली है ॥ ३८ ॥ १६ ॥ जुएमें हारेहुए पाण्डव धर्मानुसार वनको जारहे हैं वह तहां बारह वर्ष पर्यन्त रहेंगे ४० और तहां ब्रह्मचर्यका पालन करके क्रोध और ईर्षामें भरे हुए लौटकर आवेंगे तब अपने ऊपर बीते हुए महासङ्कटका बदला लेंगे ॥ ४१ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! मेरी द्रुपद राजाके साथ मित्रता थी परन्तु मित्रके साथ कलह होजानेके कारण मैंने उसको राजसिंहासनसे भ्रष्ट कर दिया था इसकारण उस राजाने मेरा प्राणांत करने वाला पुत्र पानेके लिये याजक उपयाजक नामवाले तपस्वियों के द्वारा यज्ञ कराकर अग्निदेवताके प्रसन्न होनेपर यज्ञवेदीमेंसे धृष्टद्युम्न नामवाला पुत्र और सुन्दर कमरवाली द्रौपदी कन्या पाई ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ यह धृष्टद्युम्न अर्जुनका साला हुआ है और पाण्डव उसके ऊपर बड़ा प्रेम रखते हैं, मुझे उससे भय मालूम होता है ॥ ४४ ॥ धृष्टद्युम्न अग्निकी समान तेजस्वी, धनुष बाण, कवचधारी, देवताओंका दिया हुआ पुत्र है और मैं मरण-

महान् ॥ ४५ ॥ गतो हि पक्षतां तेषां पार्षतः परवीरहा । रथातिरथसङ्ख्यायां योऽग्रणीरर्जुनो युवा ॥ ४६ ॥ सृष्टमाणो भृशतरं तेन चेत्संगमो मम । किमन्यद्दुःखमधिकं परमं भुवि कौरवाः ॥ ४७ ॥ धृष्टद्युम्नो द्रोणमृत्युरिति विप्रथितं वचः । मद्वधाय श्रुतोऽप्येष लोके चाप्यतिविश्रुतः ॥ ४८ ॥ सोऽयं नूनमनुप्राप्तस्त्वत्कृते काल उत्तमः । त्वरितं कुरुत श्रेयो नैव ह्येतावता कृतम् ॥ ४९ ॥ मुहूर्त्तं सुखमेवैतत्तालच्छायेव हैमनी । यजध्वञ्च महायज्ञैर्भोगानश्नीत दत्त च ॥ ५० ॥ इतश्चतुर्दशे वर्षे महत् प्राप्स्यथ वैशसम् । द्रोणस्य वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ ५१ ॥ सम्यगाह गुरुः क्षत्तरुपा-

धर्मी हूं, इसकारण मुझे उससे बड़ा भय लगता है, शत्रुओंका नाश करनेवाला यह द्रुपदपुत्र पाण्डवोंके पक्षमें होगया है और रथी तथा महारथी राजाओंमें तरुण अवस्थावाला अर्जुन मुख्य है, जब धृष्टद्युम्नके साथ मेरा संग्राम होगा तब उसमें अवश्य ही मैं मारा जाऊंगा, हे कौरवो ! जगत्में इससे बढ़कर दूसरा कौनसा दुःख होसकता है ? ॥ ४५—४७ ॥ जगत्में भी यह बात प्रसिद्ध है, कि-धृष्टद्युम्नसे द्रोणाचार्यकी मृत्यु होगी और वह द्रोणान्तक नामसे ही जगत्में प्रसिद्ध हुआ सुना जाता है ॥ ४८ ॥ ऐसा महादुःखदायक समय जो आपहुंचा है वह अवश्य तुम्हारे ही कारण से आया है, अब तुम "पाण्डवोंको वनमें भेजदिया" इतनेसे ही अपनी मनःकामनाको पूर्ण हुई मत समझो, परन्तु जिसमें अपना कल्याण हो वह प्रबंध शीघ्र ही करो ॥ ४९ ॥ यह तुम्हारा सुख तो हेमन्त ऋतुमें फैली हुई तालके वृक्षकी छायाकी समान दो घड़ीका ही है, तुम बड़े २ यज्ञ करो, नए २ वैभवोंको भोगो और ब्राह्मणोंको धनका दान करके दो ॥ ५० ॥ क्योंकि-आजसे चौदहवें वर्षमें तुम बड़े कष्टमें पड़ोगे, द्रोणाचार्यके ऐसे कथनको सुनकर राजा धृतराष्ट्रने कहा, कि—॥ ५१ ॥ हे विदुर ! गुरुजी ठीक कहते हैं, तुम पाण्डवोंको लौटाकर लाओ और यदि

वर्त्तय पाण्डवान् । यदि ते न निवर्त्तन्ते सत्कृता यान्तु पाण्डवाः । सशस्त्ररथपादाता भोगवन्तश्च पुत्रकाः ॥ ५२ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वण्यनुद्यूतपर्वणि विदुरधृतराष्ट्रद्रोणवाक्ये नवसप्ततितमोऽध्याय. ॥ ७९ ॥

वैशंपायन उवाच । वनं गतेषु पार्थेषु निर्जितेषु दुरोदरे । धृतराष्ट्रं महाराज तदा चिंता समाविशत् ॥ १ ॥ तं चिन्तयानमासीनं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् । निःश्वसन्तमनेकाग्रमिति होवाच सञ्जयः ।२। सञ्जय उवाच । अवाप्य वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिप । प्रव्राज्य पाण्डवान् राज्याद्राजन् किमनुशोचसि ॥ ३ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । अशोच्यस्त्वं कुतस्तेषां येषां वैरम्भविष्यति । पाण्डवैर्युद्धशौण्डैर्हि बलवद्भिर्महारथैः ॥४॥ संजय उवाच । तवेदं सुकृतं राज-

---

वह कुमार लौटकर न आवें तो उनके शस्त्र रथ और सेवक साथ में देदो ऐसा करो, कि-जिसमें वह सत्कारके साथ ऐश्वर्यको भोगते हुए वनमें रहैं ॥५२ ॥ नवसप्ततितम अध्याय समाप्त ७९

वैशंपायनजी कहते हैं, कि—हे महाराज जनमेजय ! जब पाण्डव जुएमें पराजय पाकर वनमें चले गए तब राजा धृतराष्ट्रके मनमें चिन्ता होने लगी ॥ १ ॥ वह एकान्तमें बैठकर लंबी २ श्वासें लेते हुए विचार करनेलगे और उनका मन विह्वल होगया, उस समय सञ्जय उनसे इसप्रकार कहनेलगा ॥ २ ॥ सञ्जय कहता है कि—हे पृथ्वीपते ! तुमने पाण्डवोंको राज्यसे भ्रष्ट करके वनमें भेजदिया और धनसे भरी हुई भूमिको हाथमें लेलिया है, फिर अब किस लिये शोक करते हो ? ॥ ३ ॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि-जिनका पाण्डवोंके साथ वैर हो उनको सुख कहांसे मिल सकता है ? क्योंकि—पांडव युद्ध करनेमें प्रवीण, बलवान् और महारथी हैं ॥ ४ ॥ सञ्जयने कहा, कि—हे राजन ! इस समीपमें पहुंचे हुए वैरको तुमने आप ही खरीदा है, जिससे कि-कुलका

न्महद्वैरमुपस्थितम् । विनाशो येन लोकस्य सानुबन्धो भविष्यति ॥ ५ ॥ वार्यमाणो हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च । पाण्डवानां प्रियां भार्यां द्रौपदीं धर्मचारिणीम् ॥ ६ ॥ प्राहिणोदानयेहेति पुत्रो दुर्योधनस्तव । सूतपुत्रं सुमन्दात्मा निर्लज्जः प्रातिकामिनम् ॥७॥ यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् । बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽर्वाचीनानि पश्यति ॥ ८ ॥ बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे समुपस्थिते । अनयो नयसङ्काशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ९ ॥ अनर्थाश्चार्थरूपेण अर्थाश्चानर्थरूपिणः । उत्तिष्ठन्ति विनाशाय नूनं तच्चास्य रोचते ॥ १० ॥ न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित् । कालस्य बलमेतावद्विपरीतार्थदर्शनम् ॥ ११ ॥ आसादितमिदं घोरं

और दूसरे लोगोंका भी नाश होगा ॥ ५ ॥ तुम्हारे पुत्र दुर्योधन को, भीष्म द्रोणाचार्य और विदुरने समझाया था तब भी मूर्ख, निर्लज्ज दुर्योधनने पांडवों की प्रियपत्नी धर्मचारिणी द्रौपदीको पकड़ कर सभामें ले आनेकी आज्ञा देकर सूतपुत्र प्रातिकामीको भेजा ॥ ६ ॥ ७ ॥ परन्तु इसमें दुर्योधनका कुछ भी दोष नहीं है, उसके प्रारब्धका ही दोष है, देवता जिस पुरुषका अशुभ करना चाहते हैं उसकी बुद्धिका ही नाश करदेते हैं और बुद्धिहीन पुरुष सब बातोंको उलटी ही देखता है ॥ ८ ॥ जब बुद्धि मलिन हो जाती है और विनाश काल समीपमें ही आजाता है तब उसको अन्याय भी न्याय की समान ही मालूम होता है और वह हृदयमें से हटता ही नहीं ॥९॥ इसकारण वह मनुष्य अनर्थोंको अर्थरूप और अर्थोंको अनर्थरूप देखता है और वही उसको अच्छा लगता है ॥१०॥काल कहीं डंडा मारकर किसीके मस्तकको थोड़े ही फोड़ता है,किन्तु जिसका शिर तोड़ना चाहता है उसको अच्छी बात बुरी दीखनेलगती है यही कालका बल है॥११॥तुम्हारे पुत्रोंने तपस्विनी अयोनिजा, रूपवती और अग्निकुण्डमें उत्पन्न हुई द्रौपदीको बीच

वर्त्तय पाण्डवान् । यदि ते न निवर्त्तन्ते सत्कृता यान्तु पाण्डवाः ।
सशस्त्ररथपादाता भोगवन्तश्च पुत्रकाः ॥ ५२ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वण्यनुद्यूतपर्वणि विदुरधृत-
राष्ट्रद्रोणवाक्ये नवसप्ततितमोऽध्याय. ॥ ७९ ॥

वैशंपायन उवाच । वनं गतेषु पार्थेषु निर्जितेषु दुरोदरे । धृत-
राष्ट्रं महाराज तदा चिंता समाविशत् ॥ १ ॥ तं चिन्तयानमासीनं
धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् । निःश्वसन्तमनेकाग्रमिति होवाच सञ्जयः ।२।
सञ्जय उवाच । अवाप्य वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिप । प्रव्राज्य
पाण्डवान् राज्याद्राजन् किमनुशोचसि ॥ ३ ॥ धृतराष्ट्र उवाच ।
अशोच्यस्त्वं कुतस्तेषां येषां वैरम्भविष्यति । पाण्डवैर्युद्ध-
शौण्डैर्हि बलवद्भिर्महारथैः ॥४॥ संजय उवाच । तवेदं सुकृतं राज-

---

वह कुमार लौटकर न आवें तो उनके शस्त्र रथ और सेवक साथ में देदो ऐसा करो, कि-जिसमें वह सत्कारके साथ ऐश्वर्यको भोगते हुए वनमें रहैं ॥५२ ॥ नवसप्ततितम अध्याय समाप्त ७९

वैशंपायनजी कहते हैं, कि—हे महाराज जनमेजय! जब पाण्डव जुएमें पराभव पाकर वनमें चले गए तब राजा धृतराष्ट्रके मनमें चिन्ता होने लगी ॥ १ ॥ वह एकान्तमें बैठकर लंबी २ श्वासें लेते हुए विचार करनेलगे और उनका मन विह्वल होगया, उस समय सञ्जय उनसे इसप्रकार कहनेलगा ॥ २ ॥ सञ्जय कहता है कि—हे पृथ्वीपते ! तुमने पाण्डवोंको राज्यसे भ्रष्ट करके वनमें भेजदिया और धनसे भरी हुई भूमिको हाथमें लेलिया है, फिर अब किस लिये शोक करते हो ? ॥ ३ ॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि—जिनका पाण्डवोंके साथ वैर हो उनको सुख कहांसे मिल सकता है ? क्योंकि—पांडव युद्ध करनेमें प्रवीण, बलवान् और महारथी हैं ॥ ४ ॥ सञ्जयने कहा, कि—हे राजन ! इस समीपमें पहुंचे हुए वैरको तुमने आप ही खरीदा है, जिससे कि-कुल का

महद्वैरमुपस्थितम् । विनाशो येन लोकस्य सानुबन्धो भविष्यति ॥ ५ ॥ वार्यमाणो हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च । पाण्डवानां प्रियां भार्यां द्रौपदीं धर्मचारिणीम् ॥ ६ ॥ प्राहिणोदानयेहेति पुत्रो दुर्योधनस्तव । सूतपुत्रं सुमन्दात्मा निर्लज्जः प्रातिकामिनम् ॥७॥ यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् । बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽर्वाचीनानि पश्यति ॥ ८ ॥ बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे समुपस्थिते । अनयो नयसङ्काशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ९ ॥ अनर्थाश्चार्थरूपेण अर्थाश्चानर्थरूपिणः । उत्तिष्ठन्ति विनाशाय नूनं तच्चास्य रोचते ॥ १० ॥ न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित् । कालस्य बलमेतावद्विपरीतार्थदर्शनम् ॥ ११ ॥ आसादितमिदं घोरं

और दूसरे लोगोंका भी नाश होगा ॥ ५ ॥ तुम्हारे पुत्र दुर्योधन को, भीष्म द्रोणाचार्य और विदुरने समझाया था तब भी मूर्ख, निर्लज्ज दुर्योधनने पांडवों की प्रियपत्नी धर्मचारिणी द्रौपदीको पकड़ कर सभामें ले आनेकी आज्ञा देकर सूतपुत्र प्रातिकामीको भेजा ॥ ६ ॥ ७ ॥ परन्तु इसमें दुर्योधनका कुछ भी दोष नहीं है, उसके प्रारब्धका ही दोष है, देवता जिस पुरुषका अशुभ करना चाहते हैं उसकी बुद्धिका ही नाश करदेते हैं और बुद्धिहीन पुरुष सब बातोंको उलटी ही देखता है ॥ ८ ॥ जब बुद्धि मलिन हो जाती है और विनाश काल समीपमें ही आजाता है तब उसको अन्याय भी न्याय की समान ही मालूम होता है और वह हृदयमें से हटता ही नहीं ॥९॥ इसकारण वह मनुष्य अनर्थोंको अर्थरूप और अर्थों को अनर्थरूप देखता है और वही उसको अच्छा लगता है ॥१०॥काल कहीं डंडा मारकर किसीके मस्तकको थोड़े ही फोड़ता है,किन्तु जिसका शिर तोड़ना चाहता है उसको अच्छी बात बुरी दीखनेलगती हैं यही कालका बल है॥११॥तुम्हारे पुत्रोंने तपस्विनी अयोनिजा, रूपवती और अग्निकुलमें उत्पन्न हुई द्रौपदीको घोर

तुमुलं लोमहर्षणम् । पाञ्चालीमपकर्षद्भिः सभामध्ये तपस्विनीम्
॥ १२ ॥ अयोनिजां रूपवतीं कुले जातां विभावसोः । को नु तां
सर्वधर्मज्ञां परिभूय यशस्विनीम् ॥ १३ ॥ पर्य्यानयेत् सभामध्ये
विना दुर्द्यूतदेविनम् । स्त्रीधर्मिणी वरारोहा शोणितेन परिप्लुता
॥ १४ ॥ एकवस्त्राथपाञ्चाली पाण्डवानभ्यवैक्षत । हृतस्वान् हृत
राज्यांश्च हृतवस्त्रान् हृतश्रियः ॥ १५ ॥ विहीनान् सर्वकामेभ्यो
दासभावमुपागतान् । धर्मपाशपरिक्षिप्तानशक्तानिव विक्रमे ॥१६॥
क्रुद्धां चानर्हतीं कृष्णां दुःखितां कुरुसंसदि । दुर्य्योधनश्च कर्णश्च
कटुकान्यभ्यभाषताम् ॥ १७ ॥ इति सर्वमिदं राजन्नाकुलं प्रति-
भाति मे । धृतराष्ट्र उवाच । तस्याः कृपणचक्षुर्भ्यां प्रदह्येतापि
मेदिनी ॥ १८ ॥ अपि शेषं भवेदद्य पुत्राणां मम सञ्जय । भर-

सभामें घसीट लाकर रोमाञ्च खड़े करने वाले घोर युद्धको निमं-
त्रण देदिया है सकल धर्मोंको जाननेवाली यशस्विनी द्रौपदीका
अपमान करके दुष्ट द्यूतको खेलनेवाले दुर्योधनके सिवाय दूसरा
कौन उसको घसीटकर बीच सभामें लासकता था ? स्त्रियोंके धर्म
पर श्रद्धा रखनेवाली सुन्दराङ्गी रुधिर से सने एक वस्त्रको धारण
करने वाली रजस्वला द्रौपदीने पाडवोंकी ओरको दृष्टि करी तो
उस समय उनको धनहीन राज्यरहित वस्त्रहीन, तेजरहित, सकल
कामनाओंसे शून्य दासभावको प्राप्त हुए और धर्मपाशमें बँधे होने
के कारण पराक्रम दिखानेमें भी असमर्थ देखा ॥ १२—१६ ॥
पाण्डवोंकी ऐसी दशाको देखकर दुःखको सहनेके अयोग्य दुःखिनी
द्रौपदीको क्रोध आगया, उसको दुर्योधन और दुःशासनने कौरवों
की भरी, सभामें कटुवचन कहे ॥ १७ ॥ हे राजन ! यह सब बातें
मुझे अनर्थ की मूल मालूम होती है यह सुनकर धृतराष्ट्रने कहा
कि—हे सञ्जय ! द्रौपदीकी दुःखभरी दृष्टि पड़ते ही पृथिवी भी
जल कर भस्म होसकती है तो फिर मेरे पुत्रोंकी तो बात ही क्या
है ? ॥ १८ ॥ हे सञ्जय ! न जाने अब मेरे पुत्रोंमेंसे एक भी

तानां स्त्रियः सर्वा गान्धार्या सह सङ्गताः ॥ १९ ॥ आक्रोशन् भैरवं तत्र दृष्ट्वा कृष्णां सभागताम् । धर्मिष्ठां धर्मपत्नीं च रूपयौवनशालिनीम् ॥२०॥ प्रजाभिः सह सङ्गम्य ह्यनुशोचन्ति नित्यशः । अग्निहोत्राणि सायाह्ने न चाहूयन्त सर्वशः ॥ २१ ॥ ब्राह्मणाः कुपिताश्चासन् द्रौपद्याः परिकर्षणे । आसीन्निष्टानको घोरो निर्घातश्च महानभूत् ॥ २२ ॥ दिव उल्का पतंतश्च राहुश्चार्कमुपाग्रसत् । अपर्वणि महाघोरं प्रजानां जनयन् भयम् ॥ २३ ॥ तथैव रथशालासु प्रादुरासीद्धुताशनः । ध्वजाश्चापि व्यशीर्य्यन्त भरतानामभूतये ॥ २४ ॥ दुर्योधनस्याग्निहोत्रे प्राक्रोशन् भैरवं शिवाः । तास्तदा प्रत्यभाषन्त रासभाः सर्वतो दिशः ॥ २५ ॥ प्रातिष्ठत ततो

बचेगा या नहीं ! रूप-यौवनवती धार्मिका, पाण्डवोंकी धर्मपत्नी-द्रौपदीको सभामें घसीटकर लायागया है यह बात सुनकर भरतवंशी राजाओं की सब स्त्रियें गान्धारीके साथ इकट्ठी होकर भयानकरूपसे डकरा २ कर रोने लगीं ॥ १९ ॥ २० ॥ और द्रौपदी के वस्त्रोंको भरी सभामें खेंचनेसे ब्राह्मण भी कोपमें भरगए वह सायंकालको होम नहीं करते किन्तु नगरकी प्रजाके साथ इकट्ठे होकर नित्य इस बातका ही शोक किया करते हैं जब बीचसभामें द्रौपदीके वस्त्र खींचे गए उस समय बड़े जोरसे पवन चलने लगा वज्रपातके शब्द होने लगे ॥ २१—२२ ॥ आकाशमेंसे उल्कापात होने लगा अमावास्या के विना ही राहुने सूर्यको ग्रसलिया जिस से प्रजाको बड़ा भय मालूम हुआ ॥ २३ ॥ रथशालामें आग लग गई और भरतवंशियोंका अशुभ करनेके लिये मन्दिरोंके ऊपरसे भंडे भटाभट गिरने लगे यह भरतवंशियोंके लिये खोटे शकुन हुए ॥ २४ ॥ दुर्योधनके अग्निहोत्रके समीप गीदड़ियें भयानक शब्द करने लगीं उस समय गधे चारों ओरसे रेंककर गीदड़ियों को उत्तर देनेलगे ॥ २५ ॥ हे सञ्जय ! ऐसे अपशकुनोंको देख-

भीष्मो द्रोणेन सह सञ्जय । कृपश्च सोमदत्तश्च बाह्लीकश्च महामना
॥२६॥ ततोऽहमब्रुवं तत्र विदुरेण प्रचोदितः । वरं ददानि कृष्णायै
काङ्क्षितं यद्यदिच्छसि॥२७॥अवृणोत्तत्र पाञ्चाली पाण्डवानामदास-
ताम् । सरथान् सधनुष्कांश्चाप्यनुज्ञासिषमप्यहम् ॥२८॥ अथा-
ब्रवीन्महाप्राज्ञो विदुरः सर्वधर्मवित् । एतदन्तास्तु भरता यद्वः
कृष्णा सभां गता ॥ २९ ॥ यैषा पाञ्चालराजस्य सुता सा श्रीरनु
त्तमा । पाञ्चाली पाण्डवानेतान्दैवसृष्टोपसर्पति ॥ ३० ॥ तस्याः
पार्थाः परिक्लेशं न क्षस्यन्ते ह्यमर्षणाः । वृष्णयो वा महेष्वासा
पाञ्चाला वा महारथाः ॥ ३१ ॥ तेन सत्याभिसन्धेन वासुदेवेन
रक्षिताः । आगमिष्यति बीभत्सुः पाञ्चालैः परिवारितः ॥३२॥तेषां

कर भीष्म कृपाचार्य सोमदत्त और उदारचित्त राजा बाह्लीक द्रोणा
चार्यके साथ सभामें से उठकर चलेगये ॥ २६ ॥ तब विदुर की
संमति से मैंने कहा, कि—द्रौपदीको जो कुछ वर माँगनेकी इच्छा
हो वह मुझसे माँगलेय मैं उसकी इच्छानुसार वर दूंगा ॥२७॥
यह सुनकर द्रौपदीने मुझसे माँगा, कि-पाण्डवों को दासभाव
से छोड़कर रथ और धनुषों सहित इन्द्रप्रस्थ में जानेकी आज्ञा
दीजिये इस पर मैंने भी रथ और धनुषों सहित उनको राज्यमें
जानेकी आज्ञा दी । २८ ॥ यह सब सुनकर परमबुद्धिमान् और
सकल धर्मों के ज्ञाता विदुरने कहा, कि तुम्हारी सभामें द्रौपदी
को घसीटकर लाया गया था, इससे भरतवंशका नाश होजायगा
॥ २९ ॥ यह जो पाञ्चालराजकी पुत्री है यह दैवकी उत्पन्नकी
हुई एक अनुपम लक्ष्मी है और पाण्डवोंके पीछे २ रहती है ॥३०॥
उस द्रौपदीके महान् क्लेशको असहिष्णु पाण्डव महाधनुर्धारी
वृष्णी और महारथी पाञ्चाल नहीं सहेंगे, क्योंकि—इन सबोंकी
सत्यप्रतिज्ञ श्रीकृष्णजी रक्षा करते हैं. इसकारण अर्जुन पाञ्चाल
राजाओंसे मिलकर तुम्हारे ऊपर चढ़ाई करके आवेगा॥३१-३२॥

भ्राते महेष्वासो भीमसेनो महाबलः । आगमिष्यति धुन्वानो गदां दण्डमिवान्तकः ॥ ३३ ॥ ततो गाण्डीवनिर्घोषं श्रुत्वा पार्थस्य धीमतः । गदावेगञ्च भीमस्य नालं सोढुं नराधिपाः ॥ ३४ ॥ तत्र मे रोचते नित्यं पार्थैः सार्द्धं न विग्रहः । कुरुभ्यो हि सदा मन्ये पाण्डवान् बलवत्तरान् ॥३५॥ तथाहि बलवान् राजा जरासन्धो महाद्युतिः । बाहुप्रहरणेनैव भीमेन निहतो युधि ॥ ३६ ॥ तस्य ते शम एवास्तु पाण्डवैर्भरतर्षभ । उभयोः पक्षयोर्युक्तं क्रियतामविशङ्कया ॥ ३७ ॥ एवं कृते महाराज परं श्रेयस्त्वमाप्स्यसि । एवं गावल्गणे क्षत्ता धर्मार्थसहितं वचः ॥३८॥ उक्तवान् न गृहीतं वै

उनके बीचमें परमबली और महाधनुर्धारी भीमसेन दण्ड को घुमानेवाले कालकी समान अपनी बड़ीभारी गदाको घुमाता हुआ चढ़ाई करेगा ॥३३॥ उस समय बुद्धिमान् अर्जुनके गांडीव धनुषकी टङ्कारके शब्दको सुनकर और भीमसेनकी गदाके वेगको देखकर राजे उसको सह नहीं सकेंगे ॥ ३४ ॥ इसलिये मुझे तो पांडवोंके साथ नित्य मेल रखना ही ठीक मालूम होता है कलह करना उचित नहीं है क्योंकि—मैं नित्य पाण्डवोंको कौरवोंसे अधिक बली मानता हूं ॥ ३५॥ और ऐसा माननेका कारण यह है, कि—राजा जरासन्ध बड़ा प्रतापी और बलवान् था, परन्तु भीमसेनने उसको युद्धमें अपने बाहुरूपी शस्त्रसे ही मारडाला ॥ ३६ ॥ इसकारण हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजन् ! तुम पांडवोंके साथ संधि और मेलसे वर्त्ताव करो और जिसमें दोनों ओरका भला हो उस कामको ही निःशङ्क होकर करो ॥ ३७ ॥ ऐसा करने से हे महाराज ! तुम्हारा परम कल्याण होगा, इसप्रकार हे सञ्जय ! मुझसे विदुरने धर्म और अर्थभरी हितकारी बात कही परन्तु अपने पुत्रका प्रिय करनेकी इच्छासे मैंने

मया पुत्रहितैषिणा ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वण्यनुद्यूतपर्वणि धृतराष्ट्रचिन्तायामशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥ समाप्तश्चानुद्यूतपर्व

विदुरका कहना नहीं माना ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ * ॥

॥ अशीतितमअध्याय समाप्त ॥ ८० ॥

श्रीमहाभारतका सभापर्व, मुरादाबादनिवासी भारद्वाजगोत्र गौड़वंश्य पण्डित भोलानाथात्मज ऋषिकुमार रामस्वरूप शर्मा द्वारा सम्पादित हिंदी भाषानुवाद सहित समाप्त

इति सभापर्व समाप्त



मिलनेका पता—

पण्डित रामस्वरूप शर्मा

सनातनधर्म प्रेस मुरादाबाद.